ISSN : 2319-7137

Volume : 14/Issue : 01
July to December-2021

INTERNATIONAL
LITERARY QUEST

An International Multidisciplinary Peer Reviewed Refereed Research Journal

Editor in Chief
Prof. Ashok Singh

Editor
Dr. Vikash Kumar
Dr. Surendra Pandey

©सम्पादक

प्रधान सम्पादक
प्रो0 अशोक सिंह (कुलपति, संत गहिरा गुरु विश्वविद्यालय, सरगुजा, अम्बिकापुर, छत्तीसगढ़)
सम्पादक
डॉ0 विकास कुमार (असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, श्री वार्ष्णेय महाविद्यालय, अलीगढ़, उत्तर प्रदेश)
डॉ0 सुरेन्द्र पाण्डेय (असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, कूबा पी0जी0 कॉलेज, दरियापुर, नेवादा, आजमगढ़)
उप सम्पादक
डॉ0 नलिनी माथुर (एसोसिएट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, भगिनी निवेदिता कालेज दिल्ली विश्वविद्यालय)
डॉ0 विनय कुमार शुक्ल (असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभागाध्यक्ष, रामानुजप्रतापसिंह देवशासकीय स्ना.महा.,बैकुण्ठपुर,कोरिया,छ.ग.)
सुनील कुमार सिंह (असिस्टेंट प्रोफेसर, विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, अर्मापुर स्ना. महाविद्यालय, कानपुर)
कार्यकारी सम्पादक
डॉ0 सच्चिदानन्द चौबे (एसोसिएट प्रोफेसर, अध्यक्ष, इतिहास विभाग, सिद्धार्थ विश्वविद्यालय, कपिलवस्तु, सिद्धार्थनगर, उ.प्र.)
डॉ0 अरूण कुमार मिश्रा (असिस्टेन्ट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, मुनीश्वरदत्त स्नातकोत्तर महाविद्यालय, प्रतापगढ़, उ.प्र.)
मोहम्मद आदिल (असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, भवन्स मेहता पी.जी. कालेज, कौशाम्बी, उ.प्र.)
सह सम्पादक
डॉ0 वर्षा सिंह (एसोसिएट प्रोफेसर, अंग्रेजी विभाग, देशबंधु कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय)
डॉ0 सुदर्शन चक्रधारी (पूर्व शोध छात्र, प्रा.भा.इ. सं. पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)
डॉ0 अजीत कुमार राय (गाजीपुर)
प्रबन्ध सम्पादक
डॉ0 रविशंकर पाण्डेय (अतिथि प्रवक्ता, मध्यकालीन एवं आधुनिक इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज, उ.प्र.)
डॉ0 रिपुंजय कुमार सिंह (पूर्व शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)
राणा अवद्यूत कुमार (शोध छात्र, भोजपुरी अध्ययन केन्द्र, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)
विधि परामर्शदाता
डॉ0 रणजीत सिंह चौहान
अधिवक्ता, सर्वोच्च न्यायालय
ISSN : 2319-7137
मूल्य : रु0 250.00

सम्पादकीय पता
डॉ0 विकास कुमार
सिविल लाइन, तकिया रोड,
सासाराम, रोहतास (बिहार)
ई-मेल : internationalliteraryquest@gmail.com
मो0 : 09470828492, 9934468661
वेबसाइट- www.internationalliteraryquest.com

डॉ0 सुरेन्द्र पाण्डेय
एस.एन. 14/191, सरायनन्दन, खोजवाँ,
वाराणसी, उ0प्र0, मो0नं0 09451173404, 7705040045
Email: surendrpanday@gmail.com

मुद्रक :
राजैरिया ऑफसेट
जगतपुरी, दिल्ली-110093

नोट : सभी पद अवैतनिक एवं अव्यावसायिक हैं। प्रकाशित लेखों एवं उद्धरणों का दायित्व स्वयं लेखकों का है। लेखों एवं उद्धरणों से सम्बन्धित किसी भी वाद-विवाद के लिए लेखक स्वयं जिम्मेदार होगा।

संपादक मण्डल

प्रो0 अनीता सिंह
अंग्रेजी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रो0 रवीन्द्रनाथ सिंह
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ0 प्रभाकर सिंह
हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ0 एस0 आर0 जयश्री
महात्मा गांधी कॉलेज, तिरुवन्तपुरम्, केरल

प्रो0 बी0 गनेशन
बैंगलोर विश्वविद्यालय, कर्नाटक

डॉ0 मिकी निशिओका
एसो0प्रो0 रिसर्च डिवीजन ऑफ एशियन, लैंग्वेजेज एण्ड कल्चर III रिसर्च इंस्टिच्यूट ऑफ वर्ल्ड लैंग्वेजेज, ओसाका यूनिवर्सिटी, जापान

प्रो0 कीम उ जो
भारतीय अध्ययन विभाग, हाइकू यूनिवर्सिटी, दक्षिण कोरिया

प्रो0 आरिफ नजीर
हिन्दी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी

डॉ0 सुनीता सिंह
शिक्षा संकाय, ली0 मोयने कॉलेज, सायराक्यूस, न्यूयार्क, अमेरिका

डॉ0 मृत्युंजय सिंह
एसो0 प्रो0, हिन्दी विभाग, एस0पी0 जैन कॉलेज, सासाराम, बिहार

डॉ0 रमेश कुमार
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, श्री वार्ष्णेय महाविद्यालय, अलीगढ़

डॉ0 सावित्री सिंह
संस्कृत विभाग, महिला महाविद्यालय, सासाराम, रोहतास, बिहार

डॉ0 दिग्विजय सिंह
हिन्दी विभाग, के0डी0बी0 डिग्री कॉलेज, दुबहर, बलिया

डॉ0 प्रिया सिंह
राजनीतिशास्त्र विभाग, गुलाब देवी महिला, पी0जी0 कॉलेज, बलिया

डॉ0 राजकुमार उपाध्याय मणि
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, हिमाचल प्रदेश केन्द्रीय विश्वविद्यालय, धर्मशाला

डॉ0 आशुतोष कुमार सिंह
एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, प्रो. रज्जू सिंह उर्फ रज्जू भैया विश्वविद्यालय, प्रयागराज, उ.प्र.

डॉ0 विकास कुमार सिंह
असि0 प्रो0, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ0 देवेन्द्र प्रताप सिंह
प्राचार्य, कूबा पी0जी0 कालेज, दरियापुर, नेवादा, आजमगढ़

डॉ0 सपना भूषण
असि0 प्रो0, हिन्दी विभाग, वसन्त कन्या महाविद्यालय, कमच्छा, वाराणसी

श्री राकेश कुमार
असिस्टेन्ट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, श्री वार्ष्णेय महाविद्यालय, अलीगढ़

डॉ0 रितु वार्ष्णेय गुप्ता
असि0 प्रो0, हिन्दी विभाग, किरोरीमल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

अनुक्रम

1.	निराला का साहित्यिक अतं : संघर्ष **डॉ0 सुनील कुमार दुबे**	**9-11**
2.	आधुनिक शिक्षा में सृजनशीलता एवं नवीनता : (डॉ0 ए0पी0जे0 अब्दुल कलाम के विचारों के आलोक में) **संजय कुमार दुबे**	**12-18**
3.	**भारत में समाजशास्त्रीय विश्लेषण के उपागम** ***पंकज कुमार सिंह***	**19-25**
4.	कृष्णा सोबती का रचना संसार **डॉ0 नयना**	**26-29**
5.	**''मनीषा कुलश्रेष्ठ के स्वप्नपाश में नारी अस्मिता''** **डॉ0 अरुण कुमार मिश्र**	**30-33**
6.	भारत में संस्कृत का अतीत, वर्तमान और भविष्य **डॉ0 अजित कुमार जैन**	**34-36**
7.	लोकतन्त्र से ही तानाशाही जन्मती है!!! भारतीय संविधान : क्षेत्रीय राजनीति **डॉ. रोहताश जमदग्नि**	**37-41**

8.	International Terrorism: Causes and Concerns **Nisha Singh**	**42-48**
9.	Comparative Analysis of Selected Public and Private Sector Banks **Sakshi Agarwal**	**49-56**
10.	आयाम एवं चुनौतियों के मध्य बदलते परिवेष में सामाजिक न्याय एवं विधिक संस्थान **डॉ0 सीमा यादव**	**57-60**
11.	समकालीन सामाजिक–आर्थिक परिदृश्य में नारी सशक्तिकरण की समस्यायें **शैलेन्द्र प्रताप रघुवंशी**	**61-66**
12.	दलित से जुड़े प्रश्नों से जूझता समाज **डॉ0 ममता**	**67-72**
13.	**वैदिक कर्मकांड का विश्लेषण और अध्ययन** **अखिलेश कुमार**	**73-77**
14.	भारतीय संस्कृति : वर्तमान पर्यावरणीय समस्याओं का समाधान **शुभम कुमार**	**78-83**
15.	मध्यकालीन सूफी काव्य में भारतीय स्त्री **डॉ0 निर्मला कुमारी**	**84-90**

16.	लोक दर्शन की अवधारणा **विजय नारायण दूबे**	**91-94**
17.	कालाधीनं जगत् सर्वम् **डॉ0 अजित कुमार जैन**	**95-97**
18.	सूचना प्रौद्योगिकी और हिन्दी **डॉ0 निर्मला कुमारी**	**98-102**
19.	'Effects of Cooperative Teaching & Learning Techniques on Language Achievements in Small Groups' **Dr. Shashi Bala Trivedi**	**103-109**
20.	रामदरश मिश्र की उपन्यासों की प्रासंगिकता **डॉ0 देवेन्द्र प्रताप सिंह**	**110-117**
21.	Contribution of Adivasis to Indian Culture and Tradition **Dr. Onkar Nath Dwivedi**	**118-126**
22.	मार्कण्डेय के कथा साहित्य का भाषा एवं शिल्प सौन्दर्य **राजेश कुमार यादव**	**127-131**
23.	उत्तर–आधुनिकता और भारत (हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में) **डॉ0 वेदवती राठी**	**132-136**
24.	**गद्दी कौन हैं** (हिमाचल प्रदेश की गद्दी जनजाति के सन्दर्भ में) भरत सिंह	**137-145**

25.	''उद्यमिता व उसकी आर्थिक विकास में भूमिका'' **डा0 सुधा राजपूत**	**146-148**
26.	Performance of women self-help group in Bihar **Neelam Kumari**	**149-152**
27.	**हिन्दी पत्रकारिता में 'सरस्वती' और आचार्य द्विवेदी का प्रदेय** @ प्रो. अशोक सिंह * डॉ. राजकुमार उपाध्याय 'मणि'	**153-159**
28.	शिक्षाशास्त्री के रूप में डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी **ऋतु कोहली**	**160-164**
29.	प्रेमचंद की स्वराज्य संबंधी परिकल्पना **डॉ0 धर्मेन्द्र कुमार अग्रहरि**	**165-170**
30.	मनीषा कुलश्रेष्ठ के कथा साहित्य में नारी अस्मिता : संदर्भ और परिवेश **सर्वेश कुमार**	**171-177**
31.	एक स्त्री के मानसिक तनाव और संघर्ष की गाथा 'पचपन खम्भे लाल दीवारे' **सिन्दू यादव**	**178-181**

32.	Indian IFSC: Long Road Ahead **Manuj Joshi**	**182-185**
33.	Creating global economic recovery and growth after COVID-19 **Dr. ARVIND KUMAR GARG**	**186-191**
34.	चित्रा मुद्गल के कथा–साहित्य में नगरीय नियंत्रण **सुमन कुमारी**	**192-197**
35.	मृणाल पाण्डे का साहित्य और प्रेमभावना **डॉ0 विकास कुमार**	**198-204**
36.	नयी कविता का अर्थ और उसका काल **डॉ0 सुरेन्द्र पाण्डेय**	**205-208**
37.	स्त्री मुक्ति आंदोलन की अवधारणा : संदर्भ नासिरा शर्मा **नितिका सिंह**	**209-211**

❖

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

निराला का साहित्यिक अतं : संघर्ष

डॉ0 सुनील कुमार दुबे
असिस्टेंट प्रोफेसर,
प्रो0 महावीर प्रसाद त्रिपाठी महाविद्यालय,
विजयपुर, मिर्जापुर

महाकवि निराला ने जिस मुक्त छन्द, और दार्शनिक ओजस्विता के साथ हिन्दी साहित्य में प्रवेश किया वह हिन्दी जगत के लिए सर्वथा नवीन था। उनकी काव्य रचना के नूतन ढाँचे के कारण ही उनका सहानुभूति पूर्ण अध्ययन नहीं हुआ। यो तो सभी छायावादी कवियों का विरोध हुआ परन्तु निराला को स्वस्थापना के लिए अधिक समय तक विरोधों का सामना करना पड़ा है।

कवि निराला की प्रथम रचना जुही की कली वापस कर दी गयी ं आज इसी रचना का कितना महात्म्य हैं ,इस बात से निराला साहित्य के प्रेमी अनभिज्ञ नहीं हैं। गंगा प्रसाद पाण्डेय ने तो लिख ही दिया हैं कि–

यदि इस कविता को छायावाद युग की विजय का महाराग कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी। निराला की इस कविता में नए युग में महाजागरण की भैरवी गुंज उठी तो इसमें आश्चर्य की कांई बात नहीं।[1]

इसी प्रकार से सन् 1935 में भी एक प्रतिष्ठित पत्रिका ने भी सुमित्रानन्दन पंत के उपर लिखित निराला जी का एक सुन्दर लेख वापस कर दिया। यह लेख अब उपलब्ध नहीं है। पं0 महावीर प्रसाद द्विवेदी पर भी उनका एक संस्मरणात्मक लेख विनाश के गर्भ में विलीन हो गया। इस प्रकार निराला के प्रारम्भिक रचनाकाल में उनकी रचनाएँ नष्ट हुई होगी। अपने प्रति संपादको के स्वभाव का उल्लेख कवि इस प्रकार करते हैं–

कवि जीवन में व्यर्थ ही व्यस्त,
लिखता अबाध गति मुक्त छन्द,
पर सम्पादकगण निरानन्द
वापस कर देते पढ़ सत्वर
दे एक पंक्ति दो में उत्तर।[2]

कवि निराला को कितनी यातनाएँ झेलनी पड़ी होगी। शुरु में कवि विक्षुब्ध अवश्य हुए होंगे ,उनके उत्साह को धक्का अवश्य लगा होगा इसीलिए सरोज–स्मृति में ही वे आगे इस प्रकार कहते हैं–

लौटी रचना लेकर उदास
ताकता हुआ मैं दिशाकाश
बैठा प्रान्तर में दीर्घ प्रहर
व्यतीत करता था, गुन–गुन कर
सम्पादक के गुण, यथाभ्यास
पास ही नोचना हुआ घास।[3]

सन् 1923 में मतवाला के निकलने पर ही निराला अपने और दूसरे नामों से कविता,कहानी ,लेख,आलोचना सब लिखने लगे। वे जीवन संग्राम में अकेले थे ही साहित्य साधन में भी कोई संगी नहीं। उस युग में सूक्ष्म की उपासना की वृत्ति को पलायन की भावना कहकर मजाक उड़ाने वाले अनेक आलोचक थे। उन सभी आलोचकों की दृष्टि में छायावादी रचनाओं में व्यापकता एवं गहराई का अभाव हैं। स्वयं कवि ने इन आक्षेपों के प्रति आवाज उठाई हैं अथवा सभ्य भाषा में व्यंग्य भी किया है। इंदौर में महातमा गाँधी जी के कहने पर कि कौन है हिन्दी में रविन्द्रनाथ ठाकुर? फिर लखनऊ कांग्रेस में महात्मा जी से मिलकर निराला का यह कहना कि– हिन्दी में कोई महान् कवि नहीं ,यह कहने से पूर्व आप निराला को तो पढ़कर समझ लेते।

आलोचकों का मुंह बन्द करने के लिए उन्हीं के गढ़ में घुसकर मार–काट मचाने की नीति भी निराला ने अपनाईं। आलोचक कहते थे, तुम्हें भाषा लिखना नहीं आता ,तुम्हें छन्दों का ज्ञान नहीं तुम्हारे भाव उधार लिए ओर शब्द निरर्थक हैं। निराला नें कहा ,पहले तुम्हारे साहित्य की बानगी देखी जाय। तुम लोग हिन्दी के बड़े– बड़े संपादक हो देखें ,किस तरीके की भाषा लिखना सिखाते हों। इस संघर्ष के लिए मतवाल का चाबुक काम में आया। शारदा में प्रकाशित एक कविता की आलोचना करते हुए कवि कहता हैं–

आजकल के तुक्कड़ तो बस अनुप्रास की पूँछ पकड़कर कविता–वैतरणी पार होते हैं, भाषा और भावों के संगठन पर चाहे पत्थर ही पड़े।

कवि निराला ने कहा–

तुकबंदी के लिए तुम्हें हम धन्यवाद देते किराज।

किन्तु प्रार्थना, कविजी रखना, भाषा भावों की भी लाज।

कवि निराला की यह धारण थी कि राष्ट्रपति को यदि राष्ट्रपति होने का गर्व है तो साहित्यकार को साहित्यकार का गौरवशाली स्थान प्राप्त हैं। कुकुरमुत्ता इसी भाव को पुष्ट करता हैं कि गुलाब नेताओं के झूठे अभिमान का प्रतीक हैं किन्तु साहित्यकार स्वतः निर्मित होता हैं।

साहित्य रचना अपने आप में एक कठिन साधना हैं ,उस पर जीवित आजीवन रहने के लिए भी कवि को शोधते रहना पड़ा ,यही उन के निरालेपन को अधिक उजागर करता है। सुकुल की बीवी में कवि लिखते है कि– **अपना नंगा बदन याद आया ,ढकता,कोई कपड़ा नहीं था। कल्पना में सजने लिए तरह–तरह के सूट याद आये, पर वास्तव में दो मैले कुर्ते थे। बड़ा गुस्सा आया प्रकाशकों पर। कहाँ, नीच हैं लेखकों की कद्र नहीं करतें।**[4]

निराला की धमनियों में क्रान्ति का रक्त प्रवाहित था जो हारना नहीं जानता। कुछ क्षण कें लिए वे थम अवश्य जाते है। महाकवि की प्रतिज्ञा थी– न दैन्यं न पलायनम्। जीवन पर्यन्त उन्होंने किसी के सामने दैन्य प्रकट नहीं किया– न आलोचकों के सामने, न संपादकों के सामने, न प्रकाशकों के सामने और न ही अधिकारियों के सामने वे अपनी सशक्त प्रतिभा के यान पर आरुढ़ होकर विरोधियों की समस्त बौछारों को सहते हुए अव्याहत गति से आगे बढ़ते गये। नये पत्ते के दो शब्द के अन्तर्गत उनके आत्मज का यह कथन है– **कुछ प्रकाशकों ने उनकी कृतियों के प्रकाशन में जिस दरिद्रता का परिचय प्रस्तुत किया था वह महाप्राण के व्यक्तित्व के अनुरुप नहीं था। अनेक कृतियों के प्रकाशकों नें पुनर्मुद्रण की भी व्यवस्था नहीं की तथा प्रचार–प्रचार के कार्य को भी स्थगित कर रखा। ऐसी**

परिथितियों में यह आवश्यक था कि महाप्राण के देहावसान वे पश्चात् मैं इन त्रुटियों कों अपनी दृष्टि में रखकर कुछ कार्य करुं ताकि मेरे दायित्वों के प्रति कोई भी हिन्दी प्रेमी उंगली न उठा सके।[5]

महाप्राण निराला को अनेक प्रकार के संघर्षो का सामना करना पड़ा। हिन्दी के विद्वान समीक्षकों ने भी इन पर आरम्भ में सहानुभूतिपूर्ण विचार नहीं किया। लम्बे समय तक लोंगों की इनकी नवीन मुक्त छन्द शैली असह्य रही। लेकिन अपनी सशक्त साधना से वे साहित्य जगत में अडिग रुप में प्रतिष्ठित हैं।

सन्दर्भ–सूची :

1. महाप्राण निराला– गंगा प्रसाद पाण्डेय, पृ0 63
2. अपरा 'सरोज स्मृति', पृ0 148
3. अपरा 'सरोज स्मृति', पृ0 148
4. सुकुल की बीबी, तृतीय संस्करण, पृ0 70
5. नये पत्तें 'दो शब्द'

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

आधुनिक शिक्षा में सृजनशीलता एवं नवीनता : (डॉ0 ए0पी0जे0 अब्दुल कलाम के विचारों के आलोक में)

संजय कुमार दुबे
असिस्टेंट प्रोफेसर (शिक्षाशास्त्र)
एम. डी. पी. जी. कॉलेज प्रतापगढ़
सम्बद्ध – प्रो0 राजेन्द्र सिंह(रज्जू भैया) वि0वि0 प्रयागराज

आधुनिक भारत के 'मिसाइल मैन ऑफ इण्डिया' के उपनाम से विभूषित, भारत गणराज्य के पूर्व यशस्वी राष्ट्रपति, कुशल वैज्ञानिक एवं एक उत्कृष्ट शिक्षक डॉ0 ए0 पी0 जे अब्दुल कलाम के जीवन जीने के महत्वपूर्ण सूत्र एवं उनका उत्कृष्ट शैक्षिक दर्शन आधुनिक शिक्षा प्रणाली के सम्यक विकास में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। एक निर्धन परिवार में जन्में डा0 कलाम का जीवन वृत्त व विचार आज के परिप्रेक्ष्य में अत्यधिक प्रासंगिक हैं। किस प्रकार एक साधारण मनुष्य संघर्षों के प्रस्तरखण्ड को बेधता हुआ सफलता के स्वार्णिम शिखर तक पहुँच जाता है, इसका जीता जागता प्रमाण डा0 अव्दुल कलाम के जीवन से बढ़कर और क्या हो सकता है ? मनुष्य जब कुछ करने की ठान लेता है तो बड़ी – बड़ी बाधायें भी उसे मार्ग प्रदान करने के लिए विवश हो जाया करती है। ऐसे व्यक्ति जनमानस के स्मृतिपटल पर सदैव के लिए अंकित हो जाया करते है और इतिहास में उनका नाम स्वर्णाक्षरों में अकिंत हो जाता है।

डा0 कलाम के शब्दों में –

> "किस रूप में याद रखे जाने की आपकी आकांक्षा है ? आपको अपने को विकसित करना होगा और जीवन को एक आकार देना होगा। आपकी आकांक्षा को, अपने सपने को , एक पृष्ठ पर शब्द बद्ध कीजिए। यह मानव इतिहास का एक बहुत महत्वपूर्ण पृष्ठ हो सकता है। राष्ट्र के इतिहास में एक नया पृष्ठ जोड़ने के लिए आपको याद रखा जायेगा भले वह पृष्ठ ज्ञान–विकास का हो, परिवर्तन का या खोज का हो, या फिर अन्याय के विरूद्ध संघर्ष का।"
>
> – 'अदम्य साहस' से उद्धृत

मानवीय तथा राष्ट्रीय मुद्दों से जुड़े ये क्रान्तिकारी विचार कर्मपथ पर आगे बढ़ने की प्रेरणा जगाते है तथा गहन चिन्तन की छाप छोड़ते हैं। चिन्तन ही प्रगति है। चिन्तन से रहित होना किसी व्यक्ति, संस्था और देश के लिए विनाशकारी होता है चिन्तन व विचार से जीवन में सक्रियता आती है। सक्रियता से ही सृजनशीलता का उदगम होता है। प्रस्तुत लेख में डा0 कलाम द्वारा प्रतिपादित आधुनिक शिक्षा में सृजनशीलता व नवीनता प्रत्यय पर उनके ही जीवन दर्शन व शैक्षिक दर्शन के आलोक में गहन विमर्श करेंगे।

सृजनशीलता के मनोवैज्ञानिक आधार –

सर्व प्रथम हम सृजनशीलता क्या है ?, सृजनशीलता का विकास कैसे किया जा सकता है ? सृजनशील व्यक्तियों के लक्षण या गुण क्या है ? आदि मनोवैज्ञानिक आधारों की समीक्षा करेंगे।

सृजनात्मकता का अर्थ –

सृजनात्मकता का अर्थ मौलिक चिन्तन, नए प्रकार के साहचर्य, पुरानी समस्याओं के नवीन सुलझाव, नमनीयता तथा जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में एक नवीन दृष्टिकोण है।

सर्जनात्मकता अथवा सृजनशीलता शब्द अंग्रेजी के क्रियेटिविटी (Creativity) से बना है। जिसका अर्थ विधायकता, उत्पादन, या रचनात्मकता आदि होता है।

स्टेन के अनुसार –

"जब किसी कार्य का परिणाम नवीन हो, जो किसी समय में समूह द्वारा उपयोगी तथा मान्य हो, वह कार्य सृजनात्मकता या सृजनशीलता कहलाता है।"

– पी0 डी0 पाठकः शिक्षा मनोविज्ञान पेज – 488 सृजनशीलता की विशेषताओं को हम निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत प्रस्तुत कर सकते हैं।

1). सर्जनात्मकता मौलिक अथवा नवीन होती है।

2). सृजनात्मक कार्य उपयोगी होना चाहिए।

3). सर्जनात्मक कार्य को समान रूप से मान्यता मिलनी चाहिए।

4). सर्जनात्मक कार्य में दो या अधिक वस्तुओं, तथ्यों आदि के संयोग से नवीनता का सृजन होना चाहिए।

सृजनशीलता अथवा सर्जनात्मकता में निम्न तत्व समाहित होते हैं।

- तात्कालिक स्थिति से परे जाने की योग्यता ।
- समस्या की पुनर्व्याख्या ।
- सामंजस्य
- अन्यों के विचारों में परिवर्तन

जो व्यक्ति वर्तमान परिस्थितियों से हटकर उससे आगे बढ़ने के विषय में चिन्तन करता है तथा उसे मूर्त रूप प्रदान करता है, उसमें सृजनशीलता पायी जाती है। सृजनशीलता का दूसरा तत्व समस्या की पुनर्व्याख्या है। जो व्यक्ति किसी समस्या की व्याख्या अपने ढ़ंग से करते हैं, उन्हें भी सृजनशील कहा जा सकता है। जैसे वकील, अध्यापक, व्याख्याता आदि। जो व्यक्ति असामान्य किन्तु प्रासंगिक विचार तथा तथ्यों के साथ समन्वय स्थापित करते हैं, वे भी सृजनशील कहलाते हैं। जो व्यक्ति तर्क, चिन्तन तथा प्रमाण द्वारा दूसरे व्यक्तियों के विचारों में परिवर्तन कर देते हैं, उन्हें भी सृजनशील कहा जा सकता है।

सृजनशीलता की पहचान (Identification of creativity) –

निम्न गुणों के आधार पर हम एक सृजनशील बालक की पहचान कर सकते है –

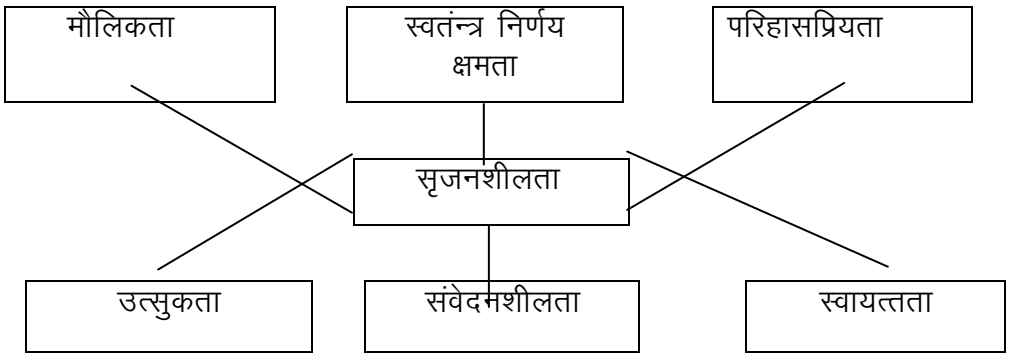

शिक्षकों को इस बात से परिचित होना चाहिए कि सृजनशील बालक स्वतंत्र निर्णय शक्ति वाले होते हैं। वे अपनी बात पर दृढ़ होते हैं, वे जटिल समस्याओं के समाधान में रूचि लेते हैं तथा उच्च स्तर की प्रतिक्रिया करते हैं। शिक्षक की भूमिका ऐसी होनी चाहिए कि वह विद्यार्थी को उसकी सृजनशीलता की अभिव्यक्ति हेतु उपयुक्त माध्यम प्रस्तुत कर सके।

क्रो एण्डक्रो के अनुसार –

"जैसे जैसे बालक में प्रतिबोध एवं संबोध का विकास होता जाता है, वह अपने वातावरण में परिवर्तन करना चाहता है, जबकि प्रौढ़ व्यक्ति परिस्थिति के अनुसार यथार्थ होता है। छोटा बालक अत्यधिक कल्पनाशील होता है। वह अपने खिलौनों को अलग ले जाता है और उनको दूसरे में ले जाता है। घटनाओं की पुनर्गणना में वह इतना व्यस्त हो जाता है कि उनको पहचानने में भी कठिनाई होने लगती है।"– पी0 डी0 पाठकः शिक्षा मनोविज्ञान, पे0 – 486

प्रत्येक शिक्षक का यह दायित्व है कि वह शिक्षा का आयोजन इस प्रकार से करे कि उनमें सृजनशीलता का विकास हो सके। हमारे देश के ग्यारहवें राष्ट्रपति डा0 ए0 पी0 जे0 अब्दुल कलाम शिक्षा में सृजनशीलता एवं नवीनता के पोषक थे। अब हम इस संप्रत्यय की विवेचना डा0 कलाम के विचारों के आलोक में प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

डा0 कलाम के अनुसार सृजनशीलता –

- **सृजनशीलता कुछ नया करने की प्रवृत्ति –**

डॉ0 कलाम के शब्दों में –

"कुछ नया खोज निकालने या पहले से मौजूद किसी चीज को नये ढ़ंग से पेश करने जैसे सृजनशीलता के बहुत से पहलू हैं। पहले से मौजूद विचारों में कुछ जोड़ या घटाकर, उनमें बदलाव लाकर या उनका नये ढ़ंग से प्रयोग करना सृजनशीलता से ही सम्भव होता है। नयेपन और बदलाव को स्वीकार करना, विचारों सम्भावनाओं से खेलना, नजरिये का लचीलापन, हर अच्छी चीज को और बेहतर बनाने के बारे में सोचते हुए काम को पूरी लगन से करते हुए धीरे–धीरे अपनी सोच के जारिये उसमें बदलाव और बेहतरी लाने का सिलसिला ही सृजनशीलता है। जो चीज दूसरों को जैसी नजर आती है उसे वैसे ही देखते हुए उसके बारे में अलग ढ़ंग से सोचना सृजनशीलता का अहम पहलू है।" – अदम्य साहस, पेज – 64–65

- **मन की सुन्दरता से सृजनशीलता –**

सुन्दर मन मस्तिष्क में ही सुन्दर विचारों की उत्पत्ति होती है। सुन्दर चिन्तन करना

मनुष्य का स्वभाव होना चाहिए। चिन्तन से रहित होना, किसी व्यक्ति, संस्था और देश के लिए विनाशकारी होता है। डा0 कलाम के शब्दो में –

"मन की सुन्दरता से सृजनशीलता पैदा होती है। किसी भी देश के किसी भी हिस्से में, कहीं भी मिल सकती है यह। मछुआरे की झोपड़ी, किसान के घर, दूधिये की डेयरी, मवेशियों के प्रजनन केन्द्र या फिर कक्षाओं प्रयोगशालाओं, उद्योगों, अनुसंधान तथा विकास केन्द्रों कहीं से भी शुरू हो सकता है सृजनशीलता का सिलसिला।" – अदम्य साहस पेज नं0 – 64

- **सृजनशीलता का प्रोत्साहन –**

शापन हावर के शब्दों मे –

"प्रत्येक मनुष्य जन्मजात दार्शनिक होता है।"

इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य में सृजनशीलता के बीज उसमें जन्म से ही विद्यमान होते है किन्तु उन्हे अंकुरित होने के लिए एक उचित समय तथा वातावरण की आवश्यकता होती है । हमें वह उचित पर्यावरण तथा वातावरण का निर्माण करना होगा, जिससे छात्रों में सृजनशीलता के अंकुर का प्रस्फुटन हो सके । हमें छात्रों को नये नये चिन्तन करने के अवसर प्रदान करने चाहिए जिससे उनमें सृजनशीलता का उद्‌गम हो सके । डा0 कलाम ने भी इन्हीं तथ्यों का समर्थन किया है। उनके शब्दों में –

"इसमें कोई शक नहीं कि हर इंसान के दिमाग में सृजनशीलता के बीज मौजूद होते हैं, किन्तु उन्हें अंकुरित और अभिव्यक्ति करने के लिए मन से प्रयास करना पड़ता है। हर एक इंसान सृजनशील है। हर मन में जिज्ञासा होती है और हमें चाहिए कि जब कोई बच्चा प्रश्न करे तो हम उसकी जिज्ञासा को जरूर शान्त करें। शिक्षकों और माता पिता की यह बुनियादी जिम्मेदारी है। यदि बचपन में ही ऐसी किया जाए, तो सृजनशीलता पोषित होगी और बच्चों का बौद्धिक विकास होगा। मन की सुन्दरता से ही सृजनशीलता पैदा होती है। सृजनशीलता विचारों को कलाकृति, कहानी, या कविता में बदल देती है।" – 'अदम्य साहस' पेज – 65

- **सृजनशीलता का पोषण –**

  हमें सृजनशील छात्रों की पहचान करके उनमें सृजनशीलता के गुण का पोषण करना होगा। उनके निष्कर्षों को गहन अध्ययन के बाद मान्यता प्रदान करनी होगी। इस सम्बन्ध में डा0 कलाम ने केरल के सुदूर ग्रामीण क्षेत्र के 'लवली जेन' नामक युवक का जिक्र किया है जिसने आर्थिक स्थिति खराब होने के कारण अपनी पढ़ाई बीच में ही छोड़ दी थी। उसने डा0 कलाम को पत्र लिखकर सूचित किया कि उसने गणित की एक नयी थियँरी की खोज की है और वह उनसे मिलना चाहता है। उसके पत्र से प्रभावित होकर डा0 कलाम ने उसे दिल्ली बुलाया और कुछ अन्य अनुसंधानकर्ताओं के साथ उसके कार्यों का निरीक्षण किया। डा0 कलाम अदम्य साहस नामक अपनी पुस्तक में लिखते है –

  "उसके काम को देखकर मै आश्चर्य से भर उठा। उसके निष्कर्ष रामानुजम की नंबर थियॅरी के समीकरण जैसे थे। किन्तु रामानुजम के समीकरणों की उसे पहले से जानकारी नहीं थी। उसकी खोज रामानुजम की थियरी से तो मिलती जुलती थी ही, साथ ही उसने इसमें कुछ नयी बातें भी जोड़ी थी। अतएव उसके निष्कर्ष में नयापन भी था। एक बड़ी सीमा तक गणित के क्षेत्र में खोज प्रकृति के मनोरम रहस्यों को देखने की ईच्छा का परिणाम होती है। इसी भावना से प्रेरित होकर प्राचीनकाल से खगोलविद् सितारों से भरे आकाश की घटनाओं में दिलचस्पी लेते रहे है। प्रकृति की घटनाओं को जानने की आकांक्षा मनुष्य में जन्मजात होती है, भले ही वह गणितीय श्रृंखला या अनुक्रमों के रूप में अभिव्यक्त हो। ऐसे उत्साही युवकों को हम कैसे प्रोत्साहित करें ? क्या हमारे शिक्षक, समाजसेवक अथवा सामाजिक कार्यकर्ता ऐसी युवा प्रतिभाओं की पहचान कर उनके विकास में मदद कर सकते हैं ?" – 'अदम्य साहस' पेज – 67–67

सृजनशीलता की कोई सीमा नहीं होती –

जिस प्रकार महापुरूषों का जीवन व कृतित्व देश काल व दुनिया की सीमाओं में बाँधा नहीं जा सकता उसी प्रकार सृजनशीलता देश काल की सीमाओं से परे होती है। सुन्दर मन और मस्तिष्क में ही सृजनशीलता संभव होती है। और यह किसी भी स्थान, व किसी भी समय संभव हो सकती है। गरीब व आर्थिक रूप से पिछड़े हुए बालक हों अथवा सर्व सुविधा संपन्न उच्च वर्ग के बालक, सृजनशीलता किसी के भी पास उत्पन्न हो सकती है। जो सपने देखते हैं और उन्हें सच करने की हिम्मत रखते हैं, उन्हें पूरा विश्व सम्मान की दृष्टि से देखता है। कुछ बच्चों के बनाये चित्र, लेखों व कविता कहानी को देखकर डा0 कलाम प्रभावित होकर लिखते है–

"मै अड़सठ देशों के बच्चों के बनाये चित्रों को देखते हुए हैरत में पड़ गया। बच्चों ने चित्रकला, कविता, कहानी और लेखों में असाधारण प्रतिभा का प्रदर्शन किया। जहाँ बड़े होकर लोग देश–सीमा, जाति – धर्म और अमीर – गरीब सम्बन्धी बातें करने लगते हैं, वहीं इन बच्चों की रचनाओं में सीमा और संकीर्णता की कोई जगह नहीं। बच्चों का मन निर्मल होता है जिसमें भेदभाव की गुंजाइश नहीं।" – 'अदम्य साहस' पेज – 67

सृजनशीलता जीवन की दिशा बदलती है –

सृजनशीलता ही वह हथियार है जिससे जीवन को नई दिशा प्रदान की जा सकती है। दृढ़ संकल्प से पुरानी मान्यताओं व सिद्धन्तों में परिवर्तन करके ही हम सफल हो सकते हैं। तमाम महापुरूषों का उदाहरण देते हुए डा0 कलाम लिखते है –

> " प्राकृतिक चयन सिद्धान्त के प्रणेता चार्ल्स डार्विन ने मानव जाति के विकास के सम्बन्ध में हमें दूसरे ढ़ग से सोचने के लिए विवश किया। थामस अल्वा एडीसन ने विद्युत का आविष्कार किया, इससे विज्ञान और प्रौद्योगिकी के प्रत्येक क्षेत्र में क्रान्ति आयी। महात्मा गाँधी ने अहिंसा आन्दोलन के माध्यम से दक्षिण अफ्रिका में नस्लीय भेदभाव के विरूद्ध और भारत में ब्रिटिश शासन के विरूद्ध जंग छेड़ी तथा देश को आजादी दिलायी । बीसवीं सदी की ये तीन महत्वपूर्ण घटनायें सृजनशील मन की देन हैं।" – 'अदम्य साहस' पेज – 70

अतः यह कहा जा सकता है कि आज के दौर की सारी वैज्ञानिक प्रगति पिछली सदियों के उन वैज्ञानिकों की खोजों की बदौलत ही सम्भव हुई है, जिन्होने कल्पना के माध्यम से सृजनशीलता को पोषित किया।

सृजनशीलता असम्भव को सम्भव बना सकती है –

सृजनात्मकता असम्भव से दिखने वाले कार्य को संभव कर देती है। किसी देश के राजनीतिक और आर्थिक तन्त्र में जान फूँकना है तो वहाँ के नागरिकों तथा छात्रों में सृजनशीलता होना अति आवश्यक है। हमारा राष्ट्र बहुत वर्षों से गुलाम था। आजादी विल्कुल भी सम्भव नहीं थी। किन्तु युगदृष्टा महामानव पूज्य बापू जी एवं अनगिनत राष्ट्रभक्तों के दृढ़ निश्चय व अटल इच्छाशक्ति ने इस असम्भव से दिखने वाले कार्य को सम्भव कर दिया। आज हम स्वतन्त्र हैं। ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जहाँ सृजनशीलता ने विकास के द्वार खोल दिये हैं। डा0 कलाम इसी तर्क का समर्थन करते हैं –

> "पिछले साठ साल में विज्ञान और प्रौद्योगिकी में हमने देखा है कि जिसे असम्भव माना जाता था, वह घट गया और जिसे सम्भव समझते रहे, वह अब तक नहीं हुआ। लेकिन वह होगा जरूर । खासतौर से एयरोनॉटिक्स, स्पेस टेक्नोलोजी, इलेक्ट्रानिक्स, नये पदार्थों, कम्प्यूटर साइन्स और साफ्टवेयर के मामले में दुनिया ने नये आयाम हासिल किये हैं। आने वाले दशकों में शायद हम ऐसी यूनीफाइड फील्ड थियरी तैयार होते देखे, जिसमें गुरूत्वीय और विद्युत चुम्बकीय शक्तियां और सामान्य सापेक्षिकता सिद्धान्त, स्पेस और समय एक साथ शामिल हों। हो सकता है आज के बच्चे आगे चलकर किसी ग्रह या चाँद पर उद्योग लगते या मानव वस्ती बसते देखें । शायद दुनिया में कई बार इस्तेमाल होने लायक ऐसे लॉन्च विहिकल सिस्टम यानी हाइपर प्लेन का दौर आ जाए जिनकी बिजली की जरूरत सौर ऊर्जा से पूरी हो, क्योंकि अगले पचास से सौ साल के अन्दर जैव ईंधन यानि पेट्रोलियम और कोयला आधारित ईंधन की कमी हो जायेगी। यह सब सृजनशील सोच के जरिये ही सम्भव है।" – 'अदम्य साहस' पेज – 71

सृजनशीलता नवीनता और समृद्धि का पथ प्रशस्त करती हैं –

सृजनशीलता नये तरीके से सोचने समझने का गुण है। सृजनशीलता द्वारा ही नयी नयी वस्तुएँ, नये – नये सिद्धान्त, उत्पन्न होते हैं। तकनीकी व विशेषज्ञता बढ़ने से गुणवत्ता के साथ – साथ उत्पादकता में भी बढ़ोत्तरी होती है। उत्पादकता वृद्धि होने से समृद्धि का पथ प्रशस्त होता है। विश्व बाजार में व्यावसायिक रूप से उपयोगी और प्रतियोगी उत्पाद के साथ साथ राजनीतिक और आर्थिक तन्त्र में जान फूँकने में सृजनशीलता का महत्व है। डा0 कलाम के शब्दों में –

> "अनुसंधान, विकास और संस्थागत बदलाव सहित अन्य क्षेत्रों से नई खोज का जन्म होता है। इसलिए नई खोंजो के लिए हमारे देश में एक सक्षम ढाँचा खड़ा करने की जरूरत है। ऐसे ढ़ाँचे के अन्तर्गत एक दूसरे पर निर्भर रहने वाली कम्पनियों, ज्ञान देने वाली संस्थाओं (यूनिवर्सिटी, कॉलेज, शोध संस्थान, टेक्नोलोजी देने वाली कम्पनी) के बीच तालमेल बैठाने वालों (विशेषज्ञ, तकनीकी सेवा या सलाह देने वाले) और ग्राहकों के बीच निकट सम्बन्ध

> स्थापित करने वाले तंत्र विकसित होंगे जिससे गुणवत्ता के साथ – साथ उत्पादकता में भी बढोत्तरी होगी। इस प्रकार नये ढ़ाँचे में जो तन्त्र विकसित होंगे वे दुनिया में हो रहे ज्ञान के फैलाव को संपीड़ित कर उसका उपयोग स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति में करेंगे। आखिर में इससे नए ज्ञान का प्रसार और नई प्रौद्योगिकी का निर्माण होगा।" – 'अदम्य साहस' पेज – 77

निष्कर्षतः डा0 अब्दुल कलाम के विचारों के आलोक में यदि सृजनशीलता की विवेचना की जाती है तो हम पाते हैं कि वही मनुष्य सृजनशील हो सकता है जिसमें नित्य नये चिन्तन करने की योग्यता विद्यमान हो। सृजनशीलता ही मानव चिन्तन का आधार है। यदि मनुष्य में सृजनशीलता का अभाव होता तो हमारी प्राचीन सभ्यतायें आज भी वहीं खड़ी होती जहाँ वे हजारों, लाखों, वर्षो पूर्व में थी। सभ्यता के विकास का आधार ही सृजनशीलता है। मनुष्य को खुद अपना निर्माण करना होता है और जिन्दगी को सॅवारना होता है। किसी लक्ष्य या ध्येय को पूरा करने के रास्ते में आने वाली सभी बाधाओं पर विजय पाने की क्षमता ही सृजनशीलता है। असमर्थता तथा अन्याय से लड़ने की शक्ति ही सृजनशीलता है। हमें छात्रों के भीतर एक प्रकार का विजय भाव, दृढ़ संकल्प, जाग्रत करना होगा जो इस धराधाम पर उन्हें समुचित स्थान दिलाये। उनके भीतर अदम्य साहस उत्पन्न कर सके। डा0 कलाम के अनुसार यदि भारत को 2020 तक एक विकसित राष्ट्र बनाना है तो वह सृजनशील युवकों के बल पर ही संभव हो सकता है। डा0 कलाम के शब्दों में –

> "सृजनशीलता मानव चिन्तन का आधार है। चाहे कितनी भी गति और स्मृति वाले कम्प्यूटर विकसित हो जाएँ, मानव चिन्तन का स्थान हमेशा ऊपर रहेगा। सृजनशीलता जैसा गुण इंसान में सदैव मौजूद रहेगा और प्रौद्योगिकी से प्राप्त होने वाली व्यापक गणन क्षमता जैसे मजबूत हथियार इंसान के पास होगा। उसका उपयोग वह दुनिया को और खूबसूरत बनाने की अपनी योजना को साकार करने में करेगा।"
>
> – 'अदम्य साहस' पेज – 78

उपरोक्त उद्धरण में डा0 कलाम मानवीय चिन्तन के महत्व को अब तक विकसित समस्त प्रकार की तकनीकियों से अधिक महत्वपूर्ण मानते है क्योंकि समस्त तकनीकियाँ अन्ततोगत्वा सृजनात्मक चिन्तन का ही प्रतिफल होती है। इसलिए हमें अपनी आधुनिक शिक्षा प्रणाली में सृजनात्मक चिन्तन पर विशेष ध्यान देना होगा और ऐसा तन्त्र विकसित करना होगा जिसमें छात्रों को नैसर्गिक रूप से मौलिक चिन्तन करने का सुअवसर प्राप्त हो सके।

सृजनशीलता उत्पन्न करने के उपाय –

सृजनशीलता का गुण उत्पन्न करने के लिए हमें कुछ उपाय करने चाहिए । रचनात्मकता का विकास करने के लिए सभी छात्रों को अवसर प्रदान किया जाना चाहिए, जिसमें वह अपने को स्वतंत्र समझकर कार्य – व्यवहार का संचालन कर सके । इस प्रकार हमें उत्साह पूर्ण वातावरण का निर्माण किस प्रकार किया जाए, इसका सम्यक प्रयास करना चाहिए। अध्यापकों को चाहिए कि वे अपने छात्रों को जितने भी क्षेत्र सम्भव हों, उनमें अपने विचारों तथा भावनाओं को प्रकट करने हेतु उत्साहित करें । यह एक ओर जहाँ कविताओं, कहानियों अथवा उपन्यास तथा जीवनियों के रूप में हो सकता है वहीं दूसरी ओर शिल्प, संगीत, नाटक, कला अथवा चित्रकारी के रूप में भी हो सकता है। अन्तर्निहित योग्यता की अभिव्यक्ति ही शिक्षा है। अन्तर्निहित योग्यता को बाहर लाने का पूर्ण प्रयास करना चाहिए। व्यक्ति हमेशा नये दृष्टिकोण, व्यवहार और विचार स्वीकार करने के लिए तत्पर रहता है। इसलिए वह नवीन समस्याओं के समाधान खोजने में सफलता प्राप्त करता है। यह बहुत अधिक सम्भव है कि जीवन के एक क्षेत्र में असफल व्यक्ति दूसरे क्षेत्रों में उत्कृष्ट प्रदर्शन कर सकता है। थामस अल्वा एडीसन ऐसे ही कतिपय लोगों में शामिल किये जा सकते है। पढ़ाई में बिल्कुल निम्न दर्जे के एडीसन ने विद्युत बल्ब बनाकर मानवता की अप्रतिम सेवा की और लोगों के जीवन से अन्धकार का नाश कर दिया। इसी प्रकार रेलगाड़ी और वायुयान जैसे आविष्कार मानवता के लिए वरदान साबित हुए।

सारांश –

भारत गणराज्य के ग्यारहवें राष्ट्रपति डॉ0 ए0 पी0 जे0 अब्दुल कलाम सृजनशीलता के प्रखर पोषक थे। अपनी इसी सृजनशीलता के दम पर उन्होंने भारत वर्ष कों ऐसी ऊँचाई पर पहुँचाया, जहाँ पर किसी सामान्य व्यक्ति का पहुँच पाना सर्वथा असम्भव ही होगा। एक कुशल वैज्ञानिक, उत्कृष्ट शिक्षक तथा एक आदर्श चरित्र वाले नेता के साथ – साथ वे एक उदारमना महामानव भी थे। मानवीय तथा क्रांतिकारी विचारों के धनी डॉ0 कलाम का जीवन आगामी पीढ़ी के लिए प्रेरणास्पद रहेगा। डॉ0 कलाम ने सृजन शीलता को एक पवित्र गुण मानते हुए यह स्पष्ट किया कि सुन्दर मन में ही सृजनशीलता उत्पन्न होती है। सृजनशीलता कुछ नया करने की प्रवृत्ति को कहते है । किसी समस्या पर नये ढ़ग से सोचने तथा समाधान खोजने के प्रयास से सृजनात्मकता परिलक्षित होती है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि 'सृजनशीलता वह योग्यता है जो किसी व्यक्ति को किसी समस्या का समाधान करने के लिए नवीन ढ़ग से सोचने तथा विचार करने मे समर्थ बनाये। प्रत्येक व्यक्ति में सृजनशीलता के बीज बाल्यकाल से ही विद्यामान होते है किन्तु उन्हे अंकुरित और अभिव्यक्त करने के लिए मन से प्रयास करना पड़ता है। इसलिए हमें सृजनशील छात्रों की पहचान करके उनमें सृजनशीलता के गुण का पोषण करना होगा। सृजनशीलता की कोई सीमा नही होती । यह देश काल परिस्थिति से बाँधी नहीं जा सकती।यह जाति, धर्म, सम्प्रदाय से बिल्कुल स्वतंत्र होती है। सृजनशीलता ही वह संप्रत्यय है जो असम्भव को सम्भव बनाती है। पिछले कुछ वर्षों में जो असम्भव था, वह सब घटित हो चुका है और जो अभी तक अघटित है, उसके घटित होने की प्रबल सम्भावना है । डा0 कलाम के अनुसार नयी खोजों के लिए हमारे देश में एक सक्षम ढ़ाँचा खड़ा करने की जारूरत है। इस प्रकार सृजनशीलता, नवीनता तथा समृद्धि का पथ प्रशस्त करन में सक्षम हो सकेगी।

सन्दर्भ सूची :

1. पी0 डी0 पाठकः शिक्षा मनोविज्ञान पेज 486
2. अदम्य साहसः पेज–65: शंकर अन्तर्राष्ट्रीय बाल प्रतियोगिता के पुरस्कार समारोह में अभिभाषण, नई दिल्ली : 23/03/2004
3. अदम्य साहसः पेज–66–67: पीटर हॉफ, हिमाचल प्रदेश में कालेज/यूनिवर्सिटी छात्रों के साथ बातचीत : 23/12/2004
4. अदम्य साहस पेज – 67 :
5. अदम्य साहस पेज – 70 :
6. अदम्य साहस पेज – 71 : बाल योग मित्र मण्डल, मुंगेर में अभिभाषण 14/02/2004
7. अदम्य साहस पेज – 77 :
8. अदम्य साहस पेज – 78 :

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

भारत में समाजशास्त्रीय विश्लेषण के उपागम

पंकज कुमार सिंह
असिस्टेंटप्रोफेसर (समाजशास्त्र)
कूबा पी जी कालेज दरियापुर नेवादा आजमगढ़

उपागम का अर्थ गोर्ड्न मार्शन के शब्दों में –"ज्ञान की किसी शाखा से संबंधित अध्ययन के लिए हम एक विशेष संदर्भ में जिस दृष्टिकोण या पद्धति का उपयोग करते हैं उसी को अध्ययन का उपागम कहते हैं।'' उपागम एक ऐसा तरीका या मार्ग है जिसके द्वारा किसी विशेष सामाजिक घटना, सामाजिक व्यवहार, सामाजिक व्यवस्था, को देखने और उसकी विवेचना करने का प्रयत्न किया जाता है । समान शब्दों में कहा जा सकता है कि अध्ययन के सभी दृष्टिकोण या ढंग को हम अध्ययन का उपागम कहते हैं

उपागम अध्ययन का वह तरीका है या दृष्टिकोण है जिसके आधार पर किसी विशेष सामाजिक तत्व की विवेचना की जाती है । प्रत्येक उपागम कुछ विशेष मान्यताओं पर आधारित होता है । विभिन्न उपागमों की प्रकृति एक दूसरे से इसलिए भिन्न होती है कि उनसे संबंधित अवधारणाएं और अध्ययन की प्रविधियाँ अलग-अलग होती हैं।समाजशास्त्रीयविश्लेषण के विभिन्न उपागमों के भारतीय परिप्रेक्ष्य में होने वाले तरीकों पर यह आलेख संक्षेप में प्रकाश डालता है।

बीसवीं सदी के पूर्वार्द्धमें समाजशास्त्रीयसैद्धान्तिकविचारोंमें अप्रत्याशित परिवर्तन देखने को मिलता हैं। ये परिवर्तन वस्तुतः कुछ प्रथम विश्व युद्ध, रूस की क्रान्ति तथा अन्य आर्थिक अनिश्चितताओं के परिणामस्वरूप है। लैंगिकतथाप्रजातिअसमानता, प्रगति और क्रांति के मुद्दे प्रमुख रहे हैं। साथ ही साथ एक महत्वपूर्ण सूक्ष्म-सैद्धान्तिक विषय 'समाज में स्वंय'(ईगो) के विकास ने भी सिद्धान्तकारों का ध्यान आकृष्ट किया है। फ्रायड ने व्यक्ति के जैविकीय प्रेरकों पर समाज के नियन्त्रण को महत्वपूर्ण माना। कूले एवं मीड ने दूसरे व्यक्तियों एवं प्रतीकों के प्रभाव को क्रमशः 'आत्मदर्पण के सिद्धांत' एवं 'महत्वपूर्ण अन्य' के माध्यम से व्याख्यायित किया। इन सिद्धान्तकारों ने इस तथ्य पर बल दिया कि एक व्यक्ति उसी चरित्र एवं व्यक्तित्व से एक संस्कृति में समायोजित कर सकता है तथा दूसरी संस्कृति में असमायोजित हो सकता है। द्वितीय विश्वयुद्धअफ्रीकातथा एशिया में उपनिवेशों के विरूद्धस्वतंत्रता का संघर्ष, समता के लिए बढ़ते नारीवादी एवं प्रजातीय आन्दोलनों तथा वैचारिक रूप से मार्क्सवादी समाजों के उत्थान एवं पतन की पृष्ठभूमि मेंसमकालीन विभिन्न समाजशास्त्रीयसिद्धान्तोंका उद्भव हुआ है।

बीसवीं सदी के तीसरे दशक में समाजशास्त्र में पारसन्स एवं मर्टन प्रेरित प्रकार्यात्मक विचार के प्रभाव को देखा जा सकता है। प्रकार्यात्मक उपागम समाज को विभेदीकृत सावयव के रूप में देखता है जो कि मतैक्य एवं मानवीय आवश्यकताओं को पूरी करने वाली संरचना पर आधारित है। पूंजीवाद की समाप्ति के लिएसंकल्पित मार्क्सवादी विचारधारा रूस से प्रभावितथी।रूस के समाजवाद के स्वप्न के टूटने के बाद पूँजीवादीसिद्धान्तकारोंके अनुसार मार्क्सवाद समाप्त हो चुका था। यद्यपि 21वीं सदी के प्रारम्भ में पश्चिमी

मार्क्सवादी विचारक पूँजीवादी समाजों में निहित बुराइयों, जिनमें सर्वहारा का अतिरिक्त मूल्य के माध्यम से शोषण एवं अल्पसंख्यक बुर्जुआ का उत्पादन के साधनों पर एकाधिकार, को कारण मानते थे साथ ही इनका मानना था कि इस समाज व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन होना चाहिये। इस सामाजिक विचारधारा ने समाजशास्त्र के सैद्धान्तीकरण की परम्परा को सर्वाधिक प्रभावित किया। 1960 में इमैनुअल वेलरस्टीन ने अफ्रीकी महाद्वीप के देशों पर शोध् किया और उनका मत था कि राज्य और समाज को अलग-अलग करके नहीं समझा जा सकता है। वे नव स्वतंत्र हुए राष्ट्रों द्वारा आर्थिक संकटों का सामना करने के लिए अपनाए गए आधुनिकीकरण सिद्धांत की मूल मान्यताओं जैसे राष्ट्र-राज्य का पुनर्निर्माण, विकास का एकांगी पथ तथा अन्तर्राष्ट्रीय विकास संरचनाओं को नकारते थे। वेलरस्टीन का मानना था कि आधुनिकीकरण के माध्यम से नव विकसित राष्ट्रों की आर्थिक-सामाजिक एवं राजनीतिक संरचना पुष्ट नहीं हो सकती है। वेलरस्टीन ने विश्व व्यवस्था उपागम प्रस्तुत किया जिस सिद्धांत केअन्तर्गत दमन एवं शोषण के विरूद्ध अन्ततः क्रांति के आधार को आवश्यक बताया गया। दमन के विश्लेषण में वस्तुतः राष्ट्र-राज्य के अन्तर्गत वर्गों को नहीं बल्कि विश्व पूंजीवादीव्यवस्था को ही विश्लेषण का केन्द्रीय तत्व माना गया। वेलरस्टीन ने यूरोप में पूंजीवाद के प्रसारित होने एवं चीन, रोम व अन्य देशों में इसका प्रसार न हो पाने के बहुत से कारणों पर प्रकाश डाला इस उपागम के अनुसार श्रम विभाजन एवं वर्ग विभाजन वैश्विक परिघटना है। अर्थव्यवस्था राजनीति की तुलना में पूर्वप्रभावी है।

समाजशास्त्र में वस्तुनिष्ठता एवं विषयनिष्ठता का विमर्श विभिन्न उपागमों के उद्भव की पृष्ठभूमि में है। प्रत्यक्षवाद एवं परिमाणात्मक उपागमों के बढ़ने के बाद सामाजिक परिघटनाओं का लगातार मूल्यांकन उनको दिये गये मान के अनुसार किया गया न कि उस परिघटना की संदर्भ की पृष्ठभूमि के आधार पर। इससे परिणाम यह हुआ कि वैज्ञानिक निष्कर्ष तो निकलते थे, परन्तु यह निष्कर्ष व्यापक अर्थ नहीं रखते थे, जिससे व्यापक सैद्धान्तिकरण की परम्परा खण्डित होने लगी। व्यक्तियों के दिन-प्रतिदिन के व्यवहार एवं संदर्भों से उपजी सामाजिक वास्तविकता का बोध् करने के लिए परिमाणात्मक एवं वस्तुनिष्ठ उपागम उपयुक्त नहीं थे, अतः सूक्ष्म समाजशास्त्रीय उपागमों का उदय हुआ। जैसे प्रघटना विज्ञान, लोकविधि् विज्ञान, सामाजिक विनिमय सिद्धांत एवं उत्तर आधुनिकतावाद आदि। यहाँ तक कि संरचनावाद भी संदर्भगत अर्थों से ही निष्कर्ष निकालने में विश्वास रखता है। यह नवीन उपागम अपनी पद्धति में विषयनिष्ठ एवं गुणात्मक थे।

समाज विज्ञान की तरह समाजशास्त्र का विकास कई दशकों में हुआ है, इसका उद्देश्य समाज की यथार्थता को जानना है। इस यथार्थता को जानने की कई विधियाँ तथा कई उपागम हैं। यह आवश्यक नहीं कि समाज के किसी एक समूह का अध्ययन केवल एक विधि से हो सकता है, कोई भी विधि अपने आप में अनन्य नहीं है, वर्तमान में विभिन्न विधियों को मिलाकर अध्ययन किया जाता है, ताकि शोध् की प्राप्तियाँबहुआयामी हों।

कुछ एक अवरोधों के बाद भी समाजशास्त्रीय अध्ययन के सार्वभौमिक उपागम भारत में प्रयोग किये गये हैं और आज भी इनका अनुप्रयोग हो रहा है। भारत, एशिया महाद्वीप के अन्य देशों यूरोप और अमेरिका में समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए निम्न उपागमों का प्रयोग किया जाता है। भारतीय समाजशास्त्र के अध्ययन की ये प्रवृत्तियाँ पश्चिम की विचारधारा से प्रभावित रही हैं। ब्रिटिश प्रभाव के अन्तर्गत भारतीय समाजशास्त्रसामाजिक-मानवशास्त्रीय प्रवृत्ति से प्रभावित रहा है। भारतीय ज्ञान के औपचारिक स्वरूप ब्रिटेन से प्रभावित रहे हैं। ब्रिटेन में जनजाति, गांव, प्रजाति, इत्यादि विषयों का अध्ययन अवलोकन एवं साक्षात्कार की

पद्धतियोंकेआधार पर करने पर बल दिया जाता रहा है। इस प्रकार के अध्ययनों से उपनिवेश देशों में इनके राजनीतिक हित पूरे होते थे।

सैद्धान्तिक स्तर पर यह प्रश्न सदैव प्रस्तुत किया जाता है कि क्या समाजशास्त्र काल व देश, समाज व संस्कृति, अतीत व वर्तमान की विशिष्टताओं सेप्रभावित होकर एक स्वायत्त स्वरूप व चरित्र प्राप्त करता है; यह ज्ञान की शाखा के रूप में अमूर्तता के उस स्तर पर व्याख्या करता है जो कि सार्वभौमिक होते हैं। अर्थात् संदर्भगत यथार्थ की व्याख्या की गहराई क्या इन आयातित सिद्धांतोवउपागमों से सम्भव है। दूसरा प्रश्न है कि सामाजिक यथार्थ की अमूर्तता व मूर्तता के क्या कई स्तर होते हैं, क्या सभी समाज व संस्कृतियाँ किसी स्तर पर विश्लेषण ही नहीं वरन् सामान्य ज्ञान के आधार पर भिन्न नहीं है। तीसरा प्रश्न, सिद्धांतव संबोधोंके निर्माण में संचयी अनुभव, ज्ञान, विरासत जो कि ऐतिहासिक व शास्त्रीय ज्ञान के आधर पर प्राप्त होता है, से संबंधित है। चौथा मुद्दा ज्ञान की राजनीति से जुड़ा है, किसी भी देश व समाज का ज्ञानमयनिर्माण सप्रयास नकारात्मक रूप से क्यों किया जाता है? क्या इसके पीछे उपनिवेशवाद व साम्राज्यवाद के निहित स्वार्थ नहीं है? अन्ततः महत्वपूर्ण प्रश्न भारतीय समाजशास्त्रियों के योगदान से जुड़ा है। क्योंकि भारतीय समाजशास्त्रियों ने ऐतिहासिक ज्ञान की धरोहरव लोक ज्ञान की मौखिक परम्परा को समीचीन रूप से प्रस्तुत करने का कोई संस्थागत या व्यक्तिगत प्रयास नहीं किया है। वस्तुतः भारतीय समाजशास्त्रको ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सूचनापरक, सैद्धान्तिकदृष्टिकोण से परिष्कृत एवं तुलनात्मक अभिमुखन की विशेषताओं को स्वीकार करना होगा। भारतीय बौद्धिकपरम्परा के विश्लेषण से समाज विज्ञान में नव-संबोध्, संबोध्-वर्गीकरण, संबोध्-परिष्करण के ऐसे आयाम निहित हैं जो समाजशास्त्र के सार्वभौमिक कलेवर को परिष्कृत करने की क्षमता रखते हैं। प्राकृत व पाली की लाखों पाडुंलिपियाँ अनूदित व अप्राप्य रही हैं। अतः भारतीय समाजशास्त्र के सिद्धांत व संबोध्, आंचलिक व सांस्कृतिक वैशिष्टय से अछूते रहे हैं। सांस्कृतिक विशिष्टता, ऐतिहासिकता, व सामाजिक निरन्तरता के असीम व सशक्त आयाम समाजशास्त्र के सार्वभौमिक स्वरूप के गठन में अहम् भूमिका निभा सकते हैं।भारतीय समाजशास्त्र को दर्शन एवं इतिहास से जोड़कर अधिक सशक्त रूप से प्रस्तुत किया जा सकता है। सिद्धांत निर्माण की प्रक्रिया इसी आधार पर अधिक परिपक्व रूप से उभर कर के आ सकती है। समाजशास्त्रियों को मूल्य निर्धारण व मानदण्डों के निर्माण में अहम भूमिका अदा करनी चाहिये क्योंकि परम्परा में यह कार्य शास्त्रीयग्रन्थों में बुद्धजीवियों द्वारासम्पन्न होता था। मूल्य संकट की स्थिति का एक प्रमुख कारण यह है कि नव- सामाजिक स्थितियों, प्रभावों, संस्थाओं के परिवेश में अनेक ऐसे आयाम है जहाँ मूल्य व मानदण्डों का स्खलन हुआ है। नई स्थितियों, नयी भूमिकाओं, नवीन संस्थाओं से उत्पन्न परिस्थितियों के लिए उचित मानदण्डों का निर्माण बुध्दिजीवियों का कार्य है।

भारत के अध्ययन में आनुभविक क्षेत्र कार्य के आधार पर अनेक ग्रंथ लिखे गये; गाँव, जाति, धर्म, परिवार, परिवर्तन, विकास, जीवनशैली पर अनेक प्रतिवेदन उपलब्ध हैं। परन्तु इस प्रारम्भिक क्षेत्र-अध्ययन में भारत की समस्याओं व विकास को यथोचित स्थान नहीं दिया गया। विगत कुछ वर्षों से अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा नियोजित समस्यामूलक अध्ययन भी कराये गये। जिसमें स्थानीय स्तर पर जन भागीदारी द्वारा विकास के लिए सामाजिक आकलनपद्धति से यथार्थ के विश्लेषण की पहल की गई। इस प्रकार के अध्ययनों में इसके माध्यम से सभी स्टेक होल्डर को एक ईकाई के रूप में देखा जाता है। ये स्टेक होल्डर लाभकारी समूह, सरकारी कर्मचारी, आंचलिक नेता आदि सभी होते हैं। सामाजिक आंकलन के अन्तर्गत सामाजिक भिन्नता, जो कि जाति, वर्ग, लिंग, आयु, प्रजाति, सामुदायिकता के आधार पर निर्मित है, को स्वीकार किया जाता है।

सामाजिक नियोजन में इन विभेदों को समुचित स्थान दिया जाता है, जिससे कि सभी लोगों को लाभ मिल सके। अध्ययन व विश्लेषण को लोगों के साथ व उनके सहयोग से निर्मित किया जाता है और निष्कर्षों को भी लोगों के साथ खुली चर्चा में बताया जाता ।

पी.आर.ए.(Participatory rural appraisal) तकनीक में लोगों के द्वारा ही, उनकी समझ, शब्दावली, उनकी श्रेणियों, उनके अर्थों के आधार पर यथार्थ का निरूपण व निर्वाह किया जाता है। उपासित अध्ययनों (सबाल्टर्न अध्ययनों)

में स्थानीय, निम्न वर्ग, अवहेलित समूहों के जीवन यथार्थ, ऐतिहासिक समस्याओं आदि का निरूपण किया जाता है। इस विधि के माध्यम से विगत वर्षों में अनेक अध्ययन हुये हैं। वृहद परम्परा, लघु परंपरा, सार्वभौमीकरण व क्षेत्रीयकरण के माध्यम से साधारण व्यापक व विशिष्ट-स्थानीय के मध्य सम्बन्धों का विश्लेषण किया जाता है। भारत में अब तक के समाजशास्त्र के विकास पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि इसके अन्तर्गत अनेक सैद्धान्तिक एवं पद्धतिशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य सन्निहित हैं। एफ0जी0बेली के अनुसार व्यक्ति जो सोचते हैं, उनके मूल्यों से समाजशास्त्र की विषयवस्तु बनती है। प्रो0 योगेन्द्र सिंह के अनुसार भारतीय समाजशास्त्र में किसी औपचारिक सिद्धांत की रचना नहीं हुई है, अर्थात् सिद्धांत तो नहीं के बराबर है, यद्यपि उपागम अनेक हैं। प्रो0 सिंह ने भारतीय समाजशास्त्र के विश्लेषण उपागमों को ध्यान में रखते हुये इसे 1952 से लेकर 1977 ई0 तक बांटकर विवेचना की है। इसमें 1952 से 1960 तक दार्शनिक उपागम का प्रभुत्व रहा है एवं समाजशास्त्रीय विश्लेषण के लिए यही उपागम समाजशास्त्रियों ने उपयोग में लिया है। 1960 ई0 से 1965 ई0 तक सांस्कृतिक उपागम पर बल दिया जाता रहा और 1965 ई0 से 1970 ई0 तक संरचनावाद का जोर रहा। डयूमा, श्रीनिवास, मैकिम मैरिएट इसके प्रर्वतक रहें हैं। प्रो0 राधकमल मुखर्जी, डी0पी0 मुखर्जी, ए0के0सरन, एस0पी0 नागेन्द्र आदि दर्शनशास्त्रीय उपागम के समर्थक रहे हैं। एफ0जी0 बेली, आन्द्रे बेतेई, अरोरा, राव, आई0पी0 देसाई, संरचनात्मक परिप्रेक्ष्य का प्रयोग करते हैं। (दोषी व जैन::1998:86)

दार्शनिक उपागम को अपनाने वालों में भारतीय दर्शन तथा परम्परा से प्रभावित विचारक एवं समाज वैज्ञानिक रहे हैं, जिन्होंने समाजशास्त्रीय अध्ययनों में भारतीय दर्शन एवं परम्परा को उपागम के रूप में प्रयोग किया। लखनऊ सम्प्रदाय के समाजशास्त्रियों विशेषकर राधकमलमुखर्जी, धुर्जटी प्रसाद मुखर्जी तथा अवध किशोर सरन को इस दृष्टि से देखा जा सकता है। राधकमल मुखर्जी दर्शन की सहायता से सार्वभौमिक समाज विज्ञान के विकास की बात करते हैं। डी0 पी0 मुखर्जी भारतीय दर्शन एवं परम्परा को द्वन्दात्मक अध्ययन पद्धति के साथ जोड़ते हैं। आनन्द कुमार स्वामी से प्रभावित एके सरन विशिष्ट भारतीय समाजशास्त्र की बात करते हैं।समाजशास्त्र में सांस्कृतिक उपागम के अन्तर्गत एम0एन0 श्रीनिवास,रेडफील्ड, मिल्टन सिंगर, तथा मैकिम मैरिएट के कार्यों को सम्मिलित किया जा सकता है। विशेषकर एम0एन0 श्रीनिवास के दक्षिण मैसूर के कुर्ग लोगों के अध्ययन ने सांस्कृतिक उपागम को जन्म दिया, तदुपरान्त एस0सी0 दुबे, ड्यूमा एवं पोकाक भी इसी उपागम के अन्तर्गत आते हैं। एम0एन0 श्रीनिवास द्वारा विकसित निम्न तीन अवधरणाएँ सांस्कृतिक उपागम को स्पष्ट करती हैं- संस्कृतिकरण, पश्चिमीकरण, धर्मनिरपेक्षीकरण।

सैद्धान्तिक उन्मुखन की और जब भारतीय समाजशास्त्र में ध्यान दिया जाने लगा और अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर भारतीय समाजशास्त्र अपना स्थान बनाने लगा, तो भारतीय समाजशास्त्रियों ने संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम को एक बौद्धिक चुनौती के रूप में देखा। भारतीय समाजशास्त्रियों ने भारतीय समाज एवं

सामाजिक संस्थाओं को समझने के लिए संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम को सर्वथा उपयुक्त समझा एवं दूसरे परिप्रेक्ष्य मार्क्सवादी, वेबर, पारसन्स प्रारूप लगभग नकार दिये गये।

प्रकार्यात्मक उपागम को परम्परागत समाजशास्त्र के अन्तर्गत एक प्रमुख एवं प्रभावकारी सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य के रूप में विगत दशकों मेस्थापित रहा है। अनेक अध्ययन व अनुसंधानों में इस उपागम का उपयोग किया गया है। इस उपागम के प्रभाव को इस बात से आँका जा सकता है कि केवल समाजशास्त्र में ही नहीं, अपितु अन्य समाज विज्ञानों में भी इस उपागम को प्रयुक्त किया गया है। प्रकार्यात्मक उपागम का आधारभूत विचार है कि समाज अनेक भागों की अन्तर्निर्भरता एवं अन्तर्सम्बन्धो के आधार पर बना है। इन सम्बन्धों के आधार पर व्यवस्था का निर्माण होता है, जिसकी प्रकृति समन्वित व पूर्णता लिए हुये होती हैं। व्यवस्था के किसी एक भाग में परिवर्तन होने से अन्य भाग भी परिवर्तित होते हैं, पर संतुलन एवं स्थायित्व भी बने रहते हैं। यह उपागम संतुलन एवं स्थायित्व को सामाजिक व्यवस्था के नियमन के लिए आवश्यक मानता है। साथ ही इस बात पर बल दिया जाता है कि कोई भी सांस्कृतिक या सामाजिक तत्व व्यवस्था के अन्तर्गत ऐसे कार्य करता है जो कि व्यवस्था के बने रहने के लिए आवश्यक है। यह उपागम तत्वों के प्रभावों को व्यवस्था के लिए समन्वयता के आधार पर विश्लेषित करता है। (सिंह, 1998:35)

समाजशास्त्र में प्रकार्यवाद का उद्‌गम स्पेन्सर और दुर्खीम के विचारों से माना जाता है। स्पेन्सर की व्याख्या प्राणिशास्त्रीयसादृश्यता के आधार पर निर्मित हुई है। इस विचारधारा को प्रतिपादित करने में स्पेन्सर नेसंरचना एवं प्रकार्यों के संबधों का उपयोग किया है। मानवशास्त्री मैलिनोवस्की एवं ब्राउन के अध्ययनों में भी संरचना एवं प्रकार्य अवधरणाओंका प्रमुख स्थान रहा है।

द्‌वन्दात्मक ऐतिहासिक विचारधारा के लेखक मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित हैं। सभी मार्क्सवादी यह धारणा लेकर चलते हैं कि आमूल राजनीतिक परिवर्तन के लिए मार्क्सवाद ही एक सशक्त एजेण्डा है। मार्क्सवादी विचारकों का एक आग्रह यह भी है कि इस उपागम में वर्ग विभाजन, संघर्ष, शक्ति और विचारधारा महत्वपूर्ण है। इस तरह का कोई भी संदर्श प्रकार्यवादी उपागम में नहीं होता है। इस उपागम ने समाजशास्त्रीय विश्लेषण में बहुत योगदान दिया है। इस उपागम के प्रवर्तकों में कोहेन, अल्थूजर आदि समाजशास्त्री हैं। हमारे देश में कतिपय समाजशास्त्रियों ने मार्क्सवादी उपागम का सपफलतापूर्वक प्रयोग किया है। ए0 आर0 देसाई, डेनियल थार्नर, कैथलीन गफ तथा रामकृष्ण मुखर्जी ने मार्क्सवादी उपागम को बृहद समाजों के अध्ययन में लागू किया है। डी0पी0 मुखर्जी के लेखन पर भी द्‌वन्द्‌वात्मक भौतिकवादी अध्ययन पद्धति का प्रभाव है। भारत, श्रीलंका, पाकिस्तान, जापान आदि एशिया के देशों की सामाजिक व्यवस्था को समझने के लिए ऐतिहासिक विधि अत्यन्त सहायक है।

सूक्ष्म समाजशास्त्रीय उपागमों के अन्तर्गत अध्ययन की इकाई व्यक्ति या लघु समुदाय होता है। सूक्ष्म-समाजशास्त्रीय उपागमों के अन्तर्गत प्रतीकात्मक अन्तःक्रियावाद, संरचनात्मक प्रकार्यवाद, विनिमय सिद्धांत, इथनोमेथडोलॉजी, फेनोमेनालॉजी आदि आते हैं। इनके मानने वाले सिद्धांतकारब्लूमर, जार्ज होमन्स, स्कीनर, गारफिंकल आदि हैं। हालहीमेंसिद्धान्तीकरण के क्षेत्र में जो अभूतपूर्व परिवर्तन देखने को मिला है, वह माइक्रो एवं मैक्रो सिद्धांतोंकेबीच की कड़ी है।1980 के दशक से पहले अमेरिका के समाजशास्त्र में माइक्रो-मैक्रो को लेकर दो धड़उभर करसामने आये। एक माइक्रो सिद्धांतोंकीश्रेणी में आते हैं, दूसरे मैक्रो सिद्धांतोंकीश्रेणी में आते हैं। इन दोनों के एकीकरण के प्रयास भी किये गये, जिसे टर्नर मेसो सिद्धान्तीकरणकहते हैं। यद्‌यपि इन

दोनों के बीच स्पष्ट रेखा खींचना कठिन है। सूक्ष्म समाजशास्त्रीय उपागम दिन-प्रतिदिन की घटनाओं, मानव व्यवहारों, एवं अन्तःक्रियाओं के अध्ययन पर बल देते हैं।

प्रतीकात्मक अन्तःक्रियावाद समाजशास्त्रीय उपागम का एक प्रकार है। यह उपागमसामाजिक यथार्थ को समझने में विषयपरकता पर अधिक महत्व देता है एवं व्यक्ति के परिप्रेक्ष्य को केन्द्र में रखता है। यद्यपि हर्बट ब्लूमरसामाजिक अन्तःक्रिया की प्रक्रिया को अध्ययन का केन्द्रीय बिन्दु मानता है न कि अन्तःक्रिया के कारणों एवं प्रभावों को। यह उपागम इस बात को महत्व देता है कि प्रतीकों के माध्यम से सामाजिक अन्तःक्रिया किस तरह से निर्मित होती है। चार्ल्स कूले ने इस उपागम की आधारशिलारखी, एवं आत्म दर्पण के सिद्धांतके माध्यम से यह बताने का प्रयास किया कि व्यक्ति के 'स्व' की चेतना कुछ सीमा तक इस पर निर्भर करती है कि अन्य व्यक्ति उसके बारे में क्या सोचते हैं, अर्थात् स्वयं के बारे में धारणा समाज में रहने वाले अन्य लोगों के द्वारा प्रत्यक्षीकरणके आधार पर बनाई जाती है। सभी प्रतीकात्मक अन्तःक्रियावादियों का कहना है कि एक ओर तो मनुष्य का स्व होता है और दूसरी ओर उसके आस-पास का विशाल समाज। इस समाज को स्व के माध्यम से समझने का प्रयास व्यक्ति करता है। इस तरह के समझ में प्रतीकों की निर्णायक भूमिका होती है। सामाजिक विनिमय सिद्धांत का केन्द्रीय बिंदु सामाजिक विनिमय है। आधुनिक विनिमय सामाजसिद्धान्तकारों में जार्ज होमन्स, पीटर ब्लाऊ, और माइकल हेचर के नाम विशेष रूप से लिये जाते हैं। होमन्स ने विनिमय व्यवहारवाद को विकसित किया, ब्लाऊ ने संरचनात्मक विनिमय सिद्धांत को एवं हेचर ने विवेकी सिद्धांत को रखा है। उपयोगितावाद ने सामाजिक विनिमय सिद्धांत को एक बौद्धिक आधार प्रदान किया। उपयोगितावादियोंके अनुसार मनुष्य मूलतः विवेकशील प्राणी है, और अपने हर तरह के प्रयास में चाहता है कि उसे अधिकतम लाभ पहुँचे। सामाजिक यथार्थ को जानने के लिए शोधकर्ता इस उपागम का प्रयोग बहुतायत से करने लगे हैं। (दोषी व त्रिवेदी, 1996:200-24)

प्रघटनाशास्त्रीय उपागम एक ऐसा अध्ययन उपागम है जिसकी शुरूआत व्यक्ति से होती और व्यक्ति को स्वयं के अनुभव से जो कुछ प्राप्त होता है, उसे इसमें सम्मिलित किया जाता है। स्वयं के अनुभव से बाहर जो भी पूर्व मान्यताएँ, पूर्वाग्रह और दार्शनिक बोध् होते हैं, वे सब इसके क्षेत्र के बाहर हैं। एडमण्ड हर्सल इस उपागम कोशैक्षणिक आन्दोलन के रूप में उभार कर लाये।यद्यपि समाजशास्त्र में प्रभावी रूप से प्रघटनाशास्त्रीय उपागम को प्रस्तुत करने का श्रेय एल्फर्ड शूट्ज को जाता है। शूटज प्रघटनाशास्त्र के अन्तर्गत लोगों के दैनिक जीवन की परिस्थितियों को अधिक महत्त्व दिया तथा व्यक्तिनिष्ठ अध्ययन को प्रघटनाशास्त्र का आधार माना है। शूटज सामाजिक सम्बन्धों के बारे में दो अवधरणाओं को जन्म देते हैं- विशिष्टता एवं प्रकार। समाज में अनेक प्रकार की परिस्थितियाँ जन्म लेती हैं, कभी-कभी एक ही प्रकार की परिस्थितियों की पुनरावृत्ति होती है। शूटज का मत है कि प्रत्येक सामाजिक परिस्थिति का अध्ययन अन्तर्व्यक्तिनिष्ठता के आधार पर किया जाना चाहिये। फिनामेनालाजी चेतना, मस्तिष्क और जीव-जगत आदि अवधरणाओं द्वारा समाज की वास्तविकताओं का अध्ययन करता है।

पिछले लगभग दो दशकों में समाजशास्त्र में कुछ नवीन उपागमों का उदय हुआ है, जिनमें लोकविधि्विज्ञान प्रमुख है। प्रतिदिन की घटनाओं को व्यवस्थित रूप से समझना इस पद्धति का उद्देश्य है, घटना का उतना महत्व नही है, जितना कि घटना के अर्थ का हैं। अर्थ बोध् व्यक्ति के संज्ञान का परिणाम होता है। लोक-विधि् विज्ञान, व्यक्ति के आंतरिक विचार लोक में प्रवेश करता है। अतः लोक विधि् विज्ञान अर्थबोध् की विधियों का पता लगाता है। लोक-विधि् विज्ञान वह पद्धतिहै जो व्यावहारिक तर्क से संबंधित है अन्तःक्रिया में

लोग घटनाओं का अर्थ लगाते हैं और उस अर्थबोध् का आदान-प्रदान करते हैं, इस प्रक्रिया का अध्ययन करना लोक विधि् विज्ञान है। इथनोमेथडोलॉजी में सामाजिक वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए साधारण ज्ञान विधि को अपनाया जाता है। गारपिफन्कल इथनोमेथडोलॉजी को वस्तुनिष्ठ वास्तविकता में दैनिक जीवन में होने वाली क्रियाओं का उत्पादन एवं इनका अध्ययन करने को महत्त्व देते हैं। इसके अन्तर्गत सामाजिक वास्तविकता को सिद्धांतोंके आधार पर न खोजकर नित्यप्रति की सामाजिक घटनाओं और उनके प्रति लोगों की प्रतिक्रियाओं में खोजने पर बल दिया जाता है। गारफिंकल इस उपागम में कुछ मूलभूत अवधरणाओं का उल्लेख किया है- प्रलेखन विधि, संदर्भितता, टीकात्मक व्यवहार, चिन्तनशीलता, तार्किक विवरण।गारफिंकल ने अर्धप्रयोगात्मकअध्ययनों को संचालित करके यह तय किया कि प्रतिदिन के जीवनअन्तक्रिया के नियमों को चुनौती देना कठिन है, व्यक्ति जिससे अन्तः क्रिया करता है उनमें पारस्परिक विश्वास होता है, इसे गारफिंकल आस्था की अवधारणा से इंगित करते हैं। अतः अन्तःक्रिया में जब तक आस्था की स्थिति बनी रहेगी, तब तक सामाजिक व्यवस्था बनी रहेगी। आस्था में अन्तर आते ही सामाजिक व्यवस्था विघटित होने लगेगी (श्रीवास्तव, 1996:129)

भारत जैसे विकासशील देशों में जहाँ परम्पराएँ एवं मूल्य संक्रमण के दौर में है समाज को व्याख्यायित एवं अर्थ प्रदान करने वाली अवधारणाएं अपने पुराने अर्थ खोती जा रही है अर्थात् उन्हें पुनर्परिभाषित करने की आवश्यकता है। ऐसे में सामाजिक वास्तविकता को उद्भासित करना सरल नहीं हैं। नवीन उपागमों के माध्यम से बदलते भारत की समाजशास्त्रीय दशाओं से अर्थों को निकाला जा सकता है। भारतीय समाज को न तो ग्राम्शी की ‘सिविलसोसायटी’ न ही पोलायनी की ‘एक्टिव सोसाइटी’ एवं न ही मोहन्ती की ‘क्रियेटिव सोसाइटी’ के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जा सकता है बल्कि यह तो ‘जंक्शन सोसाइटी’ है, जहाँ परम्परा और आधुनिकता समानान्तर चलती हैं।अतः शास्त्रीय उपागमों के स्थान पर नवीन उपागमों का प्रयोग अपरिहार्य सा होता जा रहा है। नवीनसमाजशास्त्रीयसिद्धांतों मेपूँजीवाद का नया सांस्कृतिक तर्क, वैश्वीकरण का समाजशास्त्रीय उपागम, उत्तर संरचनावाद तथा नव प्रकार्यवाद, एन्थोनी गिडेन्स का संरचनाकरण का सिद्धांत समीचीन है, एवं सामाजिक व्यवस्थाओं के नियमित चालन में अन्तःक्रियाओं के अर्थबोध् को समझने में एवं दिन-प्रतिदिन की घटनाओं का समाजशास्त्रीय विश्लेषण करने में शोधकर्ताओंद्वारा उपरोक्त उपागमों का प्रयोग अपने प्रयोगात्मक स्तर पर होता है। यद्यपि नवसमाजशास्त्रीय उपागमों के बिना समाजशास्त्र का सैद्धान्तिक क्षेत्र अधूरा है।

सन्दर्भः-

1. दोषी, एस0एल0 : आधुनिकता, उत्तर आधुनिकता एवं नवसमाजशास्त्रीय सिद्धांत, रावत प्रकाशन, जयपुर, 1998
2. सिंधी, नरेन्द्र कुमार, समाजशास्त्रीयसिद्धांतविवेचन एवं व्याख्या, रावत प्रकाशन, जयपुर, 1998
3. दोषी व त्रिवेदी : उच्चतर समाज वैज्ञानिक सिद्धान्त रावत प्रकाशन, जयपुर, 1996
4. श्रीवास्तव, एच0सी0 आधुनिक समाज वैज्ञानिक सिद्धांत परिचय, उ0प्र0 हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1982

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

कृष्णा सोबती का रचना संसार

डॉ0 नयना
असिस्टेन्ट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
जाकिर हुसैन कॉलेज (सांध्य), दिल्ली विश्वविद्यालय

आधुनिक हिंदी साहित्य में गद्य की अनेकानेक विधाएं हैं जैसे निबंध, नाटक, कहानी उपन्यास, संस्मरण, यात्रा–वृतांत आदि। आज जब हम कथा साहित्य की बात करते हैं तो हमारे सामने मुख्य रूप से गद्य की दो विधाएं – कहानी और उपन्यास ही होती है। समस्याओं के प्रस्तुतिकरण के क्रम में उपन्यास और कहानी के अंतर पर बहुत बातचीत हो चुकी है। यह तय है कि अन्य विधाओं की अपेक्षा उपन्यास हिंदी की सर्वाधिक सशक्त विधा है। क्रमबद्ध तरीके से सामाजिक मानवीय चित्र, जन समस्याएं, उनकी गतिविधियां, जनमानस के मानसिक संघर्ष से युक्त मन की ज्ञात अज्ञात शक्तियों का यथार्थ एवं जीवन्त चित्र जब कल्पना के माध्यम से सलीके और सावधानी से संचित कर प्रस्तुत किए जाते हैं तो उसे उपन्यास कहते हैं।

हिंदी कथा साहित्य के प्रारंभिक काल से ही नारी जीवन का चित्रण केन्द्र में था। यह जरूर है कि नारी चरित्रों को जिस प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है, उनकी समस्याओं को जिस नजर से देखा जाता है वह अलग था। इसका एक सबसे बड़ा कारण – नारी जीवन पर लिखने वाले अधिकतर उपन्यासकार –कहानीकार पुरुष थे। नारी जीवन के ठोस अनुभव उनके लिए अनुमान के विषय थे। इसमें कोई दो राय नहीं है कि नारी जीवन की समस्याओं के सही अंकन में प्रामाणिकता का पुट उस समय मिला जब महिला रचनाकार रचनारत हुई। उन्होंने नारी जीवन के चित्रण को न केवल नया मोड़ दिया बल्कि कथा सरंचना के पुराने ढर्रे को भी बदला।

कम लिखना विशिष्ट लिखना कृष्णा सोबती अपना साहित्यिक परिचय मानती है। उन्हें अपनी साहित्यिक यात्रा में न तो किसी को पछाड़ने की फिक्र है न तो किसी से पिछड़ने का आतंक, बस! लिखना है। जो भी जिया, देखा और सुना सबका यथार्थ चित्रण अपनी रचनाओं के माध्यम से वे करती है। उनके उपन्यासों में प्रेम, बिखराव, सामाजिक तथा पारिवारिक रिश्तों में सामन्जस्य आदि स्त्री संबंधी तथ्यों को अत्यंत गहराई में जाकर उभारने की गहन चेष्टा की गई है। आधुनिक साहित्यिक माहौल में साहित्य की कसौटी पर स्त्री–जीवन को जांचने और परखने का सूक्ष्म नजरिया कृष्णा सोबती के उपन्यासों में परिलक्षित होता है। अतः उनके उपन्यासों की कथा सरंचना का सूक्ष्म और संक्षिप्त आकलन करना आवश्यक है। कृष्णा सोबती का रचना संसार बाह्य संदर्भों और भीतरी मनः स्थितियों के बीच का संघर्ष हर बार कुछ नया रचता है। इनकी सभी कृतियां अपने आप में स्वतंत्र भी है और एक दूसरे की पूरक भी।

'डार से बिछुड़ी' सामन्तवादी समाज व्यवस्था में नारी के प्रति दृष्टिकोण को व्यक्त करने वाली घटना प्रधान कथा है जिसमें नारी को व्यक्ति के रूप में नहीं, वस्तु के रूप में व्यवहृत किया जाता है। नारी बेचने और खरीदने की वस्तु बन कर रह गई है। कृष्णा सोबती का यह पहला उपन्यास है जो 1958ई में प्रकाशित हुआ था। उपन्यास की पृष्ठभूमि पंजाब है। इसमें पंजाब की भाषा, संस्कृति तथा रूढ़िगत परम्पराओं से युक्त स्त्री जीवन की एक दुःख भरी दास्तान है। इसमें एक स्त्री पात्र के माध्यम से लेखिका ने उसके भटकाव, भावनात्मक चोट तथा हृदय विदारक दर्द एवं शोषित परिस्थितियों का वर्णन किया है। उपन्यास के केंद्र में पाशो नामक चरित्र है। पाशो रूढ़िबद्ध मध्यम दर्जे के परिवार की सीधी–सादी अल्हड़ युवती है, जहां लड़की का पैदा होना ही एक अभिशाप साबित होता है। पाशो की मां खत्री होने के बावजूद शेख को बैठ जाती है, अतः वह पीहर वालों को फूटी आंख भी नहीं भाती। पाशो को अपनी मां के चारित्रिक दोष के कारण दोहरी मार झेलनी पड़ती है। एक तरफ तो यौवन में

प्रवेश दूसरी तरफ उस मां की बेटी जिसका परिवार की नजर में कोई चरित्र नहीं, जिसके कारण पाशो को तमाम यातनाओं को सहना पड़ता है। वह जब भी अपनी नानी के साथ ठाकुरद्वारे जाती तो नानी उसके हाव–भाव से चिढ़कर तीखे स्वर में कहती –

''रब्ब तुझे संभाल, अरी कपड़ा नीचे रखाकर।''

पुराने संस्कारों में जकड़े परिवार में लड़की को अपनी भावनाओं को दबाकर पड़ता है। पर पाशो की भावनाओं और आकांक्षाओं को तो कुचल दिया गया है जिससे पाशो के जीवन को कोई आधार ही नहीं दिखाई पड़ता। छोटी–छोटी बातों पर भी उसे यातना सहनी पड़ती है। कुएं से पानी भरकर लाते समय वह अपनी मामी के व्यंग्य बाणों का शिकार होती है –

''पसार छूने लगी – न शर्म न हया।

अरी ओढ़नी अब तेरे गले तक से उठने लगी.....।

मां द्वारा किए गए कर्मों का फल पाशो को भुगतना पड़ता है। उसके जीवन मी चौखट पर मामा–मामी और नानी का कड़ा पहरा रहता है। पाशो के सर में चोट लग जाती है, उस चोट को पाशो छिपाने का प्रयास करती है लेकिन परिवार वालों के शक की सुई पाशो के चारित्रिक दोष पर घूमती है, जिसके कारण तुरंत नाई बुलवाकर उसके सिर को पूरा गुंथवा दिया जाता है। इतना ही नहीं फतेह अली के लड़के करीमू को देखकर जरा सा मुस्करा देने में ही उसकी खैर नहीं। उसे मार तो खानी ही पड़ती है, मेले में ले जाकर जान से मार देने की योजना भी बनाई जाती है। इस बात का पता किसी तरह से पाशो को लग जाता है और वह अपनी जान बचाने के लिए रात के गहन अंधेरे में भर कर, अपनी मां अर्थात शेखों के घर पहुंच जाती है।

लेखिका की औपन्यासिक कलात्मकता अथवा पाशो का जीवन चक्र अब एक नया मोड़ लेता है। शेखों के द्वारा पाशो का ब्याह दीवानजी से कर दिया जाता है। उसका दामन खुशियों से भर जाता है। नौकरानी की जिन्दगी बिताने वाली पाशो मालकिन बन जाती है। दीवान जी की बूढ़ी मौसी का प्यार पाशो के ऊपर सावन की रिमझिम फुहार की तरह बरसता है। वह कहती है –

''अरी लाडो, ऊंचे पलं ग चढ़ आराम कर और बेल बढ़ा दिवानों की .....।''

पाशो दीवान जी के बेटे खुशवंत की मां बनती है। लेकिन विधाता की करनी के आगे किसी की नहीं चलती। दीवान जी की अचानक मौत हो जाती है। पाशो के ऊपर दुःखों का पहाड़ टूट पड़ता है। पति की मृत्यु के बाद पाशो की जिन्दगी एकदम नर्क बन जाती है। हर तरफ, से उसका शोषण होता है और उसे लूटा जाता है।

'मित्रो मरजानी' सोबती जी ने 1966ई. लिखा था। यह स्त्री जीवन की विवादास्पद चरित्र का सर्वाधिक चर्चित उपन्यास है। ब्रजमोहन शाह द्वारा इस उपन्यास का नाटकीय मंचन दिल्ली आर्ट थियेटर में कई बार किया गया है। अतृप्त यौवन की असफलता, असफल मातृत्व, स्त्री की दयनीय दशा, कुंठा तथो रूढ़िगत मनोभावों के चित्रण से इस उपन्यास का ताना–बाना बुना गया है। मित्रो का व्यवहार अजीब है, उसके चरित्र के विषय में उपन्यास के मुख पृष्ठ पर लिखा गया है –

''मित्रो ने विवादास्पद नारी–चरित्र की तरह हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया कि पूरे शिक्षित समाज में इसके प्रति एक जिज्ञासा जागृत हो गई थी। यह न रविन्द्र की ओस जैसी नारी है, न शरत् या जैनेन्द्र की विद्राहिणी गुत्थी। इसे आदर्श का कोई मोह नहीं है, न समाज का भय, न ईश्वर का! इसके लिए किसी विशेषण की आवश्यकता नहीं है। यह मात्र मांस मज्जा से बनी एक नारी है। जिसमें स्नेह है, ममता भी, मां बनने की हौंस भी और एक अविरल बहती वासना सरिता भी।''

पंजाबी भाषा और संस्कृति में रचा, बसा यह उपन्यास पंजाब की आंचलिकता को प्रदर्शित करता है। इसकी भाषा और शैली के विषय में डॉ. सतवंश ने ठीक लिखा है – ''इसकी भाषा श्लील–अश्लील होने का सवाल बेबुनियादी और बेमानी है, ये प्रयोग तो परिवेश जनित यथार्थ को उभारने के लिए किए गए हैं।'' संयुक्त परिवार की कथा की अभिव्यक्ति करता हुआ यह उपन्यास पंजाबी संस्कृति एवं भाषा

की भी अनोखी दास्तान प्रस्तुत करता है। उपन्यास में गुरुदास उसकी पत्नी धनवंती एवं तीन बेटों का परिवार है। बड़ा बेटा बनवारी लाल तथा उसकी पत्नी सुहागवंती, मंझला बेटा सरदारी लाल एवं उसकी पत्नी सुमित्रावंती हे। सबसे छोटा बेटा गुलजारी लाल तथा उसकी पत्नी फूला है। मुख्य रूप से इन्हीं तीनों बेटों और बहुओं को केंद्र में रखकर लेखिका ने उपन्यास का ताना–बाना बुना है। तीनों स्त्री पात्रों का चारित्रिक बहाव अलग–अलग दिशाओं में हुआ है।

'यारों के यार' औपन्यासिक कला की दृष्टिकोण से यह लघु उपन्यास है। इसका प्रकाशन 1968ई. में हुआ था। यह उपन्यास दफ्तर में काम करने वाले क्लर्कों के जीवन के यथार्थ को चित्रित करता है। बाबू की नौकरी करने वालों के दैनिक कार्यों, उनके जीवन की सच्चाई, उनमें व्याप्त भ्रष्टाचार, विवशता आदि को इसमें पूर्णरूपेण उभारा गया ह। यह भी बोल्ड रचना मानी जाती है। डॉ. संतवंश ने लिखा है कि – ''बोल्ड इस अर्थ में कि दफ्तरी जिन्दगी के भीतर चलने वाले लेन–देन, ठेंके, कमीशन के शाही धन्धों की परतों को कलम के तेज अस्त्र से काटकर सब कुछ नंगा करके सामने रखा गया है।''

बड़े बाबू को बड़े साहब ने नौकरी से निकाल दिया था। वे भवानी बाबू को बुलवाकर नौकरी से अलग करने का फरमान दे ही रहे थे कि भवानी बाबू के बेटे के सिर में गंभीर चोट लगने का समाचार आया। भवानी बाबू अभी दफ्तर में ही थे कि बेटे की मौत का समाचार आ गया। इस दुखद समाचार पर सभी क्लर्क भवानी बाबू के साथ उनके घर जाते हैं पर बड़े साहब कार में बैठकर अपने घर चले जाते हैं। भवानी बाबू का पूरा परिवार बेटे की मौत से दुःखी है।

भवानी बाबू को एक तरफ बेटे की मौता का गहरा आघात, तो दूसरी तरफ नौकरी जाने की चिन्ता। उहापोह की स्थिति में वे दूसरे दिन दफ्तर पहुंच जाते हैं। उनका दफ्तर आना अन्य क्लर्कों को कुछ अच्छा नहीं लगता। जैसे ही भवानी बाबू ग्यारह बीस पर बड़ें साहब अवस्थी के पास जाते हैं तो अन्य क्लर्कों की आपसी फिकरेबाजी शुरू होती है। ठेठ मर्दानी गालियां, आपसी झडपें, रिश्वत के चर्चे, कबीला परस्ती इन्क्वायरी और तरक्की के भेद आदि। आज के इस भ्रष्ट समाज में आदर्श सच्चाई और निष्ठा आदि का कोई मूल्य नहीं है। पैसा और तरक्की के लिए निकृष्ट से निकृष्ट काम भी लोग कर सकते हैं।

सरदार हजारा सिंह प्याराा सिंह ठेके, टेन्डर आदि लेने के लिए तरह–तरह की पिकनिक, पार्टियों आदि का आयोजन करता है। जिसमें वह खानपान के साथ लड़कियों का भी इन्तजाम करता है। बन्द लिफाफे में नकदी देता है और स्वागत के लिए मन में गुलाब के फूल होते हैं। चांदी की तस्करी में सोने की कतरनों से लेकर बनारस ब्रोकेड, नटराज की मूर्ति व ताकत की गोलियां उपहार में दी जाती है। गोकुल भाई का बहनोई साबुत सीनियर मिनिस्टर है इसलिए उसे कम्पनी के डायरेक्टरों में सम्मिलित किया जाता है और उसके दामाद तनसुख राय जैन को न्यू–इरा इन्टरप्राईजेस का मैनेजर बनाया जाता है। अवस्थी के स्थान पर आने वाले नए बॉस को हर तरह का उपहार पेश किया जाता है। इस उपन्यास में जहां एक ओर ऊंचे ओहदे वाले, भ्रष्टाचार और कूटनीति में लिप्त हैं वहीं दूसरी ओर क्लर्को का अपना सीमित दायरा है। वे जानते हैं कि हर फाईल समन्दर है। जाल पड़ते ही माल ही माल आएगा पर हमारे हाथ कुछ भी नहीं लगेगा।

उपन्यास के विवेचन से स्पष्ट है कि क्लर्क नहीं चाहते कि उनकी आने वसली पीढ़ी भी क्लर्की करे। उनकी अपनी जिन्दगी तो क्लर्क की कुर्सी और पेन्शन से गुजर जाएगी, पर अपने बच्चों को वे इस पेशे से दूर रखना चाहते हैं। इसी दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए मायूस सूरी कहता है – ''इस उम्र मे ंतो हमारा तुम्हारा छुटकारा तो होने से रहा, हां अपने–अपने लड़कों को अच्छे स्कूल कॉलेजों में पढ़ाओ, सालो, नही ंतो इन्हीं अफसरों के लौंडे तुम्हारे बच्चों के गलों में भी नाखून देंगे और किस्मत के मारे वे भी इन्हीं कुर्सियों पर बूढ़े हो जाएंगे।'' पुनः सूरी को एहसास होता है कि यह तो महज एक स्वप्निल उड़ान है। वह स्वप्न तो देखता है पर अपनी आर्थिक व्यवस्था के तहत उसे सब कुछ अधूरा लगता है। वास्तविकता तो कुछ और ही है। तंगी बदहाली ही उनके परिवार की नियति बन चुकी है।

अपनी परिस्थितियों की विवशता को वे गालियों आदि के द्वारा प्रकट करते हैं परन्तु परिवर्तन नहीं ला सकते।

अंत में व्यवस्था तंत्र में पिसते हुए, गहराते हुए दर्द के साथ कथा का समापन होता है। यह उपन्यास दफ्तरी जीवन की कारगुजारियों को खोलने वाला है। लेखिका ने दफ्तर में होने वाले दिन प्रति दिन की कारगुजारियों को इतनी सफाई और सच्चाई से उभारा है कि जैसे लगता है कि सब कुछ आंखों के सामने घटित हो रहा है।

'तिन पहाड़' कृष्णा सोबती द्वारा रचित उपन्यास सन् 1968 में प्रकाशित हुआ। यह लघु उपन्यास दार्जिलिंग की प्राकृतिक छाटा को व्याख्यायित करता है। इस उपन्यास में तीन पात्र हैं – जया, श्री दा और तपन। इन पात्रों के माध्यम से लेखिका ने प्रेम को संवेदनात्मक रूप में रूपायित किया है। अन्य उपन्यासों के नारी पात्रों की अपेक्षा इस उपन्यास के नारी पात्र में कुछ विशेष बदलाव की स्पष्ट झलक दिखाई पड़ती है। कृष्णा सोबती के अन्य उपन्यासों में स्त्री पात्र जिस तरह पीड़ा, संघर्ष और शोषण का शिकार होते हुए कभी हार नहीं मानते तथा पारिवारिक साहचर्य को बनाए रखते हैं इस उपन्यास में वे भाव नहीं हैं। नायिका संघर्ष तथा जीवन के मूल्यों से हार मान जाती है, जिसका अन्त दुःखान्त होता है।

जया का पालन–पोषण बचपन से श्री दा की मां ने किया। श्री दा और जया के बचपन का आपसी लगाव आगे चलकर युवावस्था में प्रेम में परिवर्तित हो जाता है। दोनों के प्रेम संबंधों को वैवाहिक बंधन में बंधने की अनुमति भी मां से मिल जाती है, पर दुर्भाग्य से उपन्यास में एक मोड़ आ जाता है। श्री दा को विदेश जाना पड़ता है। वे जब विदेश से वापस आते हैं तो किसी विदेशी लड़की से शादी करके, उसका नाम एडना है। जया के लिए एडना और श्री दा का विवाह वज्रपात की तरह था। इस कड़वी सच्चाई की मुकाबला न कर पाने की स्थिति में जया दार्जिलिंग चली गई। दार्जिलिंग में उसकी मुलाकात तपन नामक व्यक्ति से होती है। दोनों साथ–साथ घूमते–फिरते हैं दोनों में एक प्रकार का अनचाहा आकर्षण भी है लेकिन जया श्री दा को नहीं भूलती।

'तिन पहाड़' की कथा भावात्मक है। प्रतीकात्मक शैली होने के साथ–साथ उपन्यास पर वर्णनात्मक शैली की छाप भी दिखाई देती है। कृष्णा सोबती 'यारों के यार' में यदि मर्दाने तेवर में उपस्थित हैं तो 'तिन पहाड़' में प्राकृतिक सुन्दरता, भावात्मक तथा संवेदनात्मक वर्णनों में रमती हुई दिखाई देती है। दार्जिलिंग की प्राकृतिक छटा के वर्णन की भरपूर कोशिश उपन्यास में दिखाई देती है। 'तिन पहाड़' में कहानी कम कविता का रूप अधिक दिखाई पड़ता है। इसमें भावों की मधुरता, संवेदना, कृतिमता और सपनों की दुनिया का रचाव बसाव झलकता है। जया के माध्यम से लेखिका ने एक प्रेम भरी कहानी प्रस्तुत की है जिसका अन्त दुःखान्त है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. कृष्णा सोबती, डार से बिछुड़ी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1958
2. कृष्णा सोबती, मित्रो मरजानी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1966
3. कृष्णा सोबती, यारों के यार, तिन पहाड़, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1968
4. अरविन्द जैन, औरत, अस्तित्व और अस्मिता, सारांश प्रकाशन, दिल्ली, 2000
5. किरण कुमारी, वैदिक साहित्य और संस्कृति, न्यू भारती बुक कॉरपोरेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण
6. राकेश कुमार, नारीवादी विमर्श, आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा, 2001
7. शिवनारायण श्रीवास्तव, हिंदी उपन्यास, सरस्वती मंदिर प्रकाशन, वाराणसी, 1959
8. विमला शर्मा, साठोत्तर हिंदी उपन्यास में नारी के विविध रूप, संगम प्रकाशन, इलाहाबाद, 1958
9. शीला रजवार, स्वातन्योत्तर हिंदी कथासाहित्य : बदलते सामाजिक संदर्भ, इस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली 1989

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

''मनीषा कुलश्रेष्ठ के स्वप्नपाश में नारी अस्मिता''

डॉ0 अरुण कुमार मिश्र
असिस्टेंट प्रोफेसर हिंदी
एमडीपीजी कॉलेज प्रतापगढ़

मनीषा कुलश्रेष्ठ का स्वप्नपाश उपन्यास स्किज़ोफ्रेनिया पर केंद्रित है। तिथि क्रम में तो यह 2016 में प्रकाशित उपन्यास है। उपन्यास के क्षेत्र में यह एक अनूठा प्रयोग है ;जहां पर क्रिएटिव लोगों के जीवन की दुनिया और उनकी सभ्यता का तार्किक विश्लेषण किया गया है ।यहां कथाकार एक मनोचिकित्सक के रूप में प्रस्तुत होती हैं। वह दिखाना चाहती है कि हमारे नायक में जो कि मनोरोगी है, किस प्रकार से उसे विभिन्न अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है?और उन स्थितियों में उसे किन–किन लोगों ने शोषण किया। किस हद तक शोषण किया, उन सब का भी वह चित्रण करती है। इस कहानी का लब्बो–लुबाब यह है कि, प्रेमी युगल में किसी एक को कोई बीमारी हो जाए, उस पर यदि पता चले कि मरीज का डॉक्टर ही उसका प्रेमी है और बीमारी मनोवैज्ञानिक है, तो रोचकता और बढ़ जाती है। इसकी कथा की संरचना में मनीषा कुलश्रेष्ठ ने आर्टमेजिया कि एक रोचक कहानी का सहारा लिया है। जिसका रहस्य पाठक को सब कुछ जान लेने के बाद भी अधूरा ही लगता है। जो वैश्वीकरण की अदम्यता और अपरिहार्यता के मध्य प्रकाशित हुआ है। ध्यातव्य है कि वैश्वीकरण अपने दो अनिवार्य घटकों शहरीकरण और विस्थापन के द्वारा पारिवारिक ढांचे को ध्वस्त करता है। मनोचिकित्सकीय संदर्भों को ग्रहण किया जाए या शोधों का हवाला दिया जाए तो शहरीकरण स्किनजोफ्रेनिया के होने की दर को बढ़ाता है और पारिवारिक ढांचे में विखराव होने के कारण इस रोग से मुक्ति पाने में बाधा पहुंचती है। इस उपन्यास की नायिका गुलनाज़ फरीबा है; जो पिछले ढाई दशकों में बने ग्लोबल गांव की एक बेटी है और वह भी इस स्किजोफ्रेनिया जैसे रोग से पीड़ित है। आधुनिक जीवन, कला और मनोविज्ञान, मनोचिकित्सा की बारीकियों को सहज़ता से चित्रित करती यह कथावस्तु केवल गुलनाज़ फरीबा की कहानी नहीं है; बल्कि इस वैश्वीकरण के दौर में हर उस स्त्री की भी कहानी है, जो वैश्वीकरण के अनिवार्य घटकों से परिवार से अलग होकर इस बीमारी से ग्रस्त होती है।स्किज़ोफ्रेनिया एक प्रकार का मानसिक विकार है। जो आमतौर पर देर से किशोरावस्था या जल्दी वयस्कता में प्रकट होता है। इसमें बीमारी भ्रम, मतिभ्रम और अन्य संज्ञानात्मक कठिनाइयों से होती है। इसमें व्यक्ति को आजीवन उपचार की आवश्यकता होती है। विज्ञान की भाषा में कहा जाए तो यह बीमारी सर्वाधिक रूप में 16 से 30 वर्ष की उम्र के बीच होती है ।इसमें नरों में महिलाओं की तुलना में थोड़ी छोटी उम्र में लक्षण दिखते हैं।कई मामलों में विकार इतनी धीमी गति से विकसित होता है ।व्यक्ति यह नहीं जान पाता, कि उन्हें कई सालों से यह बीमारी है।हालांकि अन्य मामलों में यह अचानक विकसित हो सकता है, और इसके लक्षण जल्दी से लिखकर खेलने लग जाते हैं। इस रोग में लोग वास्तविकता को भी असामान्य रूप से व्याख्या करते हैं। इस बीमारी से पीड़ित इंसान वास्तविक और काल्पनिक वस्तुओं को समझने की शक्ति खो बैठता है और उसकी प्रतिक्रिया परिस्थितियों के अनुसार नहीं होती है। कभी–कभी तो इंसान इस कदर निराश हो जाता है कि उसे आत्महत्या के अलावा कोई दूसरा रास्ता भी नहीं दिखाई देता है। इस बीमारी में मरीज को हमेशा किसी के होने का अंदेशा रहता है अथवा फिर उसे ऐसी आवाज सुनाई पड़ती है, जिसका वास्तविकता से लेना देना नहीं होता है। कई मरीजों में यह लक्षण साफ देखे जा सकते हैं, लेकिन कई रोगियों में ऐसा दिखाई नहीं पड़ता है। मनोचिकित्सकों का मानना है कि, अलग–अलग मरीज में अलग–अलग तरह के लक्षण भी दिखाई पड़ते हैं। इससे ग्रसित मरीज अपनी देखभाल नहीं कर पाते हैं। इसीलिए उनकी दूसरों पर निर्भरता बढ़ जाती है। वहीं कुछ मरीज अपने को बीमार नहीं मानकर इसके इलाज का विरोध भी करते हैं। इस बीमारी की कई कारण होते हैं जिनमें आनुवांशिक कारण, पर्यावरण, दिमाग में न्यूरोकेमिकल का असंतुलन, तनावपूर्ण अनुभव, खराब पारिवारिक रिश्ते और दुर्घटना जैसी कई चीजें शामिल हैं। कभी–कभी तो दिमाग में पाए जाने वाले केमिकल जिन्हें न्यूरोट्रांसमीटर भी कहा जाता है, यह किसी भी व्यक्ति के अंदर असंतुलन हुआ तो स्किज़ोफ्रेनिया जैसी बीमारी किसी भी व्यक्ति को अपनी चपेट में आसानी से ले लेती है। इस बीमारी में ब्रेन में मौजूद केमिकल्स का नाम डोपामाइन और सिरोटोनिन है जिनके असंतुलन से स्किज़ोफ्रेनिया जैसी बीमारी होती है ।

स्किज़ोफ्रेनिया के मरीजों में इस बात का भ्रम होता है कि, जैसे कोई उन्हें तंग कर रहा है अथवा वे स्वयं को ताकतवर समझ बैठने का भ्रम भी पाल लेते हैं। इतना ही नहीं कुछ रोगी अपने में दैविक शक्तियों के

होने तक का एहसास करने लगते हैं। कभी–कभी तो परिवार वालों को लगता है कि इनके ऊपर देवीआ गई है अथवा किसी देवता किसी नर पिशाच या किसी अदृश्य शक्ति ने आसन जमा लिया है। मरीजों को कुछ ऐसी आवाजें सुनाई देती है, जिनका वास्तविक तौर पर सुनाई पढ़ना संभव नहीं है।इसी प्रकार कई तरह के काल्पनिक स्वाद और सुगंध भी उन्हें महसूस होते हैं।इसे चिकित्सक हैलूसिनेशन की संज्ञा देते हैं। ऐसे मरीजों में दैनिक वार्तालाप में एकरूपता की कमी दिखाई पड़ती है। कभी–कभी ऐसे मरीज एक बिंदु से दूसरे बिंदु पर चर्चा करते हुए चले जाते हैं, जिनमें तारतम्यता का अभाव होता है।उन्हें अचानक एक ट्रैक छोड़कर दूसरे ट्रैक पर बातचीत करते हुए चले जाने को लोग स्थिति में बदलाव समझते हैं। कभी–कभी तो कुछ लोग हैरत में पड़ जाते हैं कि, यह अचानक मुद्दे से भटक कर कहां छलांग लगा बैठे। ऐसे मरीजों में प्रायः काम को लेकर मोटिवेशन भी।दिखाई नहीं पड़ता। वह जरूरी कामों को भी करने से बचते नजर आते हैं। उनमें सुख या दुख की घड़ी में उद्‌गार प्रकट नहीं होता; क्योंकि या तो वे उदासीन रहते हैं अथवा तटस्थ नजर आते हैं, जो कि सामान्य स्थितियों के विपरीत होता है। ऐसे मरीज समाज से दूरी बनाकर रहने की आदत डाल बैठते हैं ;क्योंकि उन्हें लगता है कि कोई भी उनको नुकसान पहुंचाने की कोशिश कर सकता है, इसीलिए वह इस कदर अपने दिमाग में पल रहे भ्रम को सच मान बैठते हैं कि, उन्हें काल्पनिक चीजें असली लगने लगती है और वह दवा इसलिए भी नहीं खाना चाहते क्योंकि उन्हें शक होता है कि, कहीं दवा उन्हें मारने के लिए तो नहीं खिलाई जा रही है। ऐसे मरीजों में ध्यान केंद्रित करने की क्षमता किसी चीज को याद करने की क्षमता या फिर भविष्य के लिए कोई योजना बनाने की क्षमता, काफी धीमी गति में होती है या कम हो जाती है।

इस बीमारी को मनोविदलता या विखंडित मानसिकता भी कहते है। मनोविदलता का अर्थ है मन का टूटना। इसमें रोगी में असामान्य सामाजिक व्यवहार तथा वास्तविक को पहचान पाने में असमर्थता आ जाती है। इसके रोगी में विचार संवेग तथा व्यवहार में असामान्य बदलाव आ जाते हैं। जिनके कारण वह कुछ समय के लिए अपनी जिम्मेदारियों तथा अपनी देखभाल करने में असमर्थ हो जाता है। रोगी प्रायः खुद ही मुस्कुराता या बुद –बुदाता दिखाई देता है। रोगी को विभिन्न प्रकार के अनुभव हो सकते हैं ।उसमें कुछ ऐसी आवाजें सुनाई देती है, जो अन्य लोगों को न सुनाई दे। कुछ ऐसी वस्तुएं या आकृतियां दिखाई देती है जो औरों को न दिखाई दे। या उसके शरीर पर कुछ न होते हुए भी सरसराहट या दबाव महसूस होने लगता है। रोगी को ऐसा विश्वास होने लगता है कि लोग उसके बारे में बातें करते हैं या उसके खिलाफ हो गए हैं या उसके खिलाफ कोई षड्यंत्र भी रच रहे हैं। लोग उसे नुकसान पहुंचाना चाहते हो या फिर उसका भगवान से कोई संबंध हो। कभी–कभी तो रोगी और सामान्य रूप से अपने आप में हंसने रोने या अप्रासंगिक बातें करने लगता है। रोगी अपनी देखभाल और जरूरतों को नहीं समझ पाता।

स्वप्नपाश उपन्यास में गुलनाज़ फरीबा एक चित्रकार है वह भी प्राडिज़ी। प्रॉडिजी का अर्थ है– भोलापन, निश्छलता, सादा होने की अवस्था, गुण या भाव, आचरण, व्यवहार, आदि की निष्कपटता या सीधापन।लेकिन गुलनाज फरीबा के लिए प्राडिजी का अर्थ विशेष गुण या विलक्षण गुण संपन्न व्यक्तित्व से है। ऐसे चरित्र का बाहरी और भीतरी संसार कला की चेतना और आलोचनात्मक समझ के बगैर नहीं रचा जा सकता था। इसमें मनीषा कुलश्रेष्ठ ने गुलनाज फरीबा के मानसिक विदलन और अनोखे सृजनात्मक विकास व उपलब्धियों की कथा कही है। इस कथा में हमें एक बालिका,एक किशोरी और एक युवती के उस आदिम अरण्य में ले जाती है, जहां नर्म और गर्म डिलूशन्स और हैल्युसिनेशन्स का वास्तविक माया लोक है। माया लोक और वास्तविक? जी हां, वास्तविक क्योंकि स्वप्न दुःस्वप्न जिस पर बीतते हैं उसके लिए कुछ भी 'वर्चुअल' नहीं–न सुकून, न सितम। उस पीड़ा की सिर्फ कल्पना की जा सकती है ।

उपर्युक्त तथ्यों में हमने यह देखा कि, स्किजोफ्रेनिया रोग किसी व्यक्ति को क्यों होता है? इसके उत्पन्न होने के कारण क्या है?गुलनाज फरीबा के मां–बाप नृत्य और अभिनय पेंटिंग और चित्रकारी से जुड़े हुए थे। जिसमें मां का अत्यधिक मद्यपान लेना कहीं न कहीं पुत्री गुलनाज फरीबा के लिए नुकसानदायक साबित हुआ और वह स्किनज़ोफ्रेनिया की शिकार हो गई। कहानी की शुरुआत उस युवती के बलात्कार से होती है, जहां एक मनोरोगी का बलात्कार किया गया। यह स्त्री का बलात्कार था या मनोरोगी का लेकिन शरीर पर खरोंच के निशान यही बता रहे थे कि बलात्कारी स्त्री का ही बलात्कार किया है–देश के सारे अखबार फिर एक बार कुछ दिन के लिए एक ही घटना के जिक्र से रंगे गए। टी.वी. के हर चैनल पर डिबेट चल रहे थे।शहर में फिर एक बलात्कार हुआ था। इस बार बलात्कार करने का जिम्मा किसी निचले तबके के अनपढ़ व्यक्ति के सिर पर नहीं था। स्क्रीन पर पढ़े–लिखे अनाम संभ्रांत लोगों का जिक्र चमक रहा था, बिना नाम... कुछ कयास थे। हर बार की तरह लड़की का नाम और चेहरा छुपाया जा रहा था। संभावित बलात्कारी का भी। कुछ भी अभी निर्णायक तौर पर सिद्ध नहीं हुआ था ।लोग कयास लगा कर उन प्रसिद्ध 'आर्टिस्ट मेंकर' तीन अधेड़ो को कटघरे में खड़ा कर चुके थे। एक प्रसिद्ध छायाकार, एक कला दीर्घा का मालिक और एक कला समीक्षक। स्थान भी कौन सा एक बहुत बड़ी कला दीर्घा का कोई सुनसान हॉल।लुटियन की दिल्ली के उस खास इलाके के एक थाने में

एफ आई आर दर्ज की कोशिश हुई...।[1]इस उपन्यास को मनीषा कुलश्रेष्ठ ने डॉ मृदुल सक्सेना की डायरी के रूप में प्रस्तुत किया है। कि उन्हें गुलनाज फरीबा की एक डायरी उनके पते पर आई थी। जिसमें गुलनाज़ फरीबा ने अपने ऊपर घटी घटनाओ का वर्णन किया हैं। डायरी का शीर्षक है–'एक स्किज़ोफ्रेनिक डायरी'– मुझे डाक से मिली इस लंबी नोटबुक पर एक चिपकी हुई चिट पर यही लिखा था।मैं जानता था कि यह गुलनाज फरीबा ही की डायरी थी।डायरी में हस्तलिपि थी तो पढ़ने योग्य, लेकिन दूर से देखने पर अक्षर मरी हुई चीटियों से दिखते थे। यह कहीं अंग्रेजी में थी, कहीं रोमन हिंदी में। कहीं अशुद्धियों वाली देवनागरी में भी; बल्कि कहीं– कहीं शब्द थे ही नहीं। समझाने के लिए वाक्यों के बीच–बीच चित्र बने थे। कहीं पूरे पेज पर चित्रमाला ही थी। जैसे कॉमिक–स्ट्रिप होती है अखबारों में।कहीं नग्न भैरवियों के, गुबरैलों के, भूतों के बोलते हुए चित्र थे, कहीं यौनांगो के भी चित्र थे। अंत के पन्नों पर तीन–चार प्रिंट निकाले हुए चित्र चिपके हुए थे। जिनके नीचे लिखा था, आर्टेमिजिया सेल्फ पोर्ट्रेट, सूजैन एंड एडल्ट्स और द रेप ट्रॉयल। इस डायरी को समझना किसी रहस्य को खोलने से कम न था। मैंने कुछ कोशिश की है... इस डायरी को डिकोड करने की –ड़ॉ मृदुल।[2]यह कथा तो मृदुल सक्सेना ने जो की एक मनोचिकित्सक है ने उस डायरी का संदर्भ लेते हुए प्रस्तुत की है। लेकिन गुलनाज फरीबा डॉ मृदुल सक्सेना के संदर्भ में लिखती है कि–डॉ मृदुल सक्सेना से मिलना मेरे लिए संयोग था। मैं एक पोर्टल श्स्किजोफ्रेनिया बुलेटिन पर अपनी बीमारी की दवाओं के बारे में पढ़ रही थी। वही मुझे डॉक्टर मृदुल का आर्टिकल मिला। श्क्या टॉक थेरेपी स्किज़ो के मरीजों को ठीक कर सकती है।श इस विषय पर उन्होंने बहुत खोलकर, एक उम्मीद जगाने वाला लेख लिखा था।किन्ही सी.बी.टी. तकनीक्स का जिक्र किया था। कॉग्निटिव बिहेवियरल थेरेपी। जिसमें कई मौखिक–लिखित–प्रायोगिक असाइनमेंट के जरिए बीमार दिमाग को नए ढंग से वास्तविकता का संज्ञान लेने का निरंतर अभ्यास कराया जाता है। डायरी लिखना भी उनमें से एक था। उसमें उनका ई–मेल पता दर्ज था। मैंने एक दिन उनको ई–मेल कर दिया।[3] प्रश्न यह है कि सामान्य जनजीवन में एक मनोरोगी की दिनचर्या कैसी होती है? वह भी जो शिजोफ्रेनिया का शिकार हो, उसके संदर्भ में स्वयं मनीषा कुलश्रेष्ठ स्वप्नपाश उपन्यास की लेखकीय प्रस्तावना में लिखती है कि–शिजोफ्रेनिक लोग भी प्रेम, प्रतीक्षा,शंकाऔर घृणा करते हैं। मगर अतिरेक के साथ। वे भी स्वस्थ लोगों की तरह सौजन्यता के मुखौटे ओढ़ना चाहते हैं और संयम की डोर पकड़ना चाहते हैं लेकिन उनसे यह संभव नहीं हो पाता क्योंकि उनके मस्तिष्क में एक भीषण असमंजस ही नहीं, कई सारी अवास्तविकताये रहती हैं। जिनके चलते वे श्रव्यात्मक एवं दृश्यात्मकमतिभ्रम के शिकार होते हैं। हमारा समाज इस तरह से उन्हें अस्वीकृत करता चला जाता है कि वेअंततः अकेले मरने को या घबरा कर आत्महत्या को बाध्य होते होते हैं। क्योंकि वह इन मतिभ्रमो और अतिरेको के अलावा बिल्कुल वैसे है जैसे कि हम। बल्कि गौर करें तो ज्यादातर साइकोसिस से ग्रस्त वो लोग हैं जो जीनियस है अपनी बुनावट में।वे इतना तेज अपने दिमाग की गाड़ी चलाते हैं कि कंट्रोल खो बैठते हैं।किसी अवास्तविक चीज के अस्तित्व को सच मान लेना बिल्कुल ऐसा है कि आप किसी सीढ़ी से चढ़कर छत तक पहुचो और पता चले कि छत दरअसल है ही नहीं। कई बार हम स्वस्थ लोग अपने से ही भाग जाना चाहते हैं।मगर शिजोफ्रेनिक के लिए यह संभव है कि वह अपने दिमाग से निकल कर कहीं और छुट्टियों का आनंद ले सके।[4]

बात तो स्पष्ट है कि गुलनाज फरीबा एक मनोरोगी है। लेकिन यदि उसके साथ कोई अमानवीय व्यवहार होता है ।उसे नारी समझ कर उसका शोषण किया जाता है, तो स्वाभाविक है कि उस मनोरोगी स्त्री की भी अपनी एक अस्मिता है। अपनी एक पहचान है, और उसके भी अस्तित्व को बनाए रखना होगा। लेकिन पग–पग पर उसका शारीरिक मानसिक शोषण किया गया– मम्मी ने मुझे कत्थक सिखाने के लिए एक अपने गुरु भाई को रखा। वह 45 साल का अधेड़ रहा होगा तब, और मैं दस.. उसने एक रोज धोती खोल कर एक नजारा दिखाया, जिससे मुझे रात भर उल्टियां होती रही। अगले दिन वह फिर हाजिर था और इस बार केवल नजारा नहीं... छुलवाया... फ्रॉक उठाकर मेरी जांघ से। तीसरी बार उसने मेरे उभरते हुए टीसते छोटे ब्रेस्ट दबोच दिए... मैं उस दिन तो गुस्से में आ गई और गुरु जी के लंबे बाल नोच लिए और मुझे घेरने वाली बाह में दांत गड़ा दिए। गुरु जी ने मेरे गाल पर जोर का थप्पड़ दिया। मैं तबले पर जा गिरी और बेहोश। शाम हंगामा हुआ. .. मम्मी को बरगला दिया गया कि गुल को डांस सीखने में जरा दिलचस्पी नहीं बहन जी। देखिए, कितना हमें काटा और बाल खींचे हैं।[5]इस प्रकार हम कह सकते हैं कि नई पीढ़ी की बदलती हुई आकांक्षाओं के अनुरूप मनीषा कुलश्रेष्ठ ने नारी के संघर्षात्मक चरित्र को, उसके आक्रोश के स्वर को, और अधिकारों के प्रति उसकी सजगता को, इस उपन्यास में वाणी प्रदान करने की कोशिश की। उनके समानांतर साहित्य में आने वाले नारी पात्रों को देखने से यही स्पष्ट होता है कि, भारतीय नारी आज नए तेवरों को ग्रहण कर चुकी है।मनीषा जी ने जागरूक नारी की इस नई भूमिका को भलीभांति अपने उपन्यासों में प्रतिबिंबित किया है। और स्त्री संबंधी नई दृष्टि को स्वर देने का प्रयास किया है। इस उपन्यास को पढ़ते हुए चंद्रकांता संतति की याद आ जाती है। जिसे पढ़ते या बचपन में टी.वी. पर देखते हुए हम भी चंद्रकांता या शक्तिमान की तरह स्वप्नलोक में विचरण

करने लगते थे। यह स्वप्नलोक की दुनिया से एक कदम आगे बढ़कर सिजोफ्रेनिया की डायरी बन जाती है। इस उपन्यास की महत्वपूर्ण विशेषता यही है कि, इसको जितनी बार पढ़ेगे, उतनी ही बार और उतनी ही घनीभूत मात्रा में उद्वेलित होंगे। नायिका के साथ रोते –बिलखते हैं। उसके जीवन को जितना अपना बना लेते हैं, उतना लिखते समय लेखिका के साथ हुआ होगा, इसमें कोई संदेह नहीं है। राजेंद्र यादव का प्रसिद्ध लेख आदमी की निगाह में औरतइस संदर्भ में काफी महत्वपूर्ण है।वे लिखते है स्त्री हमारा अंश और विस्तार है। जिसे हमने अपना उपनिवेश बना लिया है। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में दुनियाभर के जो उपनिवेश भौतिक और मानसिक रूप से स्वतंत्र हुए, उनमें स्त्री नाम का उपनिवेश भी है।स्त्री हमारे भीतर है, इसलिए उसका संघर्ष ज्यादा जटिल है, कि विचारों की दुनिया में नितांत मौलिक कुछ नहीं होता जाने–अनजाने विचारों का समाहार होता चलता है जिसे हम अपनी तरतीब देते हैं ।[6]वर्तमान मानव के समक्ष वैश्विक अस्मिता के साथ–साथ अन्य वर्गगत अस्मिता का प्रश्न भी उठ खड़ा हुआ है। बैयक्तिक अस्मिता में जहां नारी अस्मिता का प्रश्न उठता है। वहीं पर अन्य कई प्रकार के अस्मिताओं के प्रश्न भी उठ खड़े हुए। अस्मिता प्राप्त के संघर्ष का प्रारंभ अपने वंचित, पीड़ित और प्रताड़ित होने के अनुभव से शुरू हो जाती है।जिसमें अपनी पहचान को प्राप्त करना, जिसमें अपनी खोई हुई अस्मिता को, अपने खोए हुए की तलाश को प्राप्त करना, सबसे बड़ा उद्देश्य हो जाता है। कोई भी पुरुष हो या स्त्री जब अधिकारों से वंचित हो जाता है, तो उसे अपने उसी अधिकार को वापस लाने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। स्त्रियों के लिए उनकी इज्जत, उनका सम्मान, उनका स्वाभिमान ही वापस लाना एक प्रकार से अस्मिता है। और अगर उनकी इज्जत, उनके सम्मान, उनके स्वाभिमान पर किसी भी प्रकार से प्रहार किया जाता है, तो स्वाभाविक तौर पर उनकी अस्मिता असुरक्षित हो जाती है। अस्मिता प्राप्ति का संघर्ष प्रताड़ना झेलने और अपमान होने पर उभरता है और अंततः एक दिन अपनी पहचान को प्राप्त करने के लिए उग्र रूप धारण करना पड़ता है। आज की नारी आत्मविश्वास से भरपूर है वह अपने अधिकारों के प्रति सचेत हैं। अपने अधिकारों को हासिल करने के लिए वह संघर्ष भी करती है।अपने उत्तरदायित्व को वह पूर्ण रुप से निभाती है। यह सच है कि आधुनिक नारी में चेतना आई है, और वह आगे बढ़ रही है। साथ ही साथ उसके सामने अनेक चुनौतियां भी हैं। नौकरी करने वाली नारियों को भी अनेक तरह के शोषण सहना पड़ता है। वह चाहे मानसिक शोषण हो या शारीरिक शोषण। डॉ. विद्यानिवास मिश्र ने स्त्री जीवन की तुलना नदी से की है।[ष] जिस प्रकार नदी निरंतर बहती रहती है और ऊंचाइयों के लोगों को छोड़कर बहुत निचली ढलान की ओर बहती है। उसी प्रकार नारी धीरे–धीरे अपने पिता अपने पति से संतान की ओर अधिक अभिमुख होती हुई, उसी के सुख के लिए जीती है। इसी में ही नारी अपनी पूर्ण सार्थकता समझती है।[7]

संदर्भ –

1. मनीषा कुलश्रेष्ठ– स्वप्नपाश उपन्यास, किताबघर प्रकाशन, अंसारी रोड, दरियागंज नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2016, पृष्ठ 5
2. वही पृष्ठ 48
3. वही, पृष्ठ 91
4. वही, पृष्ठ 134, 135
5. स्वप्नपाश उपन्यास पृष्ठ 14
6. रेखा कस्तवार–स्त्री चिंतन की चुनौतियां, राजकमल प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, संस्करण 2016, पृष्ठ 160
7. दिग्दर्शक, मार्च 2003, पृष्ठ 33

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

भारत में संस्कृत का अतीत, वर्तमान और भविष्य

डॉ0 अजित कुमार जैन

एम0ए0 (संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, अर्थशास्त्र)
आचार्य (जैन दर्शन), एल0एल0बी0, पीएच0डी0
एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष संस्कृत विभाग,
एस0बी0 कालेज, अलीगढ़

संस्कृति का संरक्षण और संस्कारों का शिक्षण केवल संस्कृत से ही सम्भव है। ऋग्वेद में वर्णित 'मनुर्भविजन या दैव्यं जनम्'[1] अर्थात् मनुष्य वनों और दिव्यजनों को उत्पन्न करो, यह शाश्वत उद्घोष बिना संस्कृत के कोरी कल्पना रह जायेगा। भारत ''जगद्गुरु'' रूप में ज्ञान के आधारपर ही हो जाता है। विज्ञान और उसकी खोज विदेशों में है किन्तु ज्ञान का निधान भारत में है यह भी सत्य है कि बिना ज्ञान के विज्ञान किस काम का।

प्रसंगतः इस आलेख में संस्कृत साहित्य और भाषा के त्रैकालिक अतीत वर्तमान और भविष्य के स्वरूप और उपादेयता पर विचार किया जाना समीचीन है यह निम्नवत् है–

संस्कृत का अतीत– संस्कृत के गौरवशाली अतीत पर दृष्टिपात करने पर मुझे अत्यंत गौरव और गर्व की अनुभूति होती है। संस्कृत वाङ्मय वेद, वेदांग, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, उपवेद, स्मृति, पुराण समस्त वैदिक साहित्य (2) लौकिक संस्कृत के प्राणरूप रामायण और महाभारत महाकाव्य, (3) दर्शन से परिपूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता, (4) व्याकरण में अष्टाध्यायी (5) ज्योतिष में वृहजातक वृहत्संहिता, (6) जातक पारिजात, (7) आदि अनेकशः क्षेत्र और अनेकशः विधाओं में प्रचुर साहित्य विद्यमान है। सारतः, संस्कृत समग्रता से परिपूर्ण अमृत कलश है। उक्त के अतिरिक्त कोई भी लौकिक विषय प्रौद्योगिक अभियांत्रिक चिकित्सा, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, जन्तु विज्ञान, गणित– अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित, अंतरिक्ष विज्ञान, सैन्य विज्ञान, कृषि विज्ञान, खगोलशास्त्र, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, शिल्पशास्त्र, वास्तुशास्त्र, पर्यावरणशास्त्र, प्रबन्धन, वाणिज्य आदि।

ऐसा नहीं है जो संस्कृत के महामहनीय आचार्यों से चिन्तन–मनन और लेखन से छूट गया हो। संक्षेप में निःसंदेह यही कहना चाहूँगा कि संस्कृत का अतीत स्वर्णिम रहा है जो आज तक मानव मात्र के जीवन को अनुप्राणित कर रहा है और मानव को सच्चे अर्थों में मानव बनाते हुए जीवन जीने की कला सिखा रहा है।

संस्कृत का वर्तमान– यद्यपि वर्तमान शब्द समय सापेक्ष है क्योंकि जो आज वर्तमान कहा जा रहा है वह कल होते ही अतीत बन जायेगा। मैं यहाँ कोई कालक्रम का निर्धारण नहीं कर रहा हूँ किन्तु इस लेखन के सन्दर्भ में भारत के स्वातन्त्र्योत्तर काल से वर्तमान अभिप्रेत कर लें, ऐसा ही आशय है।

इस कालावधि पर संस्कृत के लेखन, प्रकाशन, पठन–पाठन पर दृष्टि करें तब यह सिद्ध होगा कि संस्कृत के स्वर्णिम अतीत को हम रजत होते देख रहे हैं। मैं अत्यन्त मंगल उद्घोष 'तन्मंगलम्

यत्रमनः प्रसन्नम्''[8] अर्थात् जहाँ मन प्रसन्नता का अनुभव करे वही मंगल है, का अनुसरण कर कहूँगा कि वर्तमान में भी अनेकों संस्कृत काव्य की विधाओं– महाकाव्य, खण्डकाव्य, चरितकाव्य, चम्पूकाव्य, गद्यकाव्य, कथाकाव्य, नीतिकाव्य आदि में प्रचुर मात्रा में लिखा जा रहा है। अनेकों स्वनामधन्य संस्कृत के विद्वान इस परम्परा को वधि रूप से गति दे रहे हैं। जिनके द्वारा स्वातंत्र्योत्तर भारत के जीवन की प्रमुख समस्याओं– आतंकवाद, पर्यावरण प्रदूषण, बालविवाह आदि समसामयिक विषयों का लेखन का विषय बनाया जा रहा है।

वर्तमान में, अत्यन्त हर्ष की अनुमति है कि यूनेस्को में ऋग्वेद की प्राचीन पाण्डुलिपियों को सांस्कृतिक धरोहरों की सूची में स्थान दिया है। भारतीय संविधान की आठवें अनुसूची में संस्कृत को स्थान दिया है। भारत में संघलोक सेवा आयोग द्वारा आयोजित परीक्षाओं में संस्कृत स्वतंत्र विषय के रूप में प्रस्तावित हैं राज्यों के लोक सेवा आयोगों में भी संस्कृत प्रस्तावित है। भारतीय विश्वविद्यालयों में प्रायः सर्वत्र संस्कृत विभाग अध्ययन की सुविधा दे रहे हैं। वर्तमान में भारत में लगभग 17 विश्वविद्यालय– सम्पूर्णानन्द संस्कृत वाराणसी, लाल बहादुर शास्त्री संस्कृत विश्वविद्यालय दिल्ली, कामेश्वर संस्कृत विश्वविद्यालय दरभंगा इत्यादि केवल संस्कृत विषय के विविध आयामों का पठन–पाठन कराते हैं और वह भी केवल संस्कृत माध्यम से लगभग 50 मासिक/त्रैमासिक पत्रिकाएँ, शोध पत्रिकाएँ, समाचार पत्रों का प्रकाशन नियमित रूप से संस्कृत में हो रहा है। आकाशवाणी और राष्ट्रीय दूरदर्शन से संस्कृत में समाचार नियमित प्रसारित किए जा रहे हैं। आज उ0प्र0 के लखनऊ वाराणसी, इलाहाबाद आदि शहरों में अनेकों परिवारों में, कर्नाटक के चिकमगलूर के कुतकापर्की, मुन्तूर में, मध्यप्रदेश के नरसिंहपुर के मोहद में हिमाचल प्रदेश के चिनारी में राजस्थान के वांसवाडा के छोटी सादड़ी में आदि कई भूभागों में संस्कृत बोलचाल की भाषा के रूप में प्रयुक्त की जा रही है।

वर्तमान में संस्कृत अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर ही लहरा रही है। अमेरिका में विश्वविद्यालय के कोर कोर्स में गीता अनिवार्य पाठ्यक्रम में है। यूरोप में विश्वविद्यालयों में संस्कृत विभाग स्थापित किए जा रहे हैं। ऑक्सफोर्ड में शोधस्तर तक की शिक्षा संस्कृत में उपलब्ध है। नासा ने त्रुटि हीन सम्पूर्ण व्याकरणीय भाषा होने के कारण कम्प्यूटर में प्रयुक्त किये जाने हेतु समर्थन किया है।

उपरोक्त से यह सुस्पष्ट प्रमाणित है कि संस्कृत सरिता पठन–पाठन, प्रचार, प्रसार, शिक्षण शिविर, सम्भाषण शिविर, संगोष्ठी, सम्मेलन आदि के रूप में वर्तमान में प्रवाहित है।

संस्कृत का भविष्य : यहाँ में सहज भाव से स्वीकार करना चाहता है कि जिस संस्कृत वाङ्मय का समुन्नत समृद्ध शब्दकोष, प्रचुर साहित्य, प्रचुर शोध, उच्चकोटि के संस्कृत मनीषी समस्त दुर्लभतायें भी मूर्त रूप में सुलभ होते हुये भी इसके भविष्य क्षितिज पर अंधेरे के बादल तो दिख रहे हैं।

इसके कई कारण आज से ही दिखने लगे हैं। सर्वप्रथम, संस्कृत और संस्कृतज्ञों के प्रति शासन स्तर पर वांछित सक्रियता नहीं है। संस्कृत अध्येताओं के लिए छात्रवृत्ति खासकर सवर्ण वर्ग के लिए कहीं से प्राप्त नहीं है। संस्कृत के पठन–पाठन के लिए छात्रों की प्रतिवर्ष संख्या प्रायः घटती हुई है। संस्कृत आज केवल अभ्यास भाषा के रूप में रह गई है। संस्कृत आज अत्यल्प रूप में व्यवहार भाषा के रूप में सिसक रही है जो भविष्य में शून्य स्तर पर ही रह सकता है। संस्कृत की रचनाशीलता में कभी नहीं है। किन्तु पठनशीलता की कमी के कारण पहचान बने रह पाना भी दुष्कर दिख रहा है। संस्कृतज्ञों का भी संस्कृत के प्रति उपेक्षा भाव है। वर्तमान संस्कृत साहित्य अभी मंत्रालयों में प्रचुर रूप में संगृहीत उपलब्ध नहीं है आगे आने वाली पीढ़ी इस अनुदान को कैसे जान पायेगी। संस्कृत जानने वालों की

संख्या जब पूरे वैश्विक स्तर पर नहीं होगी तब तक कम्प्यूटर में प्रयुक्त होना संस्कृत का कैसे व्यवहार्य होगा। भावी पीढ़ी संस्कृत के पठन–पाठन के लिए उत्साहित और आशान्वित नहीं है क्योंकि यह रोजगार परक नहीं रह गई है। केवल शिक्षक या कर्मकाण्ड के विद्वान धर्माचार्य जैसा ही रह गयी है।

सुझाव

मैं यहाँ के देदीप्यमान भविष्य का सुनहरा सपना देख रहा हूँ जिसको साकार करने हेतु सुझाव देना चाहता हूँ कि केन्द्र सरकार/राज्य सरकारों के अधीन जो भी नौकरी उपमानस से सीधी सम्बन्ध रखती हो वहाँ संस्कृत के अध्येताओं की नियुक्ति में प्राथमिकता दी जाये। संस्कृत अध्येता लालच, रिश्वत जैसे दुर्गुणों से प्रायः दूर रहता है। शासन स्तर पर पर्याप्त योजनाएँ संस्कृत के प्रचार–प्रसार, अनुदान, सहायता, छात्रवृत्ति के रूप में बनाई जाये। संस्कृत के शिक्षण को प्रत्येक संकाय कला विज्ञान, वाणिज्य, ललित कला, कृषि प्रौद्योगिकी, प्रबन्धन आदि में कम से कम स्नातक स्तर तक एक विषय (अतिरिक्त विषय)/आधार विषय किसी भी रूप में अनिवार्य किया जाये ताकि अध्ययन के साथ ही सच्चरित्रता भी सुलभ हो। जीवन के समस्त दुर्गुणों का विनाश हो। 'सर्वे भद्राणि पश्यन्तु' के साथ आत्मा से परमात्मा तक की यात्रा सहज हो सके।

संदर्भ :

1. ऋग्वेद – 10/53/6
2. वैदिक साहित्य का इतिहास
3. संस्कृत साहित्य का इतिहास– डॉ0 कपिलदेव शास्त्री
4. श्रीमद्भगवद्गीता– महर्षि वेद व्यास
5. अष्टाध्यायी– महर्षि पाणिनि
6. वृहत्जात, वृहत्संहिता– श्री वराहमिहिर
7. जातक पारिजात– श्री वैद्यनाथ
8. तन्मंगलम् यत्र मनः प्रसन्नम् – गरुड़ पुराण

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

लोकतन्त्र से ही तानाशाही जन्मती है!!!
भारतीय संविधान : क्षेत्रीय राजनीति

डॉ. रोहताश जमदग्नि
भूतपूर्व विभागाध्यक्ष, राजनीतिक विज्ञान विभाग
जीडीसीएम (पीजी) कॉलेज, बहल, भिवानी (हरियाणा)

राज्य वो कपड़े हैं जिसे नागरिक पहनता है। संविधान वो खाना है जिसे नागरिक खाता है अर्थात् राज्य की उत्पत्ति के अन्तर्गत तन्त्रात्मक व्यवस्थाओं ने अनेक स्वरूपों में दस्तक दिए हैं। ***जैसेः राज्य के ईश्वरीय। दैवीय सिद्धान्त में निरंकुश तंत्र अनेक रूपों में देखा। राज्य के शक्ति/पाश्विक सिद्धान्त में राजतन्त्र विभिन्न स्वरूपों में पाया। राज्य के संविदा/समझौता सिद्धान्त में वैधानिक तन्त्र संवैधानिक तन्त्र बहुआयामी चेहरों में समझा। राज्य के मातृक/पैतृक सिद्धान्त में कुलीन तन्त्र/अभिजात तन्त्र पारिवारिक दासता में जन्मा। राज्य के विकासवादी/आधुनिक सिद्धान्त में प्रजातन्त्र व लोकतन्त्र तानाशाही के बदले।*** जैसे लेनिन ने कहा है कि पूंजीवाद की अन्तिम व्यवस्था साम्राज्यवाद है उसी प्रकार तंत्रों के प्राकृतिक चक्कर में तानाशाही के बाद निरंकुश तंत्र आ जाता है। धार्मिक शासन व्यवस्था वाले देश इसका पुख्ता प्रमाण हैं। जैसे : ***मालदीव शरिया कानून पर आधारित कानून व्यवस्था वाला देश है।*** मालदीव दुनिया का नौवा छोटा देश है तब भी ड्रैगन से दोस्ती करके भारत के नाक में नकेल डलवाने के लिए अपने फाइनलू दीप पर चीन का होटल बनवा रहा है और भारत मालदीव की 1988 में, 2014 में, सुनामी व जल संकट में मददगार व सेवादार रहा, इतना ही नहीं, भारत मालदीव पर होने वाले अवैध कब्जों के लिए विदेशियों से दुश्मनी लेता है। ***यह बात इसलिए उठ रही है कि जिसका डीएनए भारत विरोधी हो उसकी आप कितनी ही मदद व सेवा करो मगरवह करेगा भारत विरोधी गतिविधियां ही।*** यह बात भारत व भारतीय जनता ने सोचनी व समझनी चाहिए कि हम विदेशियों के दिए हुए लालच में न फंसे। आजकल भीड़तन्त्र लोकतन्त्र पर हावी है। भारतीय लोकतन्त्र की तानाशाही की ओर धकेलने में यह भीड़ मील का पत्थर साबित हो रही है। हिन्दू राष्ट्र मार्ग प्रशस्त कर रही है। ***उदाहरणार्थ : 1. 75 वर्षों में किसान आंदोलन सबसे लम्बा रहा, 2. 17 राज्यों में किसान की औसतन सालाना आय बीस हजार और कर्ज 74,000, 3. भूमि सुधार संशोधन कानून में संशोधन बिल वापस लिया मोदी ने, न्यायिक नियुक्ति आयोग मामले में पीछे हटे मोदी, सीएए संशोधन बिल संसद में पास करवा लिया लेकिन इससे जुड़े नियम नही बना पाई मोदी सरकार 4. अब तीनों कृषि बिल की वापसी 5. पं. नेहरू के बाद मोदी देश से सार्वजनिक माफी मांगने वाले पीएम*** क्रान्ति का आधार किसान होता है, जानो तो मालूम पड़ेगा किसान आंदोलन नेतृत्वी मोदी की रणनीति की सुपारी लिए मालूम पड़ते हैं। 17 सितम्बर 2020 को तीन बिल पास हुए। 1. पहला कृषि कानून– कृषि उत्पादन व्यापार और वाणिज्य (संवर्धन और सुविधा) विधयेक, 2020। इस कानून के अनुसार मनचाही जगह पर अपनी फसल बेच सकते थे। केवल यहीं नहीं बल्कि बिना किसी अवरोध के दूसरे राज्यों में भी फसल बेच और खरीद सकते थे। इसी के साथ कोई भी लाइसेंसधारक व्यापारी किसानों से परस्पर सहमत कीमतों पर उपज खरीद सकता था। जी हां और कृषि उत्पादों का यह व्यापार राज्य सरकारों द्वारा लगाए गए मंडी शुल्क से मुक्त किया गया था। 2. दूसरा कृषि कानून– इसके अनुसार किसान (सशक्तिकरण और संरक्षण) मूल्य आश्वासन और कृषि सेवा अधिनियम 2020 था। जी दरअसल यह कानून किसानों को अनुबन्ध खेती करने और अपनी उपज का स्वतन्त्र रूप से विपणन करने की अनुमति

देने के लिए था। इस कानून के तहत फसल खराब होने पर नुकसान की भरपाई किसानों को नहीं बल्कि एग्रीमेंट करने वाले पक्ष या कंपनियों द्वारा दी जाती। 3. तीसरा कानून– इस कानून के तहत (आवश्यक वस्तु) संशोधन अधिनियम। जी दरअसल इस कानून के तहत असाधारण स्थितियों को छोड़कर व्यापार के लिए खाद्यान्न, दाल, खाद्य तेल और प्याज जैसी वस्तुओं से स्टॉक लिमिट हटाई जाती। 12 जनवरी 2021 को एससी ने क्रियान्वयन पर रोक लगा दी। कृषि समिति के सदस्य अनिल घनवट किसानी हवाओं में बहकर राजनीतिज्ञ बन गए और मोदी खुद झुके लेकिन देश नहीं झुकने दिया, किसान कानून को बचाने से पहले उन्होंने देश को बचाया, तीनों कानून वापस लेकर पाकिस्तान और खालिस्तान के मंसूबों पर पानी फेरा, मोदी सरकार ने किसान कानूनों को नाक की लड़ाई न बनाकर देश की लड़ाई बनाया।***मैक्यावेली ने कहा है कि उदारता इतनी नहीं कि उदारता कमजोरी दिखे।*** प्रश्न खड़ा है कि अध्यादेश से तीनों बिल संसद में पारित करवाना क्या लोकतान्त्रिक प्रक्रिया कहा जाए। इसका दूसरा पहलू लोकतान्त्रिक व्यवस्था में स्वतन्त्रता का भी है ***जैसेः 1. शिल्पा शेट्टी के पति राज कुन्द्रा पोर्न फिल्मों के चक्कर में संलिप्त मिले। 2. परिणामतः 20 करोड़ अश्लील वीडियो क्लीपिंग मीडिया क्षेत्र में संचालित हैं। 3. अमेरिका, कोरिया, जापान पोर्न फिल्मों के निर्माता व निर्देशक देश हैं इतना ही नहीं, इंग्लैण्ड का सोहो स्थान पोर्न फिल्म बनाने वाला स्थान है 4. अकबई गांव, डबरा तहसील, मध्य प्रदेश में बाल यौवन शोषण शोषित संग व्यस्क लोकतान्त्रिक आजादी का व्यापारिक रूप प्रस्तुत कर रहे हैं।*** चर्चिल ने ठीक कहा था कि भारत आजादी के योग्य नहीं है। इसके नेतागण टुकड़ों में बंटकर भारत नष्ट कर देंगे। बहुसंख्यक किसान तीनों बिलों के पक्षधर थे तो मुट्ठी भर आंदोलनजीवी विदेशी ताकतों के टुकड़ों पर भारत को बर्बाद करने का ठेका पूर्ण कर गए हैं और आगे भी करते नजर आ रहे हैं। क्यों राहुल गांधी चीन सेकिए गए गुप्त सन्धि की जानकारी नहीं देते? कैसे नवजोत सिद्धू का इमरान खान बड़ा भाई है? क्यों इस्लामिक मजहबी की कांग्रेसी लॉबी भारत विरोधी झण्डा उठाए खड़ी है? पं. नेहरू ने ***डिस्वकरी ऑफ इण्डिया*** में लिखा है कि ***1. गुलामी को निजात दिलाने के लिए वर्ण व्यवस्था लाई गई थी ताकि स्वतन्त्रता स्थापित हो सके। 2. धन्धे बंटे। 3. समाज में दर्जे बने :*** क्षत्रिय राजा, ब्राहमण विचारक, वैश्य व्यापारी–किसान, शूद्र अकौशल। ***4. उत्तर वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था जन्म आधारित हुई।*** जातियां आदिकाल में भी थी जैसे–1. देव, 2. दैत्य, 3. दानव, 4. राक्षस, 5. गन्धर्व, किनर, नागराक्षस, ***देवता सुर, दैत्य असुर,*** 1. अदिति से देवता हुए, 2. दिति से दैत्य हुए, 3. दनु से दानव हुए, 4. सुरसा से राक्षस हुए, 5. अरिष्ठा से गन्धर्व हुए बाकी यक्ष किन्नर व नाग भी इसी तरह से अन्यों से हुए क्योंकि जम्बू दीप पर मानव विकास हुआ (1. प्लक्ष, 2. शाल्मली, 3. कुश, 4. क्रौंच, 5. शाक, 6. पुष्कर, 7. जम्बूदीप) अन्य छः दीपों पर नहीं, जम्बू दीप पर कुल बने, कुल जातियों में बंटे,***फिर कालान्तर अम्बेडकर ने दलिस्तान के बदले आरक्षण के माध्यम से जातियों को संविधान में ऐसे स्थापित कर दिया है जैसे अंग्रेजों ने अल्पसंख्यक राजनीति से भारतीय लोकतन्त्र की आयु निश्चित की।*** अल्पसंख्यक राजनीति नासूर है जैसे : ***पंजाब में 60 प्रतिशत सिक्ख 40 प्रतिशत हिन्दू। हिन्दू पंजाब में अल्पसंख्यक हैं और भारत में बहुसंख्यक। अल्पसंख्यक व बहुसंख्यक का दबाव प्रान्त सहन करते हैं और अल्पंसख्यक व बहुसंख्यक का दर्जा केन्द्र देता है मगर अल्पसंख्यक–बहुसंख्यक राज्य व प्रान्त में किसके आधार पर निर्धारित होंगे इस प्रश्न पर भारत का लोकतन्त्र अपनी आयु निर्धारित रखे हुए एक दिन चाहे तो भारत इस्लामिक होगा या अब हिन्दू राष्ट्र*** जंग की शुरुआत किसान आंदोलन की कोख से हो रही है क्योंकि दैनिक ट्रिब्यून बताता है कि ***600 किसान,*** हरियाणा वाटिका की कार्यकारी सम्पादिका रितू वालिया बता रही हैं कि ***400 किसान,*** रणघोष ने ***700 किसानों*** की स्वच्छन्द प्राण दैहिकता का खुलासा किया है। आंदोलनजीवियों का इतिहास तथ्यात्मक परखें : ***1. कैप्टन अमरिंदर साहब की काग्रेस सरकार द्वारा रेल पटरियों पर धरने का समर्थन, 2. मोबाइल टावरों के हमले की पक्षधर, 3. दिल्ली के सीमांती इलाकों की घेराबंदी, 4. राजमार्गों पर घर बनाना, 5. सामूहिक दुष्कर्म करना, 6. मुकेश को जिन्दा जलाना, 7. लखवीर के हाथ पैर काटना 8. निशानशाही लाल किले पर चढ़ाना 9. चरणजीत***

*सिंह चन्नी का लाल किले पर निशानशाही फहराने वाले 83 दंगाइयों को दो–दो लाख से पुरस्कृत करना।*ये लोकतन्त्र की देही पर अधिनायकवाद के पंजों के निशान हैं। ढाई राज्यों के 14 प्रतिशत किसानी आंदोलनजीवी 86 प्रतिशत किसानों के हितों को भट्टी में झौंक गए, ***इतना ही नहीं, संयुक्त किसान मोर्चा की मांगे सुरसा के मुंह की तरह बढ़ती जाती है जब तक हिन्दुत्व का मूल रास्ता साफ नहीं हो जाता*** किसान मोर्चा मोदी को हर चुनाव में हराने के लिए प्रयासरत रहेगा क्योंकि यह विदेशी शक्तियों के लिए कार्यरत है। ***1. एससी मोर्चा से राजमार्ग खाली करवाने के लिए साहस जुटाएगा, 2. एससी ने अपनी विफलता से कृषि कानूनों की वापसी में मदद की है। 3. क्योंकि एससी ने ही कृषि कानूनों के क्रियान्वयन पर रोक लगाई 4. जिससे किसानी आंदोलनजीवी सही साबित हुए 5. मगर एससी समिति की रपट दबाए बैठी है जिस समिति को उसने गठित किया था और जिस रिपोर्ट से कृषि कानूनों की समीक्षा होनी थी 6. जबकि समिति ने मार्च 2021 में रपट एससी को सौंप दी थी 7. एससी ने रपट पर गौर नहीं किया तब भी नहीं जब इस समिति के सदस्य ने इस रपट पर संज्ञान लेने का अनुरोध किया 8. एससी राजमार्ग तक खाली नहीं करवा सकी 9. एससी की नाकामी से लोकतन्त्र भीड़तन्त्र मना 10. भीड़तन्त्र का न्यारा शाहीन बाग के माध्यम से देश अधिनायकवाद का स्वरूप समझ रहा है।*** जड़ता–टकराव लोकतन्त्र का आयाम नहीं, न ही प्रकृति व प्रवृत्ति। संवाद से सहमति, सहमति से समाधान लोकतन्त्र का आधार है। ***आंदोलनजीवी कृषि कानूनों की कमी नहीं बता पाए आखिरकार मोदी ने कहना ही पड़ा कि हम किसानों को समझा नहीं पाए।*** माफी मोदी ने मांगी। किसानों के कल्याण हेतु मोदी प्रतिबद्धता दोहराई। कृषि कानून मोदी ने मुद्दा नहीं बनाया। मोदी ने कृषि बिल पर हार–जीत से नहीं, राष्ट्रहित से वापस लिए हैं। मोदी ने लोकतन्त्र जिंदा रखा। मोदी ने जनता को अपने साथ जोड़ा। ***मोदी समझते हैं बड़े कामों के लिए छोटी बातों की अनदेखी करनी पड़ेगी।*** विदेशी सफल हो रहे तो मोदी पीछे हटे हिन्दुत्व विरोधी षड़यन्त्रों पर मोदी अंकुश लगाने हेतु जानबूझकर अपनी किरकरी करवा रहे हैं। ***अब किसान सोचेः 1. धरना–प्रदर्शन खत्म करें, 2. भारत के शांतिपूर्ण रवैये को बनाए रखे, 3. किसान भारत में हिंसा स्थापित न करें 4. किसान पगडंडी, गली, सड़क व राजमार्ग खाली करें 5. दिल्ली को किसान आजादी प्रदान करें 6.किसान अराजकतावाद का पर्याय न बने 7. किसान अनावश्यक व अव्यावहारिक मांगे बनवाने के लिए लोकतन्त्र का अपहरण न करें 8. भारत विश्व में धूमिल होगा 9. किसान घर व खेत में अपना 100 प्रतिशत दें 10. विदेशियों के मंसूबों को पार उतारने वाले किसान चिन्हित करें और उनसे दूरी बनाए रखें 11. किसानों ने लालकिले की शर्मनाक घटना की निंदा करनी चाहिए 12. निशान–शाही फहराने वालों को किसान वर्ग से खुद किसान निरस्त करके विदेशी एजेंट घोषित करें 13. किसान अपनी साख व विश्वसनीयता स्थापित करें 14. किसान अपनी पहचान व पवित्रता बहाल करें 15. किसान तिरंगा को अपमानित करने वालों को असामाजिक तत्व मानें 16. किसानों को मानना होगा उनका आंदोलन राह भटका 17. किसानों ने मानना चाहिए उनकी वजह से देश संकटग्रस्त रहा 18. किसानों ने सोचना चाहिए रोजगार–व्यापार आंदोलन से प्रभावित रहा 19. किसानों ने धन्यवाद करना चाहिए कि चुनी हुई सरकार ने अपना बड़प्पन दिखाया 20. किसानों ने एससी का आदर करते हुए उसके निर्णय (राजमार्ग खाली करो/सार्वजनिक रास्तों से दूर हटो/आमजन को तकलीफ मत दो) तुरन्त व्यावहारिक रूप देना चाहिए।*** वैसे भी कृषि कानून एससी में विचाराधीन थे, सरकार ने भी कुछ वर्षों के लिए स्थगित कर दिए थे, कानून वैधानिक रूप से प्रभावी भी नहीं थे। दलहन–तिलहन के न्यूनतम समर्थन मूल्यों में निरंतर वृद्धि की है। दलहन–तिलहन उत्पादों में तो लगभग दोगुनी वृद्धि हुई है। लाभकारी मूल्यों पर किसानों से उत्पादों की खरीद बढ़ाई है। मोदी ने अपने नीति निर्णय नियत में पहले भी किसानों के हितों एवं सरोकारों में प्राथमिकता दी है। ***क्यों किसान बहकावे में आते हैं? विपक्ष तो आग में घी डालेगा ही। विपक्षियों की भी कई राज्यों में सरकारें हैं वहां की जनता उनको नोटिस कर रही है। विपक्ष सोचे 70 वर्षों में हमने अन्नदाता आंदोलनजीवी क्यों और कैसे बना दिया न कि मोदी ने कृषि कानूनों की वापसी पर लड्डू खाए। मोदी किसान हितैषी हैं।***

किसान कर्जदार किसके शासन में बना, किसान आत्महत्या किसके शासन में करने लगा ***मोदी तो इन दोनों से निजात दिलाने हेतु तीनों बिल लाया था।*** सरकारों ने पहले भी अपने फैंसले वापस लिए हैं लेकिन यह शायद पहली बार है जब कोई सरकार किसी फैंसले को सही बताने के बाद भी उसे वापस लेने विवश हुई हो। कृषि कानूनों की वापसीने यह सिद्ध कर दिया कि लोकतन्त्र में सही फैंसले लेना और उन्हें लागू करना कठिन होता है, ***इसलिए हिन्दुत्वा हेतु जनमत की नहीं, अधिनायकवाद के हौंसले की जरूरत होती है। मोदी यह नजारा तीसरी बार देख रहे।*** शायद वर्तमान सोच राष्ट्रीय विमर्श में खिलाफ हो गर सही रही तो वर्तमान अनुमान भविष्य का कर्णधार रहेगा। ***लोकतन्त्र में सेवा करनी होती है और अधिनायकवाद में सर्वज्ञता पानी होती है।*** मोदी ने सेवा करके देखली तो माफी मांगनी पड़ी अब सर्वज्ञता बची है क्योंकि मोदी सरकार अच्छी नीयत से कृषि बिल लाई और सोचती रही कि बिलों का गलत नीयत से विरोध हो रहा है इसलिए धोखा खा गई। संघ, राज्य व समवर्ती सूची थी तो केन्द्र ने प्रान्तों के कार्यक्षेत्र में क्यों टांग अड़ाई? क्या यह मोदी का प्रयोग तो नहीं था? ***पंजाब, राजस्थान, छत्तीसगढ़, केरल, दिल्ली ने तीनों बिलों पर रोक लगाई, संविधान बड़ा और मोदी छोटा बनाया अर्थात् राज्य व प्रान्त की लड़ाई में तीनों सूचियों ने निर्णय लिया, इतना ही नहीं, पंजाब व केरल ने तो तीनों बिल निरस्त करके मोदी की सर्वज्ञता पर लाठी मारी*** मोदी ने प्रधान सेवक व चौंकीदार वाली लाठी–कम्बली प्रान्तों ने उतार फेंकी,***क्योंकि भारतीय संविधान के अनुच्छेद एक में साफ लिखा है***–भारत राज्यों का संघ। ***राज्यों की केन्द्र सरकार सिर्फ मोनिटरिंग प्रान्तों की कर सकती है, क्योंकि खेती–बाड़ी राज्य सूची का विषय प्रान्तीय सरकारों के अधीन है।*** किसानों ने अधिनायकवाद व मोनिटरिंग का अन्तर मोदी को समझाया, ***इतना ही नहीं विश्व गुरुता के चक्कर में मोदी विश्वपटल पर हल्के हुए हैं और किसानों के रूप में विदेशी ताकतों ने मोदी को अपनी ताकत दिखाई और आंदोलनजीवियों ने मोदी को संविधान समझाया।*** सुअर अस्तबल में नहीं रह सकता उसी प्रकार आतंकवादी लोकतन्त्र में नहीं रह सकता। पाकिस्तानी सेना प्रमुख जनरल कमर बाजवा व पाकिस्तानी पीएम इमरान के खेल को समझकर ही चलना होगा क्योंकि भारतीय परिस्थितियां लोकतन्त्र के काबिल नहीं रही हैं। 17 नवम्बर 2021 को 33 विधेयक इमरान सरकार ने बाजवा के सहयोग से पारित करवाए। ***इमरान व बाजवा के बीच आईएसआई प्रमुख पद की नियुक्ति में टकरराव था। इमरान आईएसआई के महानिदेशक लेफ्टिनेंट जनरल फैज हमीद को चाहते थे जबकि बाजवा कराची कार्प्स कमांडर लेफ्टिनेंट जनरल नदीम अंजुम की चाहत रखते थे।*** सेना प्रमुख का निर्णय इस नियुक्ति में अन्तिम माना जाता है मगर पीएम की सहमति भी जरूरी है। ***हमीद इमरान का राजनीतिक प्रबन्धन में मददगार रहा और 2018 में इमरान की जीत में सेना का समर्थन था ही।*** बाजवा कार्यकाल इमरान ने बढ़ाकर सेना का एहसान चुकाया***इसलिए सेना प्रमुख ने इमरान सरकार के 33 विधेयक पारित करवाए*** क्योंकि सेना नहीं चाहती कि जब उसे तालिबान के माध्यम से अफगानिस्तान में बड़ी सफलता मिली है तब पाकिस्तान में राजनीतिक अस्थिरता उत्पन्न हो। भारत की बर्बादी हेतु दोनों टकराव को सहमति में बदल गए ताकि तालिबान की तोप का मुख भारत की ओर अफगानिस्तान सरकार की ओर से करवा सके। ***भारत ड्रामेबाजी में उलझा पड़ा है उदाहरणः सलमान खुर्शीद अपनी तत्कालीन किताब में हिन्दुत्व को आईएस व बोको हरम कहता है*** वहीं गुलाम नबी आजाद ने कहा है कि हम भले ही हिन्दुत्व को हिन्दू धर्म की मिलीजुली संस्कृति से अलग एक राजनीतिक विचार माने लेकिन हिन्दुत्व की तुलना आईएस जैसे संगठनों सेकरना तथ्यात्मक रूप से गलत है। ***दोनों का मतलब एक ही है क्योंकि बोको हरम व आईएस ने जितना खून–खराबा किया है उसका शून्य हिन्दुत्व ने नहीं किया।*** यही कह रहा है आजाद अर्थात् भौतिक व आध्यात्मिक रूप से तुलना ठीक है : ***आजाद के परिप्रेक्ष्य में।*** खुर्शीद बताए हिन्दुत्व बोकोहरम होता तो खुर्शीद किताब लिख पाता। ***ईशनिंदा नहीं हो जाती। वाद और त्व में अन्तर करना सीखो।*** वाद का प्रतिवाद होता है। त्व अंग्रेजी में नैस है, नैस–त्व का अर्थ है होना। ***हिन्दू धर्म जड़ नहीं, इसके जन्म में देवदूत की घोषणा नहीं है। वैदिक काल में पहले दर्शन का विकास हुआ। ऋग्वेद के रचनाकारों ने प्रकृत्ति के भीतर एक***

अन्तर–संगीत देखा। उन्होंने प्रकृतिको नियमबद्ध पाया। उन्होंने नियमबद्धता को ऋतु कहा। समाज हेतु आचार शास्त्र बना। उसे सनातन धर्म कहा गया। सनातन जो सदैव है। सनातन वैदिक धर्म का सतत विकास हुआ। उसी विकास को बचाने हेतु हिन्दुत्व बोला जा रहा है, इसलिए हिन्दुत्व की लहर उठी है। *हिन्दू भौतिकवादी हो सकते हैं। हिन्दुओं पर धर्म का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। हिन्दुओं को आध्यात्मिक स्वतन्त्रता है। हिन्दुओं पर धर्मग्रन्थों का बोझ नहीं है। हिन्दू कोई भी विचार अपना सकते हैं। अन्धविश्वास रहित लोकतन्त्र की देन हिन्दुओं की है। हिन्दू धर्म में धर्म के अतिक्रमण की भी परम्परा है।* 1. अम्बेडकर ने *'रिडल्स इन हिन्दुज्म'* में अनेक प्रश्न उठाए। 2. गांधी ने नेहरू को पत्र में बताया था कि हिन्दुत्व बिना उनका जीवन असम्भव है।*हिन्दू धर्म का ध्येय लोकमंगल है।* डॉ. राममनोहर लोहिया कभी न आक्रमण करने वाला मानते रहे। *हिन्दू इस्लाम व ईसाइयत की तरह एक कोशिय नहीं है हिन्दू बहुकोशीय है।* नोटबन्दी, जीएसटी, तीन तलाक, भारत एकीकरण–370, 35 क, राम मन्दिर बनाम भूमि सुधार संशोधन अधिनियम, न्यायिक नियुक्ति आयोग या सीएए का दस्तावेज न बनाने से पीछे हटना, इस तुलनात्मक अध्ययन से मोदी अमर हो गए हैं। मोदी अमर हिन्दू है। मोदी का अमरत्व राष्ट्रीय हिन्दुत्व को स्थापित करने में सार्थक युगों–युगों तक पुनः जाना पहचाना जाएगा।

सन्दर्भ ग्रन्थः–

1. हरिभूमि, 18.11.2021।
2. पायनियर, 19.11.2021।
3. दैनिक ट्रिब्यून, 20.11.2021।
4. हरिभूमि, 21.11.2021।
5. रणघोष, 21.11.2021।
6. हरियाणा वाटिका, 21.11.2021।
7. हाड़ौती अधिकार, 22.11.2021।
8. दैनिक जागरण, 23.11.2021।
9. दैनिक जागण, 24.11.2021।

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

International Terrorism: Causes and Concerns

Nisha Singh
Associate Professor
Department of Psychology
MDPG College, Pratapgarh
Utter Pradesh, India

International Terrorism is a multifaceted, multi-vision, multidimensional that embodies so many dynamic features and characteristics that it has become very complex and difficult to limit in generalized words. "Defining a terrorist or terrorisms not easy when states indulge in terrorist acts they are labeled otherwise. However, if a universal law based on ethics and mortality is obeyed by all, there should be no reason for terrorism". Terrorism employs extreme physical violence to shock the targeted audience, but the psychological impact upon the people at large matters more to them than the physical attack on the victims. Terrorism appears to have increased markedly in the recent years. It poses serious challenge to democratic Societies by putting their liberal systems under stress and pressure. The freedom of action of common citizens is restricted under terrorist threat. This may result in militarization of certain countries and in the weakening of democratic processes in others.

The US state department defines terrorism as "premeditated, politically motivated violence perpetrated against non-combatant targets by sub national groups or clandestine state agents, usually intended to influence an audience.

Actually, terrorism is a value laden most used, misused and misconstrued Concept. It is the deliber ate creation and exploitation of fear for bringing about political change. Terrorism is adopted to completely undermine the confidence of the Government and the governed. It alternates to establish parallel government and imbibe a sense of insecurity amongst the people. Terrorism is mainly geared to cripple the psychology and the mental faculty of the people.

Terrorism emanates from over integration or less integration of individual with the society under certain motivating catalysts. Sociologically, it mainly originates from anomic state of nature, psychologically from narcissistic frame of mind and economically, from a relative deprivation.

However, terrorism has become a tool to achieve political goal through cross border assistance and state sponsorship since, the word Terrorism, defies an universally accepted definition, thus states manipulate the terrorism equating it with terms like extremism, insurgency militancy and freedom fighters etc. But there is big difference between a freedom fighter and a terrorist. Freedom fighters imbibe the will of the people against the alien government (unduly whereas elected). The goal is collective and grievances are common. Any act or effort to topple a duly elected legitimate government by violent means may be called a terrorist act. The sympathy and support of the freedom fighter is already established in the society they are not required to terrorist the people. Whereas a terrorist doesn't have that sympathy they generate apathy and fear in the minds of the people by creating panic among the masses to aversion the government.

A freedom fighter doest not kill the innocent masses but only targets big officials and dignitaries of the alien government. The basic aim of terrorist is to prove that the existing government is incapable of protecting the people and hence should be replaced.

Therefore, the present international terrorism is a matter of grave concern since, there is a complicated nexus between insurgency, Terrorism, state sponsored external support and drug trafficking combined with religion and fundamentalism in some cases. It has become imperative to establish a global security community in order to fight this menace. Not only the threats from cross border terrorism and separatism, nexus between narcotics, mafias and terrorist and insurgent groups, the accelerated religious and political extremism and aggressive nationalism pose new challenges to the viability of large multiethnic, multilingual, multicultural and multi religious nations of the world and "there is pressing need to combat these challenges through democracy, secularism, tolerance, regional cooperation interdependence and the rule of the law."

The growth and proliferation of terrorism is to be viewed seriously by the countries of the world, for terrorism ranges from individual to group, and to international networks that is posing a challenge to all systems of government. The reach of its destructiveness has increased to manifold. It can cause destruction in all sectors of national life through increased high-tech sophistication. It is this sophistication coupled with new innovative tactics can paralyze the security system of most advanced countries of the world. Actually today, form of international terrorism has the capability of global reach and the ability to penetrate any security establishment in the world.

In the early years of 21st century, world has faced with most barbaric acts of terrorism that are becoming most serious challenges to the security of states, societies and even humanity in whole. International terrorists' organizations and their acts have proven their capability and possibilities to affect the International Peace and Security. Recently, the 11 Sept. 2001, terrorists attack on World Trade Centre (WTC) and Pentagon in New York; and 13 Dec. 2001, attack on Indian Parliament, the former attacks are recognized as attack on economic and military icons of the most mighty sole super power the U.S. and the later as the attack on the symbols of liberal democracy. And most recently, the world has faced the most ugly manifestation of violence in the terrorist attack on school building in Beslan district of Russia and on Railways stations, a serial bomb blasts in Real Madrid in Spain. These Terrorism events have clear intelligence evidences that reveal the complex interrelationship between religions fundamentalism and its basic challenges to liberal democracy.

Thus the biggest threat that states face today, undoubtedly is terrorism which is widespread geographically and diverse ideologically." The increasing menace of terrorism have brought into focus to study the causes and to find effective ways to tackle International Terrorism.

Causes and Concerns

At the heart of every terrorist action, there is a cause, a political goal, a perceived justice or denial of liberty that is as concrete to the activist as any prime minister's notion of justice or freedom. No political Rhetoric can disguise this fact. No opponent of terrorism should forget this." Through the history of terrorism its roots have soil in the political, socio-economic and ethno-religious causes. It is also the case with the International Terrorism. The prominent causes may be listed as below.

Terrorism as Foreign Policy:

The problem of terrorism has become grave because Terrorism has come to be an alternative to war amongst adversarial states because the modern war has become too expensive due to

its vast destructive nature and unpredictable outcome. Thus, the phenomenon of state sponsored cross border terrorism become a tool of contemporary power politics and has acquired utmost significance since, it has influenced almost all aspects of inter and intra-state activities particularly in terms of internal security and people's security.

Any discussion on transnational terrorism would be incomplete without mention of Pakistan's role in promoting cross border terrorism on Indian soil. It is true that Pakistan and erstwhile Taliban Govt. in Afghanistan were exporting terrorism in J&K province of India, Chechnya Middle East etc. Moreover, "The 585 page 'National Commission on Terrorist Attacks upon the United States Report, that investigated the plot, design and circumstances leading to the 9/11 attacks on the US has highlighted the dangers of organized terrorism in threatening global peace and severity" .

The Report throws considerable light on Pakistan's link with major findings terrorism. It is in this regard are as follows:

• The report has pointed to the Pakistan did not break with involvement of Pakistan with the AL Qaida: the Taliban until after harboring Bin Laden." 9/11, although it was harboring Bin Laden." [7]

• It also asserts that Pakistan benefited from Taliban - AI Qaida Osama Bin relationship as Laden's camps trained fighters for ‘Pakistan’s on goring struggle with India over Kashmir."[8]

• The 9/11 report can be further corroborated by another of Pakistani 'stunning document' Origin, based on the ”the 'document, Arnaud de Borchgrave states: imprints of every major act of international Islamist terrorism passes invariably through Pakistan, right from 9 /11- where virtually all the had participants trained, resided or met in, coordinated with, or received funding from or through Pakistan.

Narco-Terrorism Nexus:

It provides financing to the Drug International Terrorism. Norco Trafficking and Trafficking is the most lucrative business. After Arms Trade it generates maximum the capital and profit. Drug Trafficking Organizations like small Arms Gray Laundering Organizations, Mafia Groups of international links, and Terrorists Organizations have nexus. They operate their functions and activities through specialized agency that connects them or performed as networking agency. This could be understood from the following fig:

The Norco-Terrorism Nexus is perhaps best documented by a CIA study titled ’Heroin in Pakistan'. The study explains and discloses how ISI allowed Afghan Terrorist Groups to trade in narcotics after the cut-off of US assistance. The study reveals that individual ISI officers also participated in the trade and terrorists pushed into India and abroad were funded in huge amounts through narcotics.

The activities of narcotic gangs and clandestine arms deals through covert support by various intelligence agencies was causing international concern, is manifest from a UN Report in 1987 which linked international terrorism to illegal drug production and trafficking illegal arms trade.[11]

Ethno-Religion Tensions: The ethno-religions tensions between various societies of the world are increasing on the verge of growing fundamentalism and intolerance on ethno religion sentiments of others. The terrorist organizations and religions practitioners and propagators are shrewdly exploiting the sentiments of the common people and are spreading rigidity of thoughts and communal feelings different ethno religions societies that turns especially the young minds towards use of violence, and terrorism. Thus, religious

intolerance, ethnic and cultural divergence appears to be the primary causes of transnational terrorism or International terrorism.

"Today, religion is back as a major factor, with at least 64 out of a total of 96 active terrorist groups clearly identified as being religiously motivated, even if the doctrine and theology that they swear by is violently extremist and far from actual percepts. Second, the fact emerges that 14 have ex-Mujahideen among their ranks, and third, 17 are based or closely involved with Pakistan (this last a conservative estimate if even transitory links are taken this rise to more than 21).

Therefore, it becomes imperative to make effort for peoples enlightenment that no religion of the world support violence instead they oppose violence. This could he understood from the following example prominent writer Amera Saide Dielo and Verinder Grover edited Encyclopedia of International Terrorism Vol. 2 "When modern Indians project the ideology of 'secularism', into the past to emperor Asoka was 'secular, they forget that Asoka was practicing Buddhism even in his public life. He based his tolerance on Buddhism, not on secularism, when the moderns say that Akbar was secular, they forget that he derived his tolerance not from secularism but from Islam. And in our times Gandhi derived his religious tolerance from Hinduism, not from secular politics".

Globalization: The process of Globalization has also sharpened the multi level divide between the two worlds. It has heightened the feeling of the so called Huntington's 'clash of civilizations'. The integration of world market with national and local market has coupled with the cultural intrusion the local culture has been jeopardized. The identity of ethnic culture is being diluted. This has rekindled the fundamentalist ideology. It has added to the deep rooted ethnic ideological divide.

Most importantly, globalization has increased the rate of unemployment especially in the developing and underdeveloped countries. The level of competition has increased and the margin of error has decreased. The new regime requires highest degree of professionalism which is not so easy to maintain in a poor country. This has imbued a sense of insecurity and people with less skill are more susceptible to such terrorist activities. A section of society has been totally alienated from mainstream and they see their future in other world i.e. Terrorist organizations which exploit such a state of socio-economic and cultural dissatisfaction. Moreover, the International Terrorism combined and nexuses with drug trafficking organizations and other international criminal organizations like, money laundering, mafia small arms proliferating etc., have proved to be employment generating thus a large mass of unemployed youths in underdeveloped societies is attracted towards Terrorists Organizations as mercenaries.

John, Alynn in his book "Battle", has described that terrorism and violence are rooted in the culture and philosophy of their communal practitioners and propagators." But today's world has no place for any form of theocracy. Since all notions have a plurality of ethnicity and religions, the communities must willingly co-exist. They can have internal freedom to run their family and systems the way they like but any disputes arising out of theocratic differences must be resolved peacefully on the equal and just footing. Today the Muslim intellectuals in several countries are very sincerely engaged in disabusing the Islamic Jehadi's of their belief that Islam sanctions terrorism, suicide bombings etc. They should be appreciated. encouraged and all those who stand for the preservation and promotion of cultural pluralism must find out the facts, got them acknowledged and then mark together for true reconciliation and for right interpretation of all religions is necessary by performing them for peaceful coexistence.

State Terrorism: This aspect as a prominent cause of International Terrorism has been least discussed. States also use violence, on a larger scale and no less abominable than the ones indulge by organizations branded as terrorists. Blatant examples are Vietnam, Hiroshima and Nagasaki, and most recently the Iraq war lI in which starving Iraqi children dropping of cluster bombs along with food packets. Destabilizing popularly elected progressive governments through CIA (Central Intelligence Agency of the US) sponsored coups In the UN Ad Hoc Committee of 35 members on Terrorism, the Arab states pleaded for the inclusion of state terrorism in the concept of terrorism referring to the practices of Israel towards the Arab Palestinians", as the principal example of 'state terrorism', and the Non Aligned group in the ad Hoc committee in its draft proposal defined state terrorism to include "Tolerating or arresting by a state the organization or the remnants of fascist or mercenary groups whose terrorist activities are directed against other sovereign countries." But the western states opposed the idea of including governmental acts within the scope of the definition of terrorism on the ground that the UN charter, the Genera Convention of 1949, etc., restrain state violence.

An interesting post World War II development has been that liberation movements have felt themselves obliged for engage in terrorist acts in an effort to counter the brutal by the alien regimes. The discriminatory of state terrorism is still continue the developed state of western world led by the most mighty sole super power the United States for their private interests and benefits performs all wrongful acts of oppression, suppression perpetrated for political and economic purposes. Thus, under state terrorism the developed state terrorize the under developed and developing countries for severance of technological and financial support on which they dominated, in case of disobedience or non performance in accordance with their policies. The Recent US-UK coalition unilateral attack on Iraq has came as a form of state terrorism visa a visa with the use of military might or use of force against the disobedience of Iraq (Saddam Hussein) under false allegation of latter's building of weapons of mass destruction (WMDs), to bring about regime change of their choice.

Another dimension of state terrorism is the use of terror in the domestic front by the state government under authoritarian rule for political gains or their incapacity to govern and manage the affairs of the people. The frequent use of force in domestic affairs by state shows their authoritative tendency that is resulting insurgency under severe societal discontent on various, socio-economic, political and ethno-religions issues. Such authoritarian tendencies is also posing great threat to democratic principles and individual freedom and thus, becoming grave concerns for peace and security.

All of these causes are well notified and are may be important causes and concern for whole world. What is important here that most of the scholars are ignoring psychological part terrorism? Psychologists are trying to emphasizing on deprivation, feeling of injustice, and insecurity. Question arises that if they are feeling injustice then how they can do ill treatment to those who are victim all these circumstances, for example children and women of Afganistan. Terrorist are well equipped with all weapons and have power to exert in Afganistan therefore they should not feel insecure but even then they are doing terrorist activity. They are even not deprived.

Psychologists have to consider about the collective consciousness of some community. They have to think about social consciousness to handle the terrorism. Terrorism not only belongs to outer causes but after all to the psyche of the terrorist. Development of wisdom (Vivek) is very important and it should be part of not an individual but also the whole society.

Conclusion:

The prevailing situation of international terrorism has forced all nations including India to devote attention to reexamine and re structure their Scenario that has security to be seen in its totality of incorporate inter alia, economic politico-socio- and ethno religions spheres. Further, regardless of where a nation appears to be situated geographically it cannot plan for its security without taking into account the altered global reality that introduced rudely on the global consciousness on the 1l Sept. 2001 and 13 Dec. 2001. And stunning awakened with unilateral preemptive attack of Iraq by the US-UK coalition forces in March, 2003. These events have totally changed and altered the world order and international terrorism has become the law of the life.

Whether it is terrorism violence or state terrorism there are similarities with respect to violence. Pakistan has shrewdly manipulated the OS to selectively favor and further its own definition of bad and good Jehadis concept. This approach also further the US purpose of promoting geo-political, geo-economical and geo strategically goals.

Therefore, "the US seems to be making a distinction between the 'good Mujahidins' and 'bad Mujahidins' of pre-1Taliban period the 'bad Jehadis' of the radical stream showed up in the Pak Afghan belt later." But US and the developed world must be cautions about the Pakistan's blind involvement on spreading 'fundamentalist communal Islamic Jehadi, ideology that favours and furthers transnational ideology for international terrorism. Because, this could be proved as 'Bhasmasur (self hurting) to Pakistan and the US and the developed world that is clear from the rise of religions fundamentalist Islamic Parties in Pakistan and the 11 Sept. 2001 terrorist attack on US.

The foreseeable future seems to be more threatening as the development of new technologies is at a very fast pace and ter rorist organization may get access to these technologies. There can be no effective restraint against these sophisticated technologies and that have enhanced the capability of global reach of the terrorist organizations. The dangers yet to come, is of technological terrorism. Technological terrorism especially includes (i) Weapons of Mass Destruction (WMDs) technologies including Nuclear Chemical and Biological (NBC) technologies, and (ii) Cyber technologies.

For this reason, terrorists motivated by religion or racist fanaticism are particularly dangerous, because unlike politically motivated groups they are not subject to rational constraints on the scope of their violent acts are easily detected by credible threats. Politically motivated terrorists may desist from using WMDs (NBC) but not religious terrorists who may be imbued with apocalyptic visions of humanity and the future of tie world.

Thus, world is on alarming situation of growing international encounter terrorism to international terrorism and all other kinds of violence is the need of the over the globe. Therefore, it becomes the causes of necessary to understand international terrorism and then plan a policy of counter international terrorism for each cause separately and then coordinating all plans to fight all types of violence.

For this purpose cooperation of all developed, developing and under developed states is necessary. The strategy for countering terrorism must be focused on people’s enlightenment, religious tolerance, socio-economic equality and psychological treatment along with the political and military options. Actually International terrorism is a social reality of developed and underdeveloped societies which has its roots in socio-psychological and mental frame of people. The terrorists and terrorisms is the product of these differential and discriminatory conditions therefore the solution lies in the socio-psychological treatment of this social menace that has spread globally with global policies.

When states consider the international terrorism as enemy and plan for military solution, they are on fault lines, because it is like a disease (social disease) and infectious too that can make them ill also. Therefore, it should be treated like illness or disease. An enemy is fought while a disease is treated and indeed it can be fought more effectively by eradicating its root causes than its syndromes.

Reference

1. Singh, Sayam Lokendrajit, "Delining terrorist", World Affairs 1998, P. 16.
2. Kidwai. Saleem, "US & International Terrorism", in Verinder Grover Ed. Encyclopaedia of International Terrorism. Vol. z. 2002, Deep & Deep Publications Pvt. Lid., New Delhi. P. 28.
3. Singh, Sayam Lokendrajit, "Delining terrorist", World Affairs 1998, P. 40.
4. Chadha, K.D., "Transnational threats to International Peace & Security - Terrorism and Drug Trafficking", In Virender Grover Ed. Encyclopaedia on International Terrorism, Vol.-2, 2002, Deep & Deep Publications Pvt: Lid. New Delhi, P. 35
5. S.K. Shiva, "Terrorism in the New Millenium', 2001, Authors Press, New Delhi, P. 72.
6. Palit, Parama Sinha, "The 9/11 Report: Reaffirming Pakistan Terrorism Nexus", Strategic Analysis, Vol. 28, No. 3, July-Sep. 2004, P. 464.
7. Ibid
8. Ibid
9. Ibid
10. Singh, Sayam Lokendrajit, "Delining terrorist", World Affairs 1998, P. 38
11. Ibid
12. Ibid. P. 39
13. Kartha, Tara, "Trans Nationals Terrorists & Radical Extremism", In Verinder Grover Ed. Encyclopaedia of International Terrorism, Vol. 2, 2002, Deep & Deep Publications Pvt. LId., New Delhi, P. 79.
14. Chowdhary, T.H., 'Roots of Terrorisnr', South Asia Politics, Dec. 2003, Vol. 2 Issue 18, P. 25
15. Ibid.
16. Rao, T.S. Rama, "state terror as a response to terrorism and vice versa: National and International Dimkensions", In Verinder CGirover lid. Tncyclopaedia
17. Rao, T.S. Rama, "state terror as a response to terrorism and vice versa: National and International Dimkensions", In Verinder Grover Ed. Encyclopaedia.
18. Pathak, D.C., "War On Terror, South Asian Dilerential", South Asia Politics, May 2004, Vol. 3. Issue 1, P. 4.
19. Strategic Analysis, Jul-Sep 2002, Vol. 26, No. 3, P 34l

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

Comparative Analysis of Selected Public and Private Sector Banks

Sakshi Agarwal
Research Scholar
Advisor – Dr. Saurabh Singh (Assistant Professor),
College of Agribusiness Management
(G.B. Pant University, Pantnagar)

Abstract

Private sector banks have increased in number since Liberalisation was initiated in 1991 by Narsimha Rao – Manmohan Singh Government and are rapidly growing their operations .Public Sector Banks are performing since many years and are successful in their operations and have reached a large portion of population. So, the purpose of this Study is to analyze the performance of selected public and private sector banks .The Public Sector Banks selected are SBI, Punjab National Bank and Private Sector Banks are HDFC and ICICI Bank. For this purpose CAMELs Rating is used which includes five parameter Capital Adequacy, Asset Quality, Management Efficiency, Earning Capacity and Liquidity. Secondary Data has been collected through Reserve Bank of India Bulletins and other financial websites. After evaluating all the ratios, calculations and ratings, CAMELs rating has given first rank to SBI, second rank to HDFC, third rank to PNB and fourth rank to ICICI BANK. On the basis of overall analysis Public Sector Banks are performing better than Private Sector Banks.

Keywords: CAMELS Rating, PNB, ICICI Bank, SBI, HDFC

Introduction

Privately owned banks (private ownership) dominated the Indian banking industry prior to 1969. In 1969, the government took full ownership of a considerable portion of the banking industry. Nationalization of banks resulted in a change of emphasis away from economic viability and toward maximizing social profit and geographic reach of banking services.

Presently, Public Sector Banks (PSBs) add for more than seventy eight percent of whole banking sector reserves, and they are loaded by nonperforming assets (NPAs), declining sales from conventional sources, and a shortage of new technology, excessive manpower, and excessive governmental equity. To attain competitiveness in the financial market, the PSBs have to concentrate on above aspects.

The private banks however cannot match deep reach, huge size and access to low cost of deposit of the public sector banks. Therefore to combat with PSBs. they have consolidating themselves through mergers and acquisitions route and they are moving ahead with traditional banking business model through their unwavering creativity and customer support.

History of Commercial Banking in India

The British were the pioneers of early banking in India in the seventeenth century. The financial area was once viewed as an extra to the office houses' center business. Afterward, in the mid 19th century, the Bank of Bengal (1806), the Bank of Bombay(1840), and the Bank of Madras were established as administration banks (1843). The sluggish pace of development of banking until the start of the 20th

century was because of stale financial conditions, declining rates, and a high pace of bank disappointments.

Banking advanced all the more rapidly in the 20th century. The Imperial Bank of India was set up in 1920 when three administration banks converged to shape the Imperial Bank of India. The Reserve Bank of India (RBI) was set up in 1935 as the country's national bank. The Banking Regulation Act of 1949 was sanctioned, and the Reserve Bank of India (RBI) was nationalized and given wide administrative controls over business banks. The Reserve Bank of India, the Imperial Bank of India, and co-employable banks made up the Indian financial framework in 1950. Trade banks and Indian joint stock banks are two sorts of banks. Contingent upon the degree of settled up capital and reserve funds they have. The four gatherings of Indian joint banks were A, B, C, and D. Banks were subsequently isolated into two classes: arranged and non-booked.

The Imperial Bank of India was transformed into the State Bank of India (SBI) in 1955, following the suggestions of the Rural Credit Survey Committee, and it was nationalized in 1959. The State Bank of India (Associate Banks) Act was passed in 1959, and the nationalization of 8 territorial banks brought about the development of the SBI organization.

The nationalisation of fourteen commercial banks in 1969 marked a watershed moment in India's commercial banking history. In July 1969, the government nationalised fourteen private commercial banks with deposits of Rs. 50 crore or more. In nationalized banks, the Government of India is a major shareholder. There was a merger of two nationalized banks in 1993 so the number of nationalized banks has been increased to 19. These 19 nationalized banks and the 8 banks in the SBI group together are known as the public sector banks. In terms of regional coverage, deposit mobilisation, and credit growth, the financial industry has progressed significantly over time. In terms of science, it is still underdeveloped.

Reforms of the banking sector in terms of restructuring and liberalisation were introduced in the early 1990s, driven by the recommendations of the committee on financial system chaired by Narasimham. But the second half of the previous decade saw an increased awareness of the dangers associated with inadequate regulation and supervision of banks. Therefore, banks will have to reap economies of scale in order to cut costs, raise profitability and bring in more transparency in their operations as move towards international best practices.

Commercial banks are India's largest and most well-known financial intermediaries. Commercial banks have to work within the constraints of social goals and public ownership, and also have to maintain a proper balance between profitability and liquidity. In the financial structure of even," modem economy, the commercial banks occupy a unique position and they are primarily deal with money and credit. Their major task of banks is to mobilize savings of the community in the form of a variety of deposits and to give loans and advances to borrowers for various purposes.

The idea of a commercial bank's performance is linked to various facets of its activities, such as financial soundness, sustainability, and customer support. In a service sector like banking, operational quality has a wide meaning. This connotation is significantly expanded as banks are expected to assume obligations of fulfilling both social and economic goals (Angadi, 1983), and the importance of improving productivity has been significantly enhanced for commercial banks' sustainability and long-term viability.

Literature Review

T. S. Desta (2016). Worldwide Finance Magazine utilized the CAMEL positioning to investigate the monetary achievement of African banks, choosing seven out of 30 African best banks for the term 2012-2014. Bank Windhoek Limited and Standard Chartered Bank Botswana Ltd are positioned first and second, separately, in this report. Banque De Kigali, Equity Group Holdings Limited, and First Rand Bank Ltd. are positioned third. Attijariwafa Bank was positioned third, while Standard Bank of South Africa Ltd. was positioned fourth. This examination likewise uncovered that these banks need some level of administrative worry on certain parts.

Kabir, A., & Dey, S. (2012). Examined the performance of two leading Private Sector Banks namely ,IFIC and EXIM bank using CAMEL Rating for the period ranging from 2004 to 2007.Secondary data was collected through text books , journal research articles, annual reports of banks. This study revealed that capital adequacy, leverage ratio is working well in IFIC but EXIM bank is performing better in return on equity and net worth protection. In case of Asset Quality, IFIC bank shows better performance. In management capacity, EXIM Bank is performing better. With respect to earning capacity ,EXIM Bank exhibits better performance and with regard to Liquidity IFIC is performing good in loan to deposit ratio and earning asset to deposit ratio on the other hand ,EXIM Bank is better in liquid asset to total deposit ratio.

H. S. Karri, K. Meghani and Mishra, B. M. 2015. The performance of the Bank of Baroda and the Punjab National Bank in India was investigated. The performance of these public sector banks was measured using the CAMEL model and the t-test. Secondary data was gathered from the Indian Banking Association, RBI bulletins, and issued annual reports of the Bank of Baroda and Punjab National Bank, as well as finance magazines and journals. This research found no substantial difference in results between Bank of Baroda and Punjab National Bank, and concluded that Bank of Baroda outperforms Punjab National Bank.

Aspal, P. K., & Dhawan, S. (2014). Analyzed the performance of 13 old private sector banks using CAMELS rating for the period of 2007 to 2012. This study has concluded that 6 banks out of thirteen choosen banks have shown satisfactory results. Tamilnad Mercantile Bank, Federal Bank and Nainital bank are performing well and Catholic Syrian Bank, ING Vysya Bank and Dhanalakshami bank are performing worst on the basis of CAMELS criteria.

Goel, C., & Rekhi, C. B. (2013). This study was done to analyze the performance of banks. This study was conducted using three public sector banks (SBI, PNB , BOB) and three private sector banks (ICICI, HDFC and AXIS),selected based on their Total Assets. Data was collected using RBI monthly bulletins, Annual Reports, Money Control and bank websites etc. and Analytical techniques used for this study are ratio analysis and coefficient of correlation. This study revealed that all three public sector banks have less NIM (Net Interest Margin). So their profitability is not so high. Comparatively private sector banks are performing better as HDFC bank has very high CDR and NIM and AXIS bank, ROA is quite high.

Kumar **et al.(2012).** Utilizing the CAMELS positioning, we analyzed the achievement of 12 private and public area banks from 2000 to 2011. The banks contemplated are recorded on the National Stock Exchange and are remembered for the CNX bank file. Bank of Baroda, Axis Bank, Bank of India (BOI), Canara Bank, HDFC Bank Ltd., ICICI Bank Ltd., IDBI Bank Ltd.(IDBI), Kotak Mahindra Bank Ltd.(KMB), Oriental Bank of Commerce(OBC), Punjab National Bank(PNB), State Bank of India (SBI), Union Bank of India were among the banks picked for this report. The Reserve Bank of India, the Indian Banker's Association, and Moneycontrol.com were utilized to assemble information. As per this report, private area banks are rising quicker than public area banks.

Kumar, S., & Sharma, R. (2014) investigated the accomplishment of India's main 8 banks utilizing the CAMEL positioning over a six-year time span from 2007 to 2013. The banks picked for the examination are recorded on the BSE and are individuals from BANKEX. The data was assembled from RBI, Indian Bankers' Association, Bank Annual Reports, Money Management, and the BSE entryway. HDFC Bank Ltd (HDFC), State Bank of India (SBI), ICICI Bank Ltd (ICICI), KOTAK Mahindra Bank Ltd (KMB), and AXIS Bank Ltd (AXIS BANK) were picked for this report, alongside Bank of Baroda (BOB), Bank of India (BOI), and Punjab National Bank (PNB). This investigation tracked down that general execution shrewd SBI Bank is on top position followed by PNB and HDFC Bank.

Kaur, J. Kaur, M. and Singh, S. (2015) measured the success of India's top five banks Bank of Baroda, State Bank of India, Punjab National Bank, Bank of India, and Canara Bank were among the banks studied in this report. For the years 2009 to 2014, annual bank reports were used to gather data. The data in this study was analysed using WACC, Regression Analysis, and the CAMEL model. In

terms of capital adequacy, asset quality, management performance, earning power, and liquidity, the analysis concluded that Bank of Baroda outperforms the other four banks.

Srinivasan, P., & Saminathan,Y.P.(2016). The yield of public area, private area, and unfamiliar banks was inspected. 25 public banks, 18 private banks, and 8 worldwide banks were considered therefore, and the CAMEL framework was utilized to evaluate the exhibition of these banks utilizing reports from 2012 to 2014. Bank of Baroda, Andhra Bank, IDBI Bank, Allahabad Bank, State Bank of Bikaner and Jaipur, Punjab National Bank, and UCO Bank are the main five public area banks, as per the examination's discoveries. ICICI Bank, Tamilnad Merchantile Bank, HDFC Bank, Kotak Mahindra Bank, Axis Bank, Citi Union Bank, Karur Vysya Bank, and IndusInd Bank are the best five private area banks. During the investigation time, worldwide banks like Bank of Bahrain and Kuwait, HSBC Bank, The Royal Bank of Scotland, Deutsche Bank, CTBS Bank, Citi Bank, DBS Bank, and Royal Bank of Scotland took the best five spots..

Problem Statement

Private sector banks have increased in number since liberalization was initiated in 1991 and public sector banks are covering 70% of the banking system to maintain the public trust in the banking sector. So, it was felt the need to study the comparative performance evaluation of public and private sector banks using CAMELs rating framework.

Objectives

- To assess selected public and private sector banks' capital adequacy, asset quality, management performance, earning power, and liquidity position from 2010 to 2019.
- Using the CAMEL supervisory system, review the performance of selected public and private sector banks in India from 2010 to 2019.

Research Methodology

The aim of this analysis is to compare the output of public and private banks. Two public and two private sector banks, namely State Bank of India (SBI), Punjab National Bank (PNB), HDFC Bank, and ICICI Bank, make up the sample size. The research design for this study is descriptive. The research relies on secondary data, with the Reserve Bank of India Bulletins, Trade Magazines, Newspapers, and Journals published in the fields of corporate, business administration, commerce, finance, and related fields serving as the primary sources of secondary data. The information was gathered from 2010 to 2019. In addition to the above sources, data was gathered from all of the banking ecosystem's stakeholders' websites and portals. CAMELS framework is used to score the selected banks based on their efficiency, which includes five parameters: Capital Adequacy, Asset Quality, Management Effectiveness, Earning Capacity, and Liquidity.

Results

CAMEL Rating

The ongoing, unprecedented banking crisis emphasizes the importance of regulatory issues and the consequences of incompetence in this field. CAMEL is a valuable tool for reducing the conditions and risks that lead to bank failure as a rating method for assessing the soundness of banks. The aim of this report is to review and compare the output of four different Banks.

CAMEL rating criteria

CAMEL stands for five important parameters:

C - Capital adequacy ratio
A - Asset quality
M - Management Effectiveness
E - Earning (i.e. profitability)
L - Liquidity (asset-liability management)

Parameters for Rating of a Bank

Each of these five components is measured on a scale of 1 to 100 and comprises a number of sub-parameters of different weightings.

Each Criterion under CAMEL has been defined as:

Capital Adequacy

She has assigned 0.8 to capital adequacy in capital ratios because it is the most critical ratio that has a direct effect on the bank's performance.Second important ratio is cash deposit ratio to which she has given weightage of 0.2. Overall weightage given to capital Adequacy ratio is 0.2.

Asset Quality

She has given more importance to return on long term loan since it gives the picture that how well company is performing with its assets. Secondly return on net worth is not given so much importance compared to return on long term loan. Return on long term loan is given 0.8 and return on net worth is given a weightage of 0.2.Overall weightage given to Asset Quality ratio is 0.2.

Weightage of each ratio in camel Rating

Aspects	Weightage	Net weightage
Capital Adequacy		
Capital Adequacy ratio	0.8	
Cash deposit ratio	0.2	0.2
Asset Quality		
Return on long term fund	0.8	
Return on net worth	0.2	0.2
Management Capacity		
Interest income/ Total Funds	0.5	
Operating expenses/ Total Funds	0.5	0.3
Earning Ability		
Net Profit/total funds	0.25	
Total Income/ Capital employed	0.25	
Earning per share	0.5	0.15
Liquidity		
Loan turnover	0.33	
Earning Retention Ratio	0.33	
Cash Earning Retention Ratio	0.33	0.15

Management Capacity

There is no one-size-fits-all solution when it comes to management ratios. Since both ratios have the same effect, the two ratios are given equal weighting. As management plays a very important role so overall weightage given to Management Capacity is 0.3.

Earning Ability

In Earnings ratios, she has given more importance to Earning per share and have given it a weightage of 0.5.She have given equal weightage to the other two ratios. Overall weightage given to Earning Ability is 0.15.

Liquidity

There is no one-size-fits-all solution when it comes to liquidity ratios. Since both ratios have the same effect, we've given them all the same weight. Liquidity receives 0.15 of the total weighting.

Criteria of Rating in CAMEL Rating

Cumulative Score	Scale	Reference
40 to 50	1	In every way, sound
30 to 40	2	Fundamentally sound, but with a few flaws
20 to 30	3	A financial, technical, or enforcement flaw that warrants supervisory attention
10 to 20	4	Serious or excessive financial, technical, or management flaws
Less than 20	5	critical financial flaws that raise the risk of failure in the near future

Rating system as shown in the above table is described below

The rating symbols A to E indicate as under:
A: It's basically sound in every way.

B: Fundamentally sound, but with a few flaws.

C: Deficiencies in financial, organizational, or enforcement that raise supervisory concerns.

D: Serious or excessive financial, technical, and managerial flaws that could jeopardise the company's future viability

E: Serious financial flaws that put the company at risk of bankruptcy in the immediate future.

Overall Ratings of the Four Banks

After considering all the ratios, calculations and weightage scores, she has found out the overall rating of capital Adequacy, Asset Quality, Management Capacity, Earning and Liquidity.

Capital adequacy parameter of public sector banks is lower than the private sector banks. SBI and PNB are lowest in this parameter. ICICI bank is the leader in this parameter followed by HDFC bank.

	C	A	M	E	L	Net Score
SBI	2.33	14.37	1.45	5.53	7.84	**31.52**
HDFC	2.88	11.44	1.74	4.1	8.41	**28.57**
ICICI	3.19	8.11	1.47	2.66	7.37	**22.8**
PNB	2.12	13.24	1.66	0.46	7.4	**24.88**

Public sector banks are able to maintain better asset quality and are well ahead of private sector banks in this area.SBI lead the figure among the four banks. Management effectiveness of all the four banks is nearly the same with HDFC bank and PNB are slightly ahead of others. In terms of earnings also called profitability SBI and HDFC are far ahead of ICICI and PNB bank. PNB is the lowest in this parameter In terms of liquidity parameter all the four banks seems to be more or less on the same

ground. HDFC leads in this parameter with a narrow margin followed by SBI. On the other hand, according to overall score of these banks SBI leads the score with 31.52 net score followed by HDFC, PNB and ICICI bank.

Findings

After evaluating all the ratios, calculations and ratings, this study has found that first rank is given to SBI, second rank to HDFC, third rank to PNB and fourth rank to ICICI BANK.

As the net score of SBI bank is 31.52 it comes under GRADE B. HDFC bank net score is 28.57, it comes under GRADE C. similarly PNB and ICICI comes under GRADE C. therefore ,GRADE B is given to only one bank SBI and other three banks HDFC, ICICI AND PNB are under the GRADE C.

Grading	Rating	Bank name
A	1	
B	2	**SBI**
C	3	**ICICI, HDFC,PNB**
D	4	
E	5	

CAMELS Rating of Banks

Grading	Rating	Bank name
A	1	
B	2	**SBI**
C	3	**ICICI, HDFC,PNB**
D	4	
E	5	

According to this research, overall performance of SBI is on first position with highest Asset Quality and Earning followed by HDFC Bank which is highest in Management Capacity and Liquidity.ICICI bank is worst performer among the selected banks.

Conclusions

From this study it can be concluded that SBI bank is performing better than other selected banks but it should work on Capital Adequacy and Management Efficiency to improve its performance as it is lacking on these parameters. Rank of HDFC Bank in each parameter is moderate but it should work on asset quality to improve its performance. PNB Bank is lowest on Capital Adequacy and Earning Capacity so it needs to increase its earnings and capital adequacy for better performance. ICICI bank is lowest in most of the parameters of Camels Rating, so it needs to work on each parameter to improve its performance. So, through the overall analysis it can be concluded that Public Sector Banks are performing better than Private Sector Banks.

References

Desta, T. (2016). FINANCIAL PERFORMANCE OF "THE BEST AFRICAN BANKS": A COMPARATIVE ANALYSIS THROUGH CAMEL RATING. *Journal of Accounting and Management*, *VI* (1), 1–20.

Aspal, P. K., & Dhawan, S. (2014). Financial performance assessment of banking sector in India: A case study of old private sector banks. *The Business & Management Review International Trade & Academic Research Conference*, *5*(3), 3–4.

Kumar, M. A., Harsha, G. S., Anand, S., & Dhruva, N. R. (2012). Analyzing Soundness in Indian Banking: A CAMEL Approach. *Research Journal of Management Sciences Res. J. Management Sci*, *1*(3), 2319–1171.

Kabir, A., & Dey, S. (2012). Analysis through CAMEL Rating : A Comparative Study of Selected Private Commercial Banks in Bangladesh. *Journal of Politics & Governance Performance*, *1*(2), 16–25.

Karri, H. K., Meghani, K., & Mishra, B. M. (2015). A Comparative Study on Financial Performance of Public Sector Banks in India : An Analysis on Camel Model. *Oman Chapter of Arabian Journal of Business and Management Review*, *4*(8), 18–34.

Goel, C., & Rekhi, C. B.(2013). A Comparative Study on the Performance of Seclected Public Sector and Private Sector Banks in India. *Journal of Business Management & Social Sciences Research,2(7),*46-56.

Kaur, J., Kaur, M., & Singh, S. (2015). Financial performance analysis of selected public sector banks: A CAMEL Model approach. *International Journal of Applied Business and Economic Research*, *13*(6), 4327–4348.

Kumar, S., & Sharma, R. (2014). Performance Analysis Of Top Indian Banks Through CAMEL Approach. *International Journal of Advanced Research in Management and Social Sciences*, *3*(7), 81–92.

Srinivasan, & Saminathan, Y. P. (2016). A CAMEL model analysis of public & private sector banks in India. *Pacific Business Review International*, *8*(9), 45–57.

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

आयाम एवं चुनौतियों के मध्य बदलते परिवेष में सामाजिक न्याय एवं विधिक संस्थान

डॉ0 सीमा यादव
एसोसिएट प्रोफेसर, विभागाध्यक्षा,
विधि विभाग, श्री वार्ष्णेय महाविद्यालय, अलीगढ़ (उ0प्र0)

परिचयः

सामान्यतया मानवीय प्राणी तीन प्रकार के होते हैं पुरुष, स्त्री एवं उभयलिंग व्यक्ति से समष्टि का निर्माण होता है तब समाज की अभिवृद्धि के लिये दोनों की आवश्यकता होती है। सामाजिक प्राणी होने के नाते मानव में सहकार भाव कुछ अधिक होता है, सभी सामाजिक प्राणियों में जिसमें मानव भी समाविष्ट है, समूह की एकता व सहकार भाव स्वभावतः पाये जाते हैं। यह चींटियों में अपनी पूर्ण अवस्था में होता है जो प्रत्यक्षतः समाज विरोधी गतिविधियों में शायद कभी लिप्त और चिंटहोल से पृथक नहीं जाना चाहती, परन्तु इनमें कुछ अपनी कमजोरियां भी होती हैं, चीटियां या मधुमक्खियाँ, कला एवं धार्मिक शिक्षण के महाकार्य नहीं कर सकतीं कि चीटियां व मधुमक्खियां बहने होती हैं, उनका सामाजिक जीवन संक्षिप्त, स्थिर व यांन्त्रिकीवत् होता है। मानवीय जीवन में उथल–पुथल उसे आगे बढ़ाने में अग्रिणी भूमिका निर्वाहन करती है। जॉर्ज वर्नाडशॉ ने कहा भी है कि, लोगों को झटका एक बार ही नहीं बार–बार लगाना चाहिये क्योंकि हर झटके में भावी प्रगति का मार्ग प्रशस्त होता है।

मानवेतर प्राणियों का पारिवारिक जीवन अति संक्षिप्त होता है जबकि इसके विपरीत मानवीय प्राणियों में स्वाभावतः परिवार एक समूहवत होता है। मानवीय प्राणियों में इसलिये भी आवश्यक है कि मानवीय शिशु की शैशवावस्था लम्बी होती है, भोजन के लिये वह विकलांगवत् होता है। यही वह परिस्थिति होती है जहां पिता भोज्य सामग्री जुटाता है, माँ शिशु का पालन पोषण करती है जो कि श्रम विभाजन की पद्धति होती है। सामाजिक संसक्ति जो समूह के प्रति स्वामी भक्ति से आरम्भ होकर शत्रु भय तक विस्तृत होती है, परिणति राष्ट्र शक्ति के रूप में हो जाती है। उन प्राच्य दिनों से लेकर आधुनिक समय तक यह सामूहिक सहकार भाव परिवार, समाज तथा राष्ट्र तक पहुँच गया। वैदिक विचार से राष्ट्र की उत्पत्ति भावनात्मक बतायी गयी है, राष्ट्र समाज का का वृहत सूर्य ही है।

समाज की उत्पत्ति : ''भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वविदः तपोदीक्षामुपनिषेदुरग्ते।
ततो राष्ट्रं जातं, तदस्मै देवा उपसनमन्तु।''

(अथर्व0 19.41.1)

अर्थात् आत्मसुख प्राप्त ऋषियों ने लोक कल्याण की इच्छा करते हुये प्रारम्भ में तप का अनुष्ठान किया और दीक्षा को ग्रहण किया। तप व दीक्षा से राष्ट्र उत्पन्न हुआ, उस राष्ट्र के समक्ष हम ठीक प्रकार झुके, सत्कार करें।

समाज... संस्कृति, साहित्य में समाज की वर्णनात्मक परिभाषा दी गयी है। सम्यक प्रकारेण वहुवा जनः सभी सामाजिक प्राणियों में जिसमें मनुष्य का भी समावेश है। सहकार एवं समूह की एकता स्वभावतया पायी जाती है जो प्रत्यक्ष रूप से असामाजिक कार्य करने के लिये प्रलोभित नहीं होते।

न्याय... रोमन सूक्ति (Maxin) फियेट जस्टिसीया (Fiat Justicia) चापलूसी का समश्वर नहीं है इसके पीछे सदियों का अन्याय छिपा हुआ है। अन्याय से ही न्याय का मान होता है। दार्शनिक सुकरात के अनुसार ''न्याय वही होता है जहाँ समानों के साथ असमानता तथा असमानों के साथ सामनता बरती जाती है।'' सामाजिक न्याय क्षितिज पर ध्रुवतारा की भाँति अटल है। सर्वोच्च न्यायालय के माननीय न्यायमूर्ति बी0आर0 कृष्णाअय्यर सामाजिक न्याय के विचार के प्रति मनोभावी अनुरक्ति रखते हैं। उन्होंने इसीलिये सामाजिक न्याय का विचार अपने सर्वाधिक व्यापक रूप में किया है, जिसमें प्रजातन्त्र के तीनों अंग विधायी, प्रशासनिक एवं न्यायिक सभी का समावेश है अर्थात राज्य की तीनों महान शाखाओं की सम्पूर्ण कार्य

प्रणाली सामाजिक न्याय द्वारा प्रबोधित और उसी से व्याप्त है इसीलिये संविधान के प्राक्कथन को आधार बनाया है जिसमें नीति निर्देशित सिद्धान्तों के आश्वासनों को आगे बढ़ाते हुये उल्लेख किया कि ''राज्य की तत्सम्बन्धी सक्रियता को प्रोत्साहित किया जाना चाहिये।'' राज्य, प्रजा की भलाई हेतु उस सामाजिक व्यवस्था को प्रभावी ढंग से निरापद करने तथा संक्षिप्त करने का भरसक प्रयास करेगा, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय समस्त राष्ट्रीय जीवन की संस्थाओं द्वारा अनुप्राणित किये जायेंगे।

उस बिन्दु को प्रमुखता देते हुये न्यायमूर्ति ने विधिशास्त्री जॉन आस्टिन को उद्धरित करते हुये भारतीय संविधान को अव्वल दर्जे का उत्कृष्ट सामाजिक विलेख बताया है, जिसके अधिकांश प्रावधान उन दशाओं को निर्देश देते हैं जिनसे सामाजिक क्रान्ति का उद्देश्य और उसकी प्राप्ति हेतु आवश्यक दशाओं की स्थापना होती है। न्यायमूर्ति श्री अय्यर के अनुसार अनुच्छेद 15, 16, 17 और 43 समता, मानवीय गरिमा प्रतिस्थापित कर और भारत के प्रत्येक नागरिक की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति का दायित्व लेते हैं। भारतीय प्रजातन्त्र ऐसे सामाजिक विलेख के अन्तर्गत स्थापित, स्थिर, निष्क्रिय और नकारात्मक नहीं है, न कभी ऐसा हो ही सकता है, बल्कि गतिशील व सकारात्मक है और समता व न्याय पर आधारित है तथा विधिक कर्त्तव्य से नवीन सामाजिक व्यवस्था लाने हेतु आशयित है। सामाजिक न्याय की प्रमुख विषयवस्तु विधिशास्त्री रस्कों पाउण्ड द्वारा प्रतिपादित विधि का कार्य सामाजिक अभियन्त्रण सिद्धान्त को प्रतिध्वनित करता है। उनके अनुसार विधि एवं जीवन सहजीवी हैं जीवन की वास्तविकतायें तदनुरूप विधि को ढ़ालती हैं।

संवैधानिक स्थितिः भारत का संविधान देश की सर्वोच्च विधि है। संविधान में सामाजिक न्याय के उपक्रमित करने और उसके प्रति प्रतिबद्धता के बावजूद इस गणरात्य में राजकुमार व परियों का अन्तर घटने के बजाये चौड़ा हो गया और न्यूनतम गरीबी रेखा के नीचे के लोगों की संख्या न्यूनतम आधारभूत आवश्यकतायें अधिक बढ़ी और धनवान अधिक धनी और निर्धन अधिक निर्धन होता गया। बढ़ती हुयी दूरियाँ और असन्तुष्टि से लोगों में रोष और कुण्ठा की उत्पत्ति हुयी जो भयावाह है तथा प्रजातन्त्र के लिये स्वयं में एक खतरा है।

इसमें सत्यता है कि एक बढ़े परिमाण में केन्द्र व राज्यों के विधियन में एक समतावादी समाज की स्थापना को सहायता के कदम के रूप में माना जा सकता है यथा भूमि सुधार, भूमि सीमा अधिनियम आदि, परन्तु यह सर्वप्रथमतः पर्याप्त नहीं पुनश्च इसका प्रवर्तन उचित रूप से न होने से यह सब सरकारी पुस्तकों में खो चुका है। इस विधियन के बावजूद आज भारत का गरीब और अधिक गरीब हो चुका है। जितने गरीब सन् 1950 में थे उससे बदतर हालात में है, फलतः भारत की सन् 1947 की क्रान्ति इस प्रकार अधूरी रह गयी। सामाजिक न्याय के पुरोधा न्यायमूर्ति कृष्णअय्यर के अनुसार क्रान्ति अपना क्रान्तित्व यदि छोड़ देती है तो लोग 15 अगस्त को 17 अक्टूबर में धकेल देंगे।

वैसे भारतीय संविधान प्रतिबद्धता और योजनाबद्ध विकास को आधारभूत मानता है पर यह प्रतिबद्धता फलीभूत इसलिये नहीं हो पायी कि उसके प्रवर्तन उपकरण नहीं रहे, अतः यह परिहार्य हो गया है कि उपकरणों को पुनः कल्पित उनसे कार्य निकालने वालों को पुर्नशिक्षित और नवीन विधिक संस्कृति के माध्यम से जलवायु को सुधारने की आवश्यकता है। प्रशासकीय परिधि संसदीय प्रक्रियाओं और सामाजिक रूप से भी न्याय प्रक्रिया को गतिमान बनाना पड़ेगा ताकि लाखों लाख के लिये सामाजिक न्याय को बदला जा सके।

परन्तु प्रशासन गरीबी के प्रति उदासीन रहा है हमारी नौकरशाही कल्याणकारी राज्य की भावना के अनुसार कार्य नहीं कर रही है और सामाजिक न्याय को यथार्थ में बदलने के लिये नाकाम रही है। जब तक कि संविधान के अनुच्छेद 38 और 39ब और स को युद्ध स्तर पर क्रियाशील नहीं किया जाता, सिविल सर्विस कैडर की प्रतिबद्धता नहीं बढ़ायी जाती तब तक सामाजिक न्याय दूरस्थ आवाज भाव बना रहेगा। लोग हितैषी न्यायमूर्ति कृष्णअय्यर ने न्यायपालिका के बावत तो यहां तक कहा है कि नवीन व्यवस्था में ऐसे न्यायधीश नहीं होने चाहिये कि जो जन सामान्य की दुःख तकलीफों से परेशान न होते हों।

नौकरशाही की राजनीतिः नौकरशाही के स्तम्भशस्त्र संचित समूह को भारतीय प्रतिभासम्पन्न मनीषि लाल हरदयाल ने राजनैतिक काया में कैन्सरवत बताया है, उनके अनुसार आरक्षी सेना कभी भी उपायदेय सामाजिक संस्था नहीं हो सकती, वे मात्र दुष्टात्मा एवं शैतानी, क्रूर कर्णिकावत, लोभ लालच व घृणा के पात्र होते हैं। न्यायमूर्ति के अनुसार कला की कद्र और खुशामदियों की हालत विश्व की सभी देशों में समान हैं वे अपने शिकार को चीखने व चिल्लाने का अवसर तो देते हैं तद्समय स्वयं की अलोकप्रियता जनसामान्य में उभारते भी हैं जो कि उनके स्वयं के प्रति जन घृणा के विस्तार का कार्य करती हैं भले ही विधि का दुरूपयोग और अतिक्रमण न रहा हो, जो चाहे राज्य द्वारा या उनके चापलूसों के द्वारा किया गया हो। नौकरशाही को अनिवार्य रूप से तटस्थ रहना है क्योंकि ऐसी व्यवस्था शक्ति की बागडोर सम्भालने वाली

राजनैतिक पाटियों में सामयिक परिवर्तन का ध्यान रखते हैं। ऐसी व्यवस्था में नौकरशाही तत्समय सन्तासीन राजनैतिक पार्टी के आदेशों से निर्मित नीतियों के क्रियान्वयन हेतु बाध्य होती है। इसलिये कोई सत्ता पार्टी विशेष किसी विचारधारा से सम्बद्ध होगी तो नौकरशाही को ऐसी सत्तापार्टी जो तत्समय शासन में हो, के कार्यक्रमों को अपने सम्पूर्ण प्रयास से क्रियान्वित करना होता है, जब दूसरी पार्टी सत्ता में आती है उसी नौकरशाही को सत्ता पक्ष की नीतियों को समान रूप से समान निष्ठापूर्वक लागू करना होता है और तत्समय सत्तापक्ष के कार्यक्रम पूर्व सत्तापार्टी से कितने ही भिन्न क्यों न हों संसदीय प्रजातन्त्र से सुसंगत व्यवस्था में नौकरशाही का कोई अपना दर्शन नहीं होता है, जिससे वह परिवर्तन कर सके।

न्यायपालिकाः न्यायपालिका के कार्मिक भी तो मानवीय प्राणी होते हैं यद्यपि निष्पक्षता व वस्तुपरकता की अवधारणा उनसे की जाती है न्यायमूर्ति काटजू ने टिप्पणी की है कि चेतना की गहराई के नीचे पसन्द और नापसन्द, अनुराग और पूर्वाग्रह का भावात्मक समिश्रण और मनोभावों तथा आदतों एवं दृढ़विचारों की शक्तियाँ ही मानवीयता का गठन करती हैं चाहे वह वादकारी हो या न्यायधीश। किन्तु इन अस्थिरताओं के विरूद्ध समान रूप से शक्तिशाली तथ्य है जो पूर्वोक्तिबल विधि के निकट प्रवर्तित शक्तियों के अलगाव, विधिक कहावतों तथा अवधारणाओं के रूप में अभिवचनों के नियम प्रक्रियाओं तथा साक्ष्य और सबसे अधिक तथ्यों के साकार मूल्यांकन से सम्बन्धित होते हैं जो संचयी रूप से व्यक्तिगत मूल्यों एवं मानकों के किसी प्रयास को रोकने के योग्य बनाते हैं, पुनश्च न्यायपालिका या किसी विधान जो विधायिका ने उसे प्रदान किया है को यथावत लागू करना होता है और प्रथमतः उसे इसके शाब्दिक अर्थ में ही अर्थान्वित करना होता है तथा इसमें असफलता की दशा में उसके दृढ़ उद्देश्य और इतिहास के सन्दर्भ में लेना होता है। न्यायपालिका का कार्य विधियन करना नहीं है, उसका कार्य सीमित क्षेत्र में और इस पर अनुमान लगाने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रत्याशा में क्रियान्वयन किया जाये कि विधायिका ने किसी उद्देश्य विशेष को स्पष्ट करने का प्रावधान करने में भूल की है। इसलिये यह मात्र विधायिका ही है जो विधि के कर्णत्यों (Instrumentalities) द्वारा सामाजिक अभियन्त्रण को उपक्रमित कर सकती है। यह मूल्यांकन करना कुछ कठिन सा है कि हमारी संवैधानिक व्यवस्था में न्यायपालिका इस विधि–दर्शन की प्रतिबद्धता का भार अपने ऊपर कैसे ले सकती है? वस्तुतः हमारी सर्वोच्च विधि (संविधान) के प्राक्कथन सामाजिक न्याय शब्द का प्रयोग करता है। यही स्थिति संविधान के भाग–IV के अनुच्छेद 38 की है परन्तु भाग–IV पूर्ण करने की रूपात्मकता उस राजनैतिक दल पर छोड़ता है जो समय–समय पर सत्तासीन हो। संदेहरहित शब्द का अर्थ समाज के निम्न एवं वंचित वर्ग के लिये न्याय समतावादी व्यवस्था लेकर, जिसके अन्तर्गत कमजोर तबकों के लोगों को समान अवसर सुलभ करायें जायें। संविधान रूसों की 'सुविधा उक्ति' को मान्यता देता है कि परिस्थितिबल समता को नष्ट करने का आशय रखता है विधिक बल को समता बनाये रखने के लिये तैयार रहना चाहिये। सकारात्मक रूप से कमजोर के पक्ष में पक्षपात करना कभी–कभी वास्तविक समता को बढ़ाना है। हमारे संविधान में अनेक प्रावधान हैं जिन्होंने ऐसे विधियन के लिये संवैधानिक स्वीकृति प्रदान की है।

सामाजिक न्याय शब्द को किसी भी शब्दकोष में परिभाषित नहीं किया गया है। समाजशास्त्र व राजनीतिशास्त्र के मध्य समताभाव सामाजिक न्याय का आधार है। यह विचार देशकाल के अनुरूप परिवर्तनशील तथ्य है जिसमें अनुसार असमानता को हटाना है। सामाजिक एवं आर्थिक रूप से कमजोर वर्ग को समान अवसर उपलब्ध कराना व सामाजिक न्याय की पृष्ठभूमि तैयार करना है। कमजोर वर्गों की सहायतार्थ एक बड़ी संख्या में विधियां पारित की गयीं इसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण जमींदारी विनाश और अन्य भूविधियां, कास्तकार के अधिकार की सुरक्षा और भूमिसीमा अधिनियम, आधिक्य भूमि को भूमिहीनों में बांटना आदि। कुछ राज्य सरकारों ने इन्हें प्रभावशाली रूप से लागू करने के प्रयास भी किये। कहीं–कहीं नौकरशाही ने भी शासकीय प्रयासों की भरपूर पुष्टि की यथा उ0प्र0, म0प्र0 व बिहार की जमींदारी उन्मूलन व भूमिसुधार अधिनियम के विधियन के वक्त एटा जनपद की छोटी सी रियासत अवागढ़ के तत्कालीन शासक ने उ0प्र0 के कृषि उत्पादन आयुक्त से प्रश्न किया कि हमारी जमीनें क्यों ले रहे हो? कृषि उत्पादन आयुक्त का जबाव था कि हम आपकी जमीन ले रहे हैं और आपको मुआवजा दे रहे हैं, आज से 5 वर्ष बाद कृषक समुदाय आपको कोई मुआवजा नहीं देगा आज से 10 वर्ष बाद न केवल आप अपनी जमीन खोयेंगे बल्कि गला भी कटवा लेंगे। यह उक्ति सामाजिक न्याय के प्रति सुलग रही चिंगारी का संकेत देती है, ठीक 10 वर्ष के अन्दर ही नक्सलवाद के रूप में यह गुबार फूट पड़ा।

वैकल्पिक सामाजिक न्याय व्यवस्थाः न्यायालय में संभालने योग्य विभिन्न स्तर पर अवशेष का अम्बार लगा है। कम से कम छोटे–मोटे वाद या लघु आपराधिक मामले ग्राम्य न्यायालय की ओर मोड़े जा सकते हैं। महात्मा गांधी ने नियमित न्यायालयों के बहिष्कार का आवाहन किया पर ऐसी व्यवस्था अधिक सफल नहीं हो सकी। वरन् गांव–गांव में पार्टीवादी व दुश्मनी को बढ़ावा मिला और भ्रष्टाचार अपनी चरम् सीमा तक पहुंच गया। तहसील दिवस व थाना दिवस में की गयी

शिकायतें भ्रष्ट नौकरशाहों की अवैध कमाई का जरिया बनती जा रही है। सेवा प्राधिकरण उपभोक्ता प्राधिकरण, जो उपभोक्ता अधिकारों के संरक्षण के बजाये विभागीय कर्मचारियों के अधिकारों के संरक्षण में जुटे हुये जान पड़ते हैं।

जाति आधारित समाज की संरचना... भारतीय राज्य सामन्ती सामाजिक व्यवस्था की कूड़े करकट की ढ़ेरियों पर बन चुका है चूंकि हमारा राजनैतिक एवं सामाजिक इतिहास आधुनिक उदार राज्य के देशी विकास को सुनिश्चित नहीं कर पाया, मध्ययुगीन सामाजिक एवं राजनैतिक अवशेषों के सामाजिक दायित्व हमारे संविधान पर आ पड़ा, जिसमें सामन्तवादियों की भग्नावशेषों को किनारे लगाने का दायित्व निर्वाहन करने में सफलता नगण्य रही, हमें विरासत में स्थिर हिन्दू समाज मिला जिसमें उर्ध्वगमन से मना किया गया हो और सदियों से असमानता को मूर्तिवस अधिरोपित कर दिया गया और उसे जीवन के एक आवश्यक नियम के रूप में लागू किया जाता रहा। जबकि रोमन सम्राट पूर्व कृषिदास हो सकता था पोप पूर्वदास हो सकता था परन्तु भारत में एक व्यक्ति, एक जाति विशेष में पैदा होता है इसी में मर जाता है इसके साथ ही उसकी सभी योग्यतायें व आकांक्षायें एवं अभिलाषायें दफल हो जाती हैं। एक सामान्य ग्रामीण कानून की पेचीदिगीयां भले ही न समझे पर न्यायिक न्यायका रूप तो जानता ही है। सड़क का आदमी आज विधि से विलग हो गया है, कानून की अधिकता से चकित है हर व्यक्ति से अपेक्षा की जाती है कि वह अपने देश का कानून जानता है। ऐसी विषम परिस्थितियों में वादहेतुक खिन्न व्यक्ति के पारिभाषिक शब्द कालातीत हो चुके हैं। जनहित याचिकाओं ने इन पर पलीता लगा दिया है यह सर्वोच्च न्यायालय की सामाजिक न्याय के प्रति बढ़ती हुयी सक्रियता ही कही जा सकती है। विधि एवं जीवन सहजीवी है। जीवन की वास्तविकतायें तदनुरूप ढालने लगी है। आधुनीकरण के पूर्व सामाजिक न्याय की स्थिति कुछ भी रही हो पर हमारी स्वतन्त्रता प्राप्ति के ऊषाकाल में सामाजिक न्याय की विषय वस्तु को अपनी वाकपटुता से सर्वाधिक अच्छे ढंग से प्रथम प्रधानमन्त्री श्री जवाहर लाल नेहरू ने निम्न शब्दों में व्यक्त किया है –

''भारत की सेवा का अर्थ है कि उन करोड़ों की सेवा जो कष्ट भोगते हैं, इसका अभिप्राय है कि गरीब अज्ञानता बीमारियों और अवसरों की विषमता की समाप्ति। हमारे युग के महानतम व्यक्तियों की महत्वाकांक्षा यही रही है कि वे प्रत्येक आंख के आंसू पोंछ सकें। यह सब हमारी क्षमता के परे हो सकता है परन्तु जब तक आंख में आंसू हैं, कष्ट हैं तब तक हमारा कार्य समाप्त न होगा।''

<u>उपसंहारः</u> आधुनिकर्णोत्तर सामाजिक न्याय बहुआयामी रहा है जिसकी चुनौतियां अनिगिनत हैं। बदलते परिवेश में विधिक संस्थान सामाजिक न्याय दिलाने के सबंल हैं, फिर सामाजिक न्याय का विचार समय व युग के अनुरूप भिन्न–भिन्न रहा है, जो नॉरमन और सैंक्सन के समय में विलियम विजेता को सामाजिक न्याय प्रतीत हुआ हो, आज के इंग्लैण्ड में इसे शायद ही मान्यता मिल सके। क्यूबैक निवासियों को जो असंदिग्ध सामाजिक न्याय प्रतीत हो व चीन की राजधानी बीजिंग के निवासियों के लिये सामाजिक न्याय शायद ही मान्य हो। कदाचित कन्फ्यूसियस,मनु, हम्मूराबी की विधि संहिता और सोलोमन (विश्वविजेता) एक ही टेबल पर बैठ जायें तो भी ऐसा सूत्र न निकाल पायेंगे जिससे कि सामाजिक न्याय की सर्वमान्य परिभाषा बन सके क्योंकि सामाजिक न्याय एक विवादास्पद क्षेत्र रहा है। प्रजातन्त्रात्मक देश में जन–राय और विधि एक–दूसरे की क्रिया प्रक्रिया करते रहते हैं, इसे संतुलित करने का कार्य मात्र न्यायालय ही कर सकते हैं।

<u>सन्दर्भ</u>

1. हिन्टस फॉर सेल्फ कल्चर : जायको पब्लिशिंग हाउस बम्बई, दिल्ली, बैंगलूर, पृ0–303
2. निरंजन सिंह बनाम प्रभाकर राजाराम : ए0आई0आर0 1980 सर्वोच्च न्यायालय–788
3. न्यायमूर्ति बाल कृष्णाअय्यर : 1979 (3 एस0सी0सी0) 70
4. भारतीय सामाजिक न्याय की कुछ अर्द्ध–प्रच्छन्न आकृतियां लेखक–न्यायमूर्ति बी0आर0 कृष्णाअय्यर (सुप्रीम कोर्ट), अनुवादक : श्री रामबाबू यादव (पूर्व जज उ0प्र0 न्यायिक सेवा)
5. रिपोर्ट ऑफ दि स्टडी टीम ऑन न्याय पंचायत, 1962
6. बी0आर0 कृष्णाअय्यर, लॉ इण्डिया : सम कन्टेम्परोरी चैलेन्जेस, नागपुर यूनिवर्सिटी, 1976, पृ0–91

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

समकालीन सामाजिक–आर्थिक परिदृश्य में नारी सशक्तिकरण की समस्यायें

शैलेन्द्र प्रताप रघुवंशी
असिस्टेन्ट प्रोफेसर
कूबा.पी.जी.कालेज, आजमगढ़

भारत परम्परागत समाज का शास्त्रीय उदाहरण माना जाता है। ऐसे समाज वस्तुनिष्ठ नियमों के बजाय परम्परागत प्रथाओं से अधिक संचालित होते हैं। इसलिए यहाँ नारी से संबन्धित विचार तथा व्यवहार का स्वरुप परम्परागत बना रहा है।

स्वातन्त्र्योत्तर भारत में नारी की प्रस्थिति में सुधार हेतु अनेक कानून बनाये गये। इन कानूनों का अगर अवलोकन किया जाये, तब यह तथ्य उभर कर आता है कि प्रथम दो दशक महिला कल्याण, दूसरा दो दशक महिला विकास तथा तीसरा दो दशक नारी सशक्तिकरण के प्रति झुकाव प्रदर्शित करता है। इसी क्रम में भारत सरकार ने सन् 2001 को महिला सशक्तिकरण वर्ष भी घोषित किया तथा तत्सम्बन्धित कार्यक्रम भी चलाये।

नारी सशक्तिकरण की वैचारिकी का आधार यह है कि निर्णयन में उनकी सशक्त भागीदारी हो। लेकिन प्रश्न उठता है कि जहाँ नारी से सम्बन्धित समस्याओं की अन्तहीन सूची हो तथा परम्परागत समाज की थोपी गई वर्जनाओं की अन्तहीन व्याख्या हो तब स्वतः कुछ समाजशास्त्रीय महत्व के सवाल पैदा होते है कि क्या इन परिस्थितियों में नारी सशक्तिकरण सम्भव है ?

हमारा समाज नारी के सन्दर्भ में कई विरोघाभाषी विचार रखता है। जैसे; यहाँ नायिका के भेद पढाये जाते है, वही उससे बचने के तरीके भी, स्त्रियाँ पवित्र एवं दिव्य होती है, स्त्रियां प्रदूषित एवं अपवित्र है, स्त्रियां स्वार्थी एवं षड़यन्त्रकारी होती है, स्त्रियां निःस्वार्थी और बलिदान करने वाली होती हैं। कभी उन्हें दुर्गा मानकर पूजा जाता है, कभी उन्हे दहेज न मिलने पर मार दिया जाता है। हमारे समाज में स्त्रियों के सन्दर्भ में विचार इतने सुदृढ़ एवं विरोघोभा ी है कि इन परिस्थितियों में बदलाव के पहले नारी–सशक्तिकरण शायद सम्भव न हो। वस्तुतः हमारी सामाजिक संरचना ही परस्पर विरोधी विचारों को बनाये रखती है।

हमारे समाज में स्त्रियाँ एक समरुप समुदाय की रचना नही करती है। हमारी संस्कृति एकाधिक है, समाज एकाधिक है और इसी तरह स्त्रियों की जीवन पाद्धति और तौर–तरिके भी। इसी प्रकार स्त्रियों की समस्यायें भी भारत में बहुरुपी है। जो समस्या ग्रामीण स्त्रियों की है वह शहरी स्त्रियों की नही है, जो समस्या निम्न वर्ग की स्त्रियों की है वह समस्या उच्च–वर्ग के स्त्रियों की नही है। जो समस्या हिन्दू स्त्री की है वही समस्या मुस्लिम स्त्री की नही है। फिर भी उनके सामाजिक समस्याओं की एक सामान्य पहचान की जा सकती है। उनकी सामाजिक समस्याओं में–दहेज उत्पीड़न, दहेज हत्या, अनैतिक व्यापार, वेश्यावृति, अपहरण, प्रचारतन्त्र द्वारा दुष्प्रचार, लैंगिक भेदभाव, दोषपूर्ण लचर कानून व्यवस्था, बलात्कार, हत्या, सामाजिक कुरीतियां, बाल विवाह, अशिक्षा आदि का रखा जा सकता है।

अशिक्षा– भारत में कुल साक्षरता 2011 की जनगणना के अनुसार 74% है जबकि स्त्री साक्षरता केवल 65.5% है जिसमें ग्रामीण स्त्रियों की साक्षरता 55% से नीचे ही है। इसी प्रकार स्त्रियों के अन्य वंचित समूह है जहाँ यह प्रतिशत सामान्य राष्ट्रीय औसत से कम है। शिक्षा सशक्तिकरण का सर्वप्रमुख साधन है। अशिक्षा सभी समस्याओं की जननी है। यह मानवीय विवेक को जागृत करती है, उसे वर्जनाओं से मुक्त करती है। लेकिन भारत में सभी प्रयासों के बावजूद स्त्री शिक्षा उसके सशक्तिकरण में बाधक बनी हुई है।

स्त्री साक्षरता	
वर्ष	साक्षरता प्रतिशत
1951	8.56
1961	15.35
1971	21.97
1981	29.76
1991	39.29
2001	54.16
2011	65.5

लैगिंक भेदभाव– पिछले पचास वर्षों में जो प्रमुख समस्या उभरी है, वह है औरत के जन्म लेने के अधिकार का हनन। पहले नवजात स्त्री–शिशु को मार देने की कुप्रथा से चली आ रही यह समस्या अब गर्भ–लिंग निर्धारण और स्त्री–भ्रूण–लिंग गर्भपात से भी आगे बढ़कर सन्तानोत्पत्ति के लिए परुष लिंग चुनाव के निर्धारण तक पहुँच गई है। इसकी पर्याप्त झलक 2001 तथा 2011 की जनगणना आँकड़ों में दिखाई देता है।

केरल को छोड़कर लगभग सभी राज्यों में लिंगानुपात पुरुष के पक्ष में है। पंजाब, चंडीगढ, दिल्ली आदि राज्यों में यह खतरनाक स्तर तक पहुच गया है।

वर्ष	लिंगानुपात 0–6 वर्ष के लिए	
0	0	0
1991	पंजाब हरियाणा केरल	875 879 958
2001	पंजाब हरियाणा केरल	793 820 963
2011	पंजाब हरियाणा केरल	846 819 964

उपरोक्त सारणी से कुछ निष्कर्ष निकालने का साहस किया जा सकता है–

{1} 0–6 आयु वर्ग का लिंगानुपात दो बातों पर निर्भर करता है। प्रथम जन्म के समय लिंगानुपात तथा 0–6 आयु वर्ग में विभेदी शिशु–मृत्युदर । 0–6 आयु वर्ग में लिंगानुपात में कमी बालिका–भ्रूण या बालिका या दोनो के साथ हमारे व्यवहार पर प्रकाश डालती है। 1991 में इसका कम हो जाना लज्जा जनक है।

{2} 7 वर्ष या 7 वर्ष के उपर के लिए लिंगानुपात विभेदी मृत्युदर पर निर्भर करती है। अतः 2001 में लिंगानुपात में सुधार 0–6 मे नही बल्कि 7+ के स्त्रियों में बढ़ती जीवन प्रत्याक्षा के कारण है। जन्म के समय लिंगानुपात 900 के आसपास है– यह एक राष्ट्रीय औसत है जो यह संकेत देता है कि कुछ राज्यो में स्थिति बेहद खतरनाक है।

श्रम भागीदारी में भेदभाव– एक अद्यतन अध्ययन के अनुसार घरेलू कार्यो में महिलाओं की श्रमभागीदारी में, भारत में, 30 प्रतिशत की बढोत्तरी दर्ज की गई है। ऐसा कोविड के कारण स्कूलों आदि के बन्द होने के कारण हुआ है, अतः श्रम–बाजार में स्त्रियां गायब हो गई। विगत दो दशकों से स्त्रियों की श्रम–शक्ति में भागीदारी घट रही है। 2018–2019 में उनकी भागीदारी दर 24.5 प्रतिशत रही है जबकि विश्व के 45 प्रतिशत श्रम–भागीदारी दर से यह काफी कम है। एक द्रष्टव्य अन्तर ग्रामीण तथा शहरी

स्त्रियों के श्रम–भागीदारी में भी दिखाई देता है। यह ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों में क्रमशः 26.4 प्रतिशत तथा 20.4 प्रतिशत है। महिलाओं से घर के अन्दर तथा घर के बाहर दोनों स्थानो पर अधिक काम लिए जाते है। शहरी क्षेत्रों में भी सभी श्रमिक–वर्गों में महिलाओं को कम मजदूरी मिलती है। ऐसे लोग जो भारतीय परिस्थित से परिचित है, वे इस बात से सहमत होंगे कि ग्रामीण स्त्रियों की घर के बाहर भागीदारी, शहरी स्त्रियों की घर के बाहर भागीदारी की भांति उनकी वेहतर स्थिति का द्योतक नही है। इसके अतिरिक्त एक मध्यमवर्ग की स्त्री दिनभर काम करती है, लेकिन बहुत क्षमार्थी होकर कहती है कि मै काम नही करती। संक्षेप में, श्रम–भागीदारी के सम्बन्ध में उनका सशक्तिकरण अभी भी चिन्ता का विषय है।

महिलाओं के प्रति हिन्सा– भारत में महिलाओं के प्रति हिंसा से आशय है कि किसी पुरुष द्वारा किसी महिला के खिलाफ की गई शारीरिक या यौन हिन्सा से है। हिंसा के कई स्वरुप हो सकते है जैसे– घरेलू दुर्व्यवहार, यौन हमला, हत्या, दहेज हत्या, आनर किलिंग, जादू टोना से सम्बन्धित हत्याऐं, कन्या भ्रूण हत्या, लिंग चयनात्मक गर्भपात, बाल विवाह, तेजाब फेकना, अपहरण आदि। राष्ट्रीय अपराध ब्यूरो के आंकड़ों को देखे तब भयावह तस्वीर उभरती है 2018 में 5000 मौते केवल दहेज मौते दर्ज की गई है। सम्मान हत्या की अक्सर सूचनाऐं प्राप्त होती रहती है। भारत के कुछ क्षेत्रों ग्राम–जाति परिषद या ग्राम पंचायत नियमित रुप से उन लोगों की मौत की सजा देते है जो अपने जाति अथवा क्षेत्र के निर्देशों का पालन नही करते हैं। एक अध्ययन में पाया गया है कि 8000 में से 7997 गर्भपात कन्या भ्रूण के थे। चिकित्सीय पेशेवरों द्वारा भ्रूण का लिंग निर्धारण और लिंग चयनात्मक गर्भपात अब 1000 करोड़ रुपये का उद्योग है।

महिलाओं के विरुध्द आधे से अधिक अपराध के मामले 5 राज्यों से आते है–उ0प्र0, म0प्र0, महाराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश, तथा राजस्थान। स्त्रियाँ परिवार की धूरी होती है परिवार की संकल्पना भारतीय समाज की परिचायक और प्रतिनिधिक मानदण्ड रही है। भारत में महिलाओं के प्रति हिंसा के आँकड़े स्त्री के अस्तित्व पर प्रश्न चिन्ह लगाते हैं। यदि अपने ही घर में औरत असुरक्षित, भयग्रस्त और तनाव ग्रस्त है तो उसके सशक्तिकरण की बात बहुत दूर रह जाती है।

राजनैतिक भागीदारी– महिला सशक्तिकरण के सन्दर्भ में राजनैतिक सत्ता में महिलाओं की भागीदारी का मुद्दा बहुत गर्मजोशी से उठाया जाता रहा है। जमीनी स्तर पर राजनैतिक समस्याओं {स्थानीय निकायों} में 1/3 सीटें 73 वें एवं 74 वें संविधान संशोधन द्वारा महिलाओं के लिए आरक्षित कर दी गई है। आज पूरे भारत में महिला पंचो की संख्या 10 लाख से अधिक हो गयी है। लेकिन क्या वास्तविक बदलाव को महसूस किया जा रहा है। सम्भवतः ऐसा दावे के साथ नहीं कहा जा सकता। आज स्थानीय निकायों में महिला पंचो की जगह 'पति प्रमुख', 'पुत्र प्रमुख' की नई अवधारणा ने स्थान ले लिया है। परम्परागत समाज की मानसिकता सत्ता के रुप में उनके अधिकार को मान्यता नही प्रदान कर पा रहा है। पुरुष प्रधान समाज अपने अधिकार को वही नही खोना चाहता जहाँ से उसने इसे प्राप्त किया है। अगर ऐसा नही होता तो शिखर राजनैतिक संस्थाओं में महिलाओं को एक तिहाई आरक्षण का प्रश्न इतना विवादास्पद नही बनता।

निम्न सारिणी पर नजर डालने से लोकसभा एवं राज्यसभा में महिलाओं की वास्तविक राजनैतिक भागीदारी की तस्वीर स्पष्ट हो सकती है –

लोकसभा			
वर्ष	सीट	महिला सदस्य	प्रतिशत
1952	499	22	4.4
1991	544	39	7.2
1999	543	49	9.0
2014	543	65	12.5
2019	543	78	14.39

राज्यसभा			
वर्ष	सीट	महिला सदस्य	प्रतिशत
1952	216	15	6.9
1990	245	24	9.8
2000	245	22	9.0
2020	245	25	10

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि महिलाओं का प्रतिशत शीर्ष राजनैतिक संस्थानों में बहुत धीमी गति से लेकिन निरन्तर बढ़ता रहा है। यह 4.4 प्रतिशत से 14.39 प्रतिशत के बीच झूलता रहा है। जब लगभग आधी आबादी के शीर्ष राजनैतिक संस्थाओं में भागीदारी का प्रतिशत इतना निम्न है तब नारी सशक्तिकरण की कल्पना कितना दूर की कौड़ी प्रतीत होती है।

इस प्रकार निष्कर्ष निकालने का साहस किया जा सकता है कि जिस तेजी से स्त्रियों में भागीदारी के संकेत प्राप्त हुए है उस तेजी से पुरुष मानसिकता उसे स्वीकार करने में तत्पर नही रही है।

इस सन्दर्भ में यह समझना जरुरी है कि संघर्ष में स्त्रियों की शारीरिक बनावट तथा उनके स्त्रीजन्म कार्य उन्हें दुःखद स्थिति में कर देते है। अतः उनकी शारीरिक कुशलता का संरक्षण जनहित का उद्देश्य बन जाता है। जिससे जाति, शक्ति एवं निपुणता को सुरक्षित रखा जा सके। इसलिए संविधान का अनुच्छेद 15 {3} स्त्रियों के लिए सकरात्मक भेदभाव की वकालत करता है।

स्वास्थ्य समस्याएँ– भारत सरकार द्वारा 14 नवम्बर 1999 को बालदिवस के अवसर पर "बच्चे भारत की शक्ति" पुस्तिका में कुछ आकड़े प्रस्तुत किए गये है–

- भारत में प्रतिवर्ष 12,5000 महिलाएँ गर्भधारण के कारण या बच्चे के जन्म से सम्बध्द किसी कारण से मौत की शिकार हो जाति है।
- प्रत्येक वर्ष 1 करोड़ 20 लाख लड़कियां जन्म लेती है इनमें से 30 लाख लड़कियां अपना 15वां जन्म दिन भी नही देख पाती है।
- 20 से 25 वर्ष के आयु वाली महिलाओं में से 50 प्रतिशत का विवाह 18 वर्ष की आयु में ही हो जाता है।
- 72 प्रतिशत गर्भवती ग्रामीण महिलाएँ निरक्षर पायी गई।
- कक्षा 1 में प्रवेश लेने वाली प्रत्येक 10 लड़कियों में से केवल 6 ही पाचवीं कक्षा तक पहुँच पाती है।
- देश में 4,00,00,0 बाल वेश्याएँ हैं। व्यासायिक बाल वेश्यावृत्ति 8–10 प्रतिशत की दर से प्रतिवर्श बढ रही है।
- वुमेन इन इन्डिया ए स्टेस्तिकल प्रोफाईल 1988 के अनुसार भारतीय प्रशासनिक सेवा में 9.9 प्रतिशत महिलाऐं तथा पुलिस सेवा में मात्र 2.2 प्रतिशत महिलाएँ हैं।
- देश के तटवर्ती राज्यों मे नाबालिग अविवाहित मातृत्व की समस्या सामने आ रही है। उड़ीसा के आश्रय घरों में 1993 में अविवाहित मातृत्व के 14 मामले थे जो 2003 मे बढ़कर 174 हो गयी है।

आर्थिक समस्याएँ– स्त्रियों के कल्याण व सशक्तिकरण के लिए सुरक्षित और कारगर भू–अधिकारों का अत्यन्त महत्व है। यह उनकी राजनैतिक आवाज को मजबूत करने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण कारक सिध्द हो सकते है। पितृसत्तात्मक भारतीय समाज में माता–पिता अपनी पुत्रियों को जमीन देने से

हिचकते है। क्योंकि वह शादी के बाद दूसरे घर चली जाती है। वही दूसरी तरफ कारगर सामाजिक सुरक्षा प्रणाली न होने के कारण स्त्रियों के लिए भाई सम्भावित पारिवारिक सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था का हिंस्सा होते हैं। इसलिए कई भारतीय महिलाएँ भी माता–पिता की सम्पत्ति में अपना हक भाइयों के पक्ष में छोड़ देती है।

भारत में भू–प्रणाली में सम्पत्ति उत्तराधिकार पुरुषों के प्रति झुकाव को प्रदर्शित करता है। दूसरा पूरे भारत के लिए एक भू–सम्पत्ति तथा उत्तराधिकार कानून नही है। प्रत्येक राज्य के अपने–अपने कानून है। हिन्दुओं एवं मुसलमानों में अधिकांश स्त्रियां दो तरह की असमानताओं का सामना करती है प्रथम, पुरुषों की अपेक्षा विरासत में कम हिस्सा दितीय खेतिहर भूमि के सम्बन्ध में विशेष अयोग्याताएँ। इसके अतिरिक्त, स्वतन्त्रता के पश्चात पचपन वर्ष बाद भी कामकाजी जनसंख्या में से 70 प्रतिशत महिलाएँ अकुशल कामों में लगी है और उन्हे मजदूरी उस हिसाब से नही मिलती है। सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न है सम्पत्ति में साझेदारी। उत्पादन क्षेत्र में महिलाओं के पर्याप्त योगदान के बाद भी महिलाओं के लिए सम्पत्ति में साझेदारी नही के बराबर है।

महिलाओं को सशक्त बनाने के लिए कुछ सुझाव– सशक्तिकरण एक मानसिक अवस्था है जो कुछ विशेष आन्तरिक कुशलताओं और सामाजिक परिस्थितियों पर निर्भर है इसके–

1– रोजाना के नीरस उबाउ व कमरतोड़ कार्यो से मुक्ति।

2– आत्मनिर्भरता एवं उत्पादन क्षमता में वृध्दि।

3– देशाटन की सुविधा मिले व सुरक्षा–मिले।

4– निर्णय का अधिकार मिले।

5– सत्ता एवं सम्पत्ति में पुरुषों के साथ बराबरी का हक मिले।

6– ऐसी शिक्षा जो औरतों को उपरोक्त बातों के लिए तैयार करे। भारत जैसे पितृत्तात्मक समाज में लड़कियों की शिक्षा पर खर्च बेकार माना जाता है। इस सोच की बदलना होगा विषेशकर ग्रामीण क्षेत्रों में। उनमें आत्म जाग्रति उत्पन्न करना होगा। जिससे वे घर–बाहर निर्णय प्रकिया में भाग ले सकें। इससे उनके कौशल का विकास भी होगा और वे आर्थिक रुप से स्वावलम्बी भी बनेगी।

सशक्तिकरण की पहली कसौटी है निर्भयता–इसे पाने के लिए यह आग्रह करना होगा कि हमारी पुलिस और न्याय प्रणाली सक्षम बनें।

7– ऐसे कार्यक्रम बने औरतो के प्रति संवेदनशील हो, यौन अपराधों के लिए कड़ी सजा हो और आज भी ढीली दंड प्रकिया को बदला जाय।

8– घरेलू कामों के लिए महिला को सम्मान मिले यदा कदा छुट्टी भी मिले और उसके कार्यों में पुरुष सदस्यों की सहभागिता और साझेदारी हो इसके लिए सरकार कुछ नही कर सकती यह करना होगा की समाज के चिन्तको लेखको और प्रत्येक संवेदनशील व्यक्ति को।

9– उत्पादन–क्षेत्र मे महिलाओं के पर्याप्त योगदान के बाद भी महिलाओं के लिए सम्पत्ति में साझेदारी नही के बराबर है। इस दिशा में कानूनी सुधारों द्वारा तथा अन्य प्रशासकीय उपायों द्वारा सम्पत्ति मे महिला को अधिकार दिया जाय।

10– महिला मुद्दो और उनके मानवाधिकारों के प्रति समाज में जागरुकता बढाना।

11– सभी–सार्वजनिक दस्तावेजो और कानूनी प्रलेखों से ऐसे सभी सन्दर्भों को हटाना जो महिलाओं की प्रतिष्ठा के खिलाफ हो।

12– महिलाओं की समानता और शक्तिसम्पन्नता से सम्बन्धित सभी सामाजिक संदेशों के सम्प्रेषण हेतु विभिन्न प्रकार के प्रचार माध्यमों का प्रयोग।

13– प्रचार माध्यमों द्वारा महिलाओं को उपयोग की सामग्री बनाकर पेश किया जाना बन्द किया जाय। फिल्मों टी.वी. धारावाहिकों में महिलाओं की गलत छवि पेश की जा रही है इनमें महिलाओं को ड्राइंगरुम मे 30.88 प्रतिशत बेडरुम में 26.47 प्रतिशत डाईनिंग रुम मे 11.09 प्रतिशत रसोई घर में 2.94 प्रतिशत दिखाया जाता है जबकि भारतीय महिला का आधा दिन रसोई घर में ही बीतता है।

14– सम्पत्ति से सम्बन्धित कानून, वैवाहिक कानून, दहेज विरोधी अधिकार उनकी अस्मिता की रक्षा के लिए बनाये गये कानूनों का समुचित रुप से पालन हो। महिला के कारगर सशक्तिकरण के लिए कानून और न्याय को एक–दूसरे का पूरक और सहायक बनाना होगा।

15– स्त्रियों के कल्याण और सशक्तिकरण के लिए सुरक्षित और कायम भूमि अधिकारों का महत्वपूर्ण स्थान है इसके लिए लिंग समानता के पोषक और गैर सरकारी संगठनो, विशेषकर महिला समूहों तथा ऐसे ही सरकारी संगठनों को जो स्त्रियों के लिए सशक्तिकरण गरीबी व सम्मानपूर्ण–विकास के लिए जिम्मेदार है एकजुट होकर कार्य करना होगा।

निष्कर्ष – नारी सशक्तिकरण का मुद्दा लगभग आधी आबादी से जुड़ा हुआ है। इससे मुँह मोड़ना अब लगभग असम्भव है। इससे सम्बन्धित बाधाएँ वास्तविक है। बाधाएँ रास्ता रोकती है, उन्हे हटा दिया जाये तो गति को पंख लग जाते हैं। सशक्तिकरण का मामला भी कुछ ऐसा ही है। हमारी ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक कुप्रथाओं का दंश हमारी महिलाओं के अधिसंख्य भाग को आज भी झेलना पड़ रहा है। इससे हमारा बहुत नुकसान हुआ है। इसे रोकना नितान्त आवश्यक है। महिला सशक्तिकरण का मुद्दा जो काफी समय से उपेक्षित रहा है अब राष्ट्रीय एजेण्डे में प्रमुख है। अगर भारत को समग्र विकास करना है तो औरतों की स्थिति में सुधार लाए बिना यह सम्भव नही है।

एक पंख से चिड़िया उड़ान नही भर सकती ।

सन्दर्भः

1. महिला सशक्तिकरण–इन्दराज सिंह पब्लिसर्स, डायलाग बुक्स 1 ज. 2020
2. समाजशास्त्र विवेचन–सिन्धी और गोस्वामी
3. योजना पत्रिका मासिक–नारी शक्ति, सितम्बर 2021

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

दलित से जुड़े प्रश्नों से जूझता समाज

डॉ0 ममता
पूर्व शोध छात्रा
स्कूल ऑफ ह्यूमैनिटीज
अग्नू, नई दिल्ली–110068

साहित्य मनुष्य जीवन की एक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। साहित्य समाज के रूप को शब्दबद्ध कर उसे विस्तार देता है। समाज के प्रत्येक वर्ग , जाति, लिंग, धर्म और समुदायों के लोगों के भावों की अभिव्यक्ति साहित्य की किसी न किसी विधा में अवश्य हुआ है। शोषित और शोषक समाज के दो वर्ग हैं जिसका आधार जाति, धर्म, आर्थिक असमानता के अलावा घृणा , द्वेष, लालच, जैसे भावों के कारण रहता है जिसने साहित्य को विस्तृत किया है। समाज में प्रेम और सद्भाव की कामना के साथ लिखा गया साहित्य , अपनी मजबूत पकड़ बनाए रखता है क्योंकि यह समाज को आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। हालांकि यह तभी सभंव है जब साहित्यकार ईमानदारी से समाज का यथार्थ साहित्य में दिखाते रहें। दलित साहित्य का उद्देश्य समाज में किस प्रकार के साहित्य का निर्माण करना तथा वह कहाँ तक इस दिशा में सफल हो पाया है , इसकी चर्चा करता हुआ आज दलित विमर्श भी साहित्य में मौजूद है। उल्लेखनीय है कि दलित समाज जो वर्ण व्यवस्था के कारण कर्म व्यवस्था पर आधारित था उससे विकसित होकर जातिव्यवस्था के अंतर्गत उसे सबसे निचले पायदान पर आंका जाता है, जिस कारण समाज में उसे वर्षों से उपेक्षा और अपमान झेलना पड़ा। इस जाति व्यवस्था के अंतर्गत माना जाता है कि दलित व्यक्ति को कुछ निर्धारित स्थानों पर जाना वर्जित है। ब्राह्मण को न्यायकर्त्ता के रूप में यह समाज पद्धति स्थापित करती हुई दिखती है जिसका आधार योग्यता नहीं बल्कि जिस जाति विशेष में मनुष्य ने जन्म लिया है वही निर्धारित करती है। जैसे किसी मंदिर का पुजारी बनने की योग्यता केवल किसी ब्राह्मण जाति में पैदा होना ही है तो वहीं मैला ढोने का काम करने के लिए दलित जाति के लोगों को ही मजबूर किया जाता है। स्वतंत्र भारत में दलितों को आरक्षण तथा कुछ कानून हक मिलने से इनकी स्थिति भले ही कुछ हद तक बदली हो परन्तु समाज को बाँटने की यह रीति आज भी चली आ रही है। आये दिन अखबारों में जातिवाद से शोषित और उत्पीड़न जनता की खबरें प्रकाशित हो रहीं है जो बेहद ही दुखद है। बिहार , यूपी और उतराखंड में कई ऐसे मामले सामने आए हैं जब भोजन सहायकों द्वारा बनाए भोजन को सवर्णों ने खाने से मना कर दिया जिसका प्रमुख कारण भोजन सहायक का दलित जाति से होना था। ऐसी घटनाएं हमें बार-बार स्तबंध करती हैं कि हम कैसे समाज का हिस्सा हैं जहाँ आज भी जातिवाद का जहर फैला हुआ है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी साहित्य के इतिहास में काल विभाजन किया परन्तु दलित साहित्य के इतिहास व साहित्यकारों को उसमें कितना स्थान मिला? यह प्रश्न जायज है क्योंकि इससे इस बात का पता चलता है कि इतिहास लेखन के दौर में दलित साहित्य की स्वीकारिता कितनी थी ? क्या दलित साहित्य को साहित्य ही

नहीं स्वीकारा गया? दलितों द्वारा लिखे इतिहास को आलोचकों ने अस्वीकार ही नहीं किया बल्कि दलित समाज की उपेक्षा को भी यह साफ दिखाता है। हिंदू समाज व्यवस्था के पोषक (ब्राह्मण) , शूद्रों और दास-दस्युओं को ही अछूत के रूप में स्वीकार करते चले आये हैं। इस संदर्भ में पर्याप्त शोध किया गया जिसमें लगातार परंपरागत विचारों का खंडन किया है। जैसा कि हम जानते हैं कि ऋग्वेद में 'दासट' शब्द चौवन (54) बार और 'दस्यु' 78 बार आया है। आलोचक रामशरण शर्मा अपनी किताब 'शूद्रो का प्राचीन इतिहास ' में वैदिक काल में शूद्र की सामाजिक और आर्थिक स्थिति के विषय में बताते हैं- **"वैदिक काल में, गुलामी या कृषिदासता की दृष्टि से. शूद्रों की स्थिति सुनिश्चित करना कठिन है। यद्यपि संदर्भों से धारणा बनती है कि मजदूर वर्ग को शूद्र की संज्ञा दी जा रही थी, फिर भी सामान्यतया ऐसा प्रतीत नहीं होता कि वे किसी खास व्यक्ति के गुलाम या कृषिदास थे।"**[1] इस उक्त कथन से यह शंका होती है कि क्या उस काल में शूद्र जातियों के साथ भेदभाव पूर्व व्यवहार नहीं था तथा क्या उस समय शूद्र कहीं जाने वाली यह जातियाँ आज की दलित जातियों से भिन्न है ? इन प्रश्नों के हल ढूँढने के प्रयास में यह भी अर्थ निकलता है कि अगर वैदिक काल या परवर्ती कालों में शूद्रों द्वारा किये जा रहे चमड़े के काम के प्रति भी घृणा का भाव समाज में नहीं था तो इससे यह बात लगने लगती है कि बौद्ध काल आते-आते शूद्रों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति में काफी बदलाव हुआ। बौद्ध धर्म में प्रचलित कथा तथा रवीन्द्रनाथ द्वारा लिखा नाटक 'चाण्डालिका' जिसमें बुद्ध के शिष्य आनंद द्वारा अछूत समाज की चांडालिका के भीतर हीनता बोध को खत्म किया गया। यह कथा यह संकेत देती है कि बौद्ध काल में समाज में छुआछूत जैसी प्रथा थी, जिसे बौद्ध भिषुओं द्वारा समाप्त करने का प्रयास किया गया। इसके अलावा बुद्धदेव का यह कथन भी यह स्पष्ट करता है कि शूद्रों के साथ समाज की विभेदकारी रीति उस काल में उपस्थित थी , जिस कारण से बुद्धदेव इस पर अपने मंतव्य प्रस्तुत करते हुए कहते हैं- **"जिस प्रकार राजा या राज्यक्षेत्र के स्वामी के लिए सारा राजस्व अपने ही हित में लगाना श्रेयस्कर नहीं है, उसी प्रकार ब्राह्मण या श्रमण का सारे ज्ञान पर एकाधिकार कर लेना उचित नहीं।"**[2] इस कथन से दो बाते स्पष्ट होती हैं कि शूद्रों की स्थिति उस समय ऐसी थी कि उन्हें ज्ञान प्राप्ति का अधिकार नहीं था। दूसरा यह कि उस काल में 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग होता था तभी इस कथन में बुद्धदेव ब्राह्मण शब्द का प्रयोग करते हैं। जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वर्ण-व्यवस्था उस समय थी। इस कथन की व्याख्या में भी रामशरण शर्मा , अध्यापक बनने के लिए चंडालों को भी अवसर देने की बात कहते हैं। इसके अलावा बौद्ध काल में शूद्र जातियों के साथ भेदभाव का जिक्र करते हैं। जिन्हें अंत्य या बाह्य कहकर गाँव या नगर से बाहर रखा जाता था। इनका आश्रय गाँव के बाहरी छोर पर होता था जिन्हें अस्पृश्य मानकर ब्राह्मणों ने आबादी से दूर कर दिया। डॉ श्यौराज सिंह समाज में आए बदलावों को देखते हुए आज भी दलितों का शोषक सवर्ण समाज को मानते हैं। वे लिखते हैं - **"समाज, साहित्यिक और परिस्थितियों में लगातार परिवर्तन होता रहा है उसी तरह दलितों की पहचान बदलती रही है , परंतु हर युग में उन्हें सवर्णों से संघर्ष करना पड़ता रहा है।"**[3]

रामशरण वर्मा अस्पृश्यों की उत्पत्ति के कारणों की खोज में कई व्याख्याओं से गुजरे। पहली व्याख्या यह थी कि अस्पृश्य जातियाँ वह थी जो विभिन्न जातियों से उत्पन्न हुई , जिसे आलोचक ने सरे से नकार दिया। दूसरी व्याख्या में कहा गया कि जिन लोगों ने गोमांस खाया वह अछूत करार दिए गये , परन्तु इस व्याख्या पर संदेह करते हुए आलोचक कहते हैं कि ब्राह्मणों द्वारा गौ मांस न खाने की बात मात्र 'गौतम धर्मसूत्र' में मिलती है , इसके

अलावा किसी भी ग्रंथ में यह बात नहीं कही गयी। तीसरी व्याख्या करते हुए आलोचक बताते हैं कि अस्पृश्य द्रविड़ मूल के थे जिस कारण से आर्य मूल के कहे जाने वाले ब्राह्मण उनसे घृणा करते थे , इस व्याख्या को भी आलोचक रामशरण शर्मा ने खारिच करते हुए कहा है- **"इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता कि ब्राह्मणप्रधान समाज में द्रविडों के आत्मसात्करण के पहले , उनके द्वारा ब्राह्मणवाद के अंगीकार के पहले दक्षिण में अस्पृश्यता प्रचलित थी।"**[4] हालांकि हाल के वर्षों में हुए शोध के जरिये यह पता लगाया गया है कि भारत के मूल निवासियों का डी.एन.ए द्रविड़ जातियों से मिलता है और इसके अलावा भारतीय धर्म ग्रंथों में राक्षस की तुलना द्रविड़ों के रूप-आकार से करना , उन्हें कदाचित आर्यो के नायकों के विरोधी दिखाकर प्रस्तुत किया जाता है, जो द्रविड़ और आर्यों के बीच के मतभेदों की तरफ इशारा करता है। 'यूरेशिया अनुसंधान रिपोर्ट' में यह बताया है कि ऊँचे वर्ण के पुरुष मूल भारतीय नहीं है। संचित धनवे अपने लेख में विचारणीय तथ्यों को प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि- **" अनुसंधान यह साबित करता है कि , ऊँचे जाति के लोगों की बजाए भारत के निचली जाति के लोग आदिवासी लोगों से अधिक जुड़ते हैं एवं समान है। याने अन्य पिछड़ी जाति एवं अनुसूचित जाति लोगों का उद्गम आदिवासी लोगों में से ही हुआ है। फिलहाल ऊँचे वर्ण के लोगों में थोड़ी बहुत मात्रा में पाये जाने वाले इस ग्रुप के लाईनेज आम तौर पर 3500 सालों पहले वे भारत में आने के बाद हुये मिश्रण का नतीजा है। "**[5] श्यौराज सिंह दलित की परिभाषा में दलित को अनार्य , बहिष्कृत, अछूत और अस्पृश्य कहलाने वाली जातियों के रूप में संबोधित करते हुए दलित के व्यापक पर्यायवाची बतातें हैं जो भारतीय समाज में प्रचलित हैं।

एक शब्द अपने मूल शब्द से परिवर्तित होते-होते कुछ का कुछ बन जाता है इसलिए यह जानना कि दलित को क्या-क्या संज्ञा दी गई और शूद्र को आलोचकों ने किस अर्थ में देखा है। वर्ण व्यवस्था में शूद्र जातियों को जो कर्तव्य दिये गए वह न्यायोचित नहीं थे , यह कहना और जानने के लिए उन कई अन्य परिभाषाओं को जानना भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। चांडाल , अंत्य, अंत्जय, हरिजन की एक लंबी यात्रा के बाद दलित की सामाजिक पृष्ठभूमि का आधार बनी। यह तमाम प्रश्न और शंकाएं लाजमी है। इसलिए 'दलित' शब्द की साहित्य और समाज में जब से स्वीकृति हुई , तब से ही इसके अर्थ को जानने का प्रयास शोध में किया जा रहा है ताकि तमाम व्याख्याओं व संभावनाओं के जाल में फँसे बिना 'दलित' शब्द के आज के संदर्भ में उपयोगिता को जाना जाये। दलित के आधुनिक रूप को जानने का प्रयास किया जा रहा है। सर्व प्रथम दलित शब्द के सामान्य अर्थ से विशिष्ट की ओर जाते हुए इसके अर्थ को समझने का प्रयास करते हैं।

'दलित' शब्द आज काफी चर्चा में है परन्तु इसकी सही-सही और उचित व्याख्या करना अभी भी संभव नहीं हो पाया है। 'दलित' शब्द को समझने के लिए हमें इसके कोशीय एवं व्यवहारिक अर्थ को जानना आवश्यक है। किसी शब्द की उत्पत्ति और उसके पीछे छिपे इतिहास को जाने बिना हम किसी भी शब्द को पारिभाषित नहीं कर सकते। इसलिए हम विभिन्न कोशों ने दलित शब्द के बारे में क्या-क्या लिखा है। उसके अर्थ के संदर्भ में विभिन्न कोश क्या कहते हैं। सबसे पहले इसको जानना अनिवार्य है। लगभग सभी कोशों में दलित को शोषित के रूप में परिभाषित किया है जो दमित , उत्पीड़ित है जिसका सामाजिक शोषण किया गया है। दलित पैंथर्स अपने घोषणा पत्र में इसे व्यापक अर्थो में परिभाषित करता है दलित के अर्थ को विस्तार देते हुए आलोचक शैलेश मरजी

कदम लिखते हैं – **"दलित का अर्थ है अनुसूचित जाति, बौद्ध, कमागार, भूमिहीन, मजदूर, गरीब किसान, खानाबदोश जातियाँ,आदिवासी और नारी समाज।"**[6]

कई विद्वान व इतिहासकार यह मानते हैं कि आर्य-अनार्यों के संघर्ष के बाद जो हारे उन्हे बंधी बना लिया गया तथा उन्हे दास , असुर, आदिवासी, दस्यु व शूद्र कहा गया। श्यौराज सिंह बैचेन अपने लेख 'हिंदू धर्म में दलित' में इतिहासकार डाँ रामशरण शर्मा के कथन को उद्धृत करते हैं कि- **"घुमक्कड़ आर्यों-अनार्यों के बीच भयानक संघर्ष हुआ। दस्यु के पास स्वर्ण , हीरा, जवाहरात भी थे , जिनके चलते आर्यों का मन मचल गया। दस्युओं के रहन-सहन से भी आर्य उनके विरोधी हो गए। "**[7] यह संघर्ष इतिहास बदलने में निर्णायक सिद्ध हुआ। बाहर से आए आर्यों ने बाद के वर्षों में अपने को भारत का मूल निवासी स्थापित करने के लिए कई झूठ फैलाए। शूद्र कही जाने वाली जातियाँ भारत की रक्षक संस्कृति का हिस्सा थी इसलिए डॉ. अंबेडकर इन्हें क्षत्रिय कहते हैं परन्तु यह भी मानतें हैं कि वेदों, उपनिषदों व मनु स्मृति में शूद्र को पाप-पुण्य से जोड़कर देखा तथा समाज में भ्रम फैलाने का प्रयास किया। डॉ. अंबेडकर कहते हैं कि- **" जिन्हें शूद्र कहा जाता है असल में वह भारत के 'रक्षक संस्कृति' के थे जो युद्ध में आर्यों से हारे और अपनी ही धरती पर गुलाम बनकर रह गए"।**[8] आधुनिक युग आते-आते शूद्र को 'दलित' की संज्ञा मिली तथा डाँ अंबेडकर ने इसे शोषितों का पर्याय बना दिया।और जातिवादी वर्ण-व्यवस्था पर टिकी है। समाज के अन्य वर्ग, जाति, समुदायों से पूछा जाये कि दलित किसे कहा जाता है तो सामान्यत: ; वह रंग को आधार बनाकर दलितों की व्याख्या करते हैं। 'अवर्ण' अर्थात वर्ण से हीन जिसे सामान्य अर्थों में काला व्यक्ति भी कहा जाता है।

भारत तथा विदेशों में भी रंग के आधार भेदभाव होता है। स्त्री के सौंदर्य व गुणों का मूल्यांकन बिना किसी मजबूत प्रमाण के स्वीकार कर लिया जाता है कि सवर्ण रंग की स्त्री कुशल तथा गुणवान है तथा वहीं अवर्ण लड़की, घर के लिए अनुपयुक्त और वधू के रूप में अयोग्य सिद्ध की जाती है। ऐसी कितनी ही भ्रांतियाँ हमारे समाज में देखने को मिलती है। अवर्ण , अयोग्य, हीन, कमजोर व धर्म की दृष्टि मे उपेक्षित माने गए वहीं सवर्ण सर्वगुणसंपन्न, बलवान तथा देव तुल्य समझे जाते हैं इसलिए 'अवर्ण' दलित जाति के लिए उपयुक्त शब्द नहीं है इसमें कई पूर्व आधारित अर्थ समाहित हैं जो दलित विरोधी , प्रतिगामी, व्यवस्था विरोधी, सामंत विरोधी तथा धर्म विरोधी तत्वों को सही ढंग से प्रस्तुत नहीं कर सकता।

दलित जातियों को अवर्ण कहकर भी संबोधित किया जाता है , कहा जा सकता है कि दलित साहित्य भी अवर्ण समाज के विरोध का साहित्य है जिसमें उनकी अवर्ण समाज के जीवन शैली व परंपरा से जुड़ा शब्द है। वर्ण व्यवस्था के संदर्भ में अवर्ण के अर्थ को देखते हुए डॉ. वतिका प्रसाद मरमट का विचार उल्लेखनीय है- 'सवर्ण का एक अर्थ एक रंग वाले समाज के रूप में भी आया है । अवर्ण समाज का जिक्र इस संदर्भ में हुआ है कि जो ब्राहमण, क्षत्रिय और वैश्य आदि में से किसी भी वर्ण का न हो अर्थात जिसका कोई वर्ण या रंग न हो । अवर्ण का एक अर्थ वर्ण-धर्म-रहित के रूप में भी लिया गया है तथा उसे ब्राहमण आदि धर्म से शून्य माना जाता है 'अवर्ण अर्थात जिसे चार वर्णों के बाहर भी माना गया । इतिहास में दलितों को पंचम वर्ण के रूप में भी संबोधित किया गया है।

दलित की व्याख्या डाँ अंबेडकर शोषित जाति के रूप में करते हैं वह शूद्र व अछूत शब्द की जगह शोषित जाति (Depressed caste) का प्रयोग करते हैं, डॉ. अंबेडकर ने भी इसी शब्द का प्रयोग किया है। डाँ तेज सिहं इतिहास की घटना का जिक्र करते हुए कहते हैं कि- **"व्यापक सामाजिक–सांस्कृतिक आधार वाले दलित वर्ग को अस्पृश्यों का पर्याय बना दिया गया और भारत सरकार ने भारत सरकार अधिनियम 1935 की एक अनुसूची में अस्पृश्यों को अनुसूचित जातियों के रूप में चिह्नित कर दिया गया। इसके बाद डॉ. बी. आर.अंबेडकर द्वारा सामाजिक–आर्थिक स्तर पर शोषित उत्पीड़ित तबकों के लिए व्यापक अर्थ में दलित वर्ग संघ की स्थापना हुई। "**[9] हिंदीं फिल्म 'काला' में भी काला या अवर्ण रंग श्रम का प्रतीक के रूप में देखा गया है। शब्दों के जाल में फँसकर हम अपनी मूलचेतना को नहीं भूला सकते।

डॉ. धर्मवीर अपने लेख "दलित साहित्य की परिभाषा: समग्रता और पूर्णता की ओर " में कहते हैं कि - **"यह कहना किसी भी दलित का मूल अधिकार है कि वह हिंदू वर्ण-व्यवस्था का अंग नही है। "**[10] जिस दिन दलित समाज यह स्वीकार कर लेगा कि वह हिंदू धर्म के अंतर्गत नहीं आता उस दिन सही मायने में उसमें ज्ञान का संचार हो जाएगा। कुछ दशकों पूर्व आज का दलित समाज हिंदू धर्म का हिस्सा नहीं था। जिस देश का इतिहास हिंदू इतिहास नहीं था वह हिंदू घोषित हो गया। जो विचार परंपरा मान ली गई वह ब्राह्मण ने बनाई जिसका भारतीय सामाजिक व्यवस्था पर एकाधिकार रहा क्योंकि इस व्यवस्था को बनाने व पोषित करने वाला ब्राह्मण ही था। मुद्राराक्षस मानते हैं कि भारतीय उप-महाद्वीप का ऐतिहासिक-सामाजिक-सांस्कृतिक चित्र आज तक दुनिया ने जो देखा जो ब्राह्मण ने दिखाना चाहा। आलोचक धर्मवीर द्वारा कही गई यह बात कि दलित हिंदू नहीं है कि पुष्टि आलोचक मुद्राराक्षस करते हुए कहते हैं कि- **"सन 1911 की जनगणना के समय पहली बार ब्राह्मण नेताओं ने अंगरेज सरकार पर दबाव डाला कि सभी कायस्थ , पिछड़े, आदिवासी हिंदू लिखे जाएँ। भारतीय इतिहास की यह छोटी घटना है। संस्कृति के इतिहास में यह मामूली-सा दिखने वाला हेरफेर इस देश की ऐतिहासिक वास्तविकता को ध्वस्त करने में कामयाब हो गयी। "**[11] यह तथ्य दलित समाज को उनका इतिहास बताता है तथा स्वार्थी ब्राह्मण वर्ग की चालाकियों की पोल भी खोलता है। भारत में अल्पसंख्यक शब्द के नाम पर की गई घपलेबाजी हो या भारत को हिंदू बहुल राष्ट्र कहलवाने के पीछे गहरी साजिश का होना , यह तथ्य इन सभी प्रश्नों का उत्तर देता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं कि नवजागरण और स्वतंत्रता-संघर्ष के समय हिंदी साहित्य और राजनीतिक हलचलों के बीच जो राष्ट्र विकसित हो रहा था वह वास्तविक आज़ादी की राह नहीं दिखा रहा था इस बात पर प्रकाश डालने के लिए वह ज्योतिबा फुले का एक उद्धरण देते हैं जिसमें ज्योतिबा फुले कहते है- **"एक ऐसा समाज जो जातियों में बुरी तरह बँटा है , वास्तव में वे इसे तोड़ने वाले लोग हैं। वे इसके संस्थागत रूप को भूलकर अपने आपकी शक्ति के आधार पर इसका निर्माण करने का प्रयास कर रहें हैं। "**[12] धार्मिक ग्रंथों में संस्कृति को सर्वोपरि व सर्वश्रेष्ठ मानकर समाज में बँटवारा कर शोषण की परंपरा को रोकने के लिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण की आवश्यकता है जबकि भारतीय संस्कृति का तर्क और वैज्ञानिक दृष्टि से कोई लेना देना नहीं है बल्कि वह तो अविवेक , अंधविश्वास दलित साहित्य की विचारधारा में ब्राह्मणवाद का विरोध, अम्बेडकरवाद का प्रभाव, बौद्धों का भौतिकवादी दर्शन की छाप , वैज्ञानिक दृष्टिकोण की स्वीकार्यता तथा दलित विरोधी मानसिकता का खंडन करना शामिल है। डॉ अम्बेडकर और ज्योतिबा फुले ने दलितों को जो विचार और विवेक दिया वह ही दलित के अधिकारों को दिलाने में सहायक सिद्ध होगी। यह सभी तथ्य यह बताते

हैं कि किसी व्यक्ति और समाज के इतिहास को जाने बिना उसके अधिकारों की लड़ाई लड़ना तथा परिवर्तन की लौ जलाना आसान नहीं है तथा शोषित समाज को कूप अंधकार से दूर करने के लिए यह आवश्यक भी है।

संदर्भ सूची-

1. शूद्रो का प्राचीन इतिहास, रामशरण शर्मा, राजकमल प्रकाशन, पृ.सं 53
2. शूद्रो का प्राचीन इतिहास, रामशरण शर्मा, राजकमल प्रकाशन, पृ.सं 123
3. दलित चेतना और स्त्री विमर्श, संपादक-विजय कुमार 'संदेशु' एवं डॉ नामदेव, क्लासिकल पब्लिशिंग, प्रसं-2009, पृ.सं 33
4. शूद्रो का प्राचीन इतिहास, रामशरण शर्मा, राजकमल प्रकाशन, पृ.सं122
5. डीएनए अनुसंधान की सहायता से मूलनिवासी की खोज (लेख), लेखक-संचित धनवे, 'विदेशी ब्राह्मणों की मातृभूमि: युरेशिया', संपादक- प्रो. विलास खरात, प्रकाशक-डॉ बाबासाहब आंबेडकर रिसर्च सेंटर, नई दिल्ली, प्र. संस्करण 7 मई 2020, पृ.सं 81
6. शैलेश मरजी कदम, लेख दलित शब्द का उद्भव एक ऐतिहासिक यात्रा,बहुवचन पत्रिका, महाठी साहित्य, विशेषांक,अक्टूबर-दिसंबर 2018 पृ.346-347)
7. ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य: अनुभव, संघर्ष एवं यथार्थ, राधाकृष्ण पैपरबैक्स, पहला संस्करण 2020, पृ.सं 41
8. दलित साहित्य और युगबोध, संपादक- डॉ. एन सिंह,लता साहित्य सदन, संस्करण- 2005, पृ.सं 15
9. तेज सिंह साहित्य आंदोलन –साहित्य विशेषांक -2009 ,अतिथि संपादक क्षितिज शर्मा,संपादक –अपूर्व जोशी नोएडा उ.प्र.पृ.117)
10. जयप्रकाश कर्दम, दलित साहित्य 1999, पृ.सं 34
11. 'धर्मग्रंथों का पुनर्पाठ ,मुद्राराक्षस, संस्मरण 2016, गौतम बुक सेंटर,पृ.सं11 **)**
12. पत्रिका- दलित साहित्य 1999 ,संपादक- जयप्रकाश कर्दम, वर्ष 1999

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

वैदिक कर्मकांड का विश्लेषण और अध्ययन

अखिलेश कुमार
शोधार्थी
इतिहास विभाग,
अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय,
रीवा, मध्य प्रदेश

वैदिक संस्कृति का कर्मकांड प्रधान अंग है| यह मनुष्य की अनेक भौतिक और आध्यात्मिक इच्छाओं को पूर्ण करता है| कई प्राचीन ऋषि-महर्षि जो कर्मकांडी थे, वे शास्त्रों के अनुसार अपना जीवन व्यतीत किया करते थे और कर्मकांड के द्वारा अपना और जगत का कल्याण किया करते थे| सम्पूर्ण वैदिक धर्म(या कहे वेद) तीन कांडों में विभक्त हैं-

1. कर्मकाण्ड
2. ज्ञानकाण्ड
3. भक्तिकाण्ड/उपासना काण्ड

वेद का अधिक अंश कर्मकाण्डसे परिपूर्ण है| वेद के एक धारण मंत्र में से अस्सी हजार कर्मकाण्ड की ऋचाएं हैं| इसीलिए पूरी तरह से कर्मकांड का वर्णन करना संभव नहीं है| भागवतपुराण11.27.6 ' श्रीभगवानुवाच-न हान्तोअंतपारस्यकर्मकांडस्यचोद्वव'| अर्थात् "भगवान श्रीकृष्ण ने कहा-उद्धव जी, कर्मकांड का इतना विस्तार है कि उसकी कोई सीमा नहीं है|"तो जिस विषय की कोई सीमा नहीं है, उस पर आप जो भी कहेंगे, वह कम होगा| लेकिन फिर भी इस लेख में हम कर्मकांड के मुख्य विषयों को जानेंगे|

1. कर्मकांड शब्द-

कर्मकांड यह शब्द कर्म और कांड से मिलकर बना है| कर्म तो आप समझते ही हैं, सबकुछ जो आप करते हैं वो कर्म है| और काण्ड का अर्थ किसी घटना से है, जीवन के अध्याय से है| उदाहरण से समझे –"सूर्य उदय होना" यह एक घटना है, अब इस घटना पर क्या कर्म करना चाहिए इसके लिए आपको कर्मकांड जानना होगा| दूसरे उदाहरण से समझे-"विवाह यह जीवन का एक अध्याय है" जीवन के इस महत्वपूर्ण अध्याय पर क्या कर्म करना चाहिए इसके लिए आपको कर्मकांड जानना होगा| कर्मकांड वह विधि है जिसके द्वारा यजमान को इस लोक में अभीष्ट (चाहां हुआ)फल की प्राप्ति हो और मृत्योपरांत यथेष्ट (जितना चाहिए उतना) सुख मिले|

कर्मकांड के मुख्य कर्म –

कर्मकांड में यज्ञ सबसे मुख्य है| क्योंकि वेदों के कर्मकांड भाग में, यज्ञादि विभिन्न अनुष्ठानों का विशेष वर्णन है, इसीलिए यज्ञ 'कर्मकाण्ड' का मुख्य विषय है| यज्ञ कर्मकाण्ड का मुख्य विषय होने के कारण, कर्मकाण्ड में मन्त्रों का प्रयोग (उच्चारण) किया जाता है| उदहारण के लिए, संध्या के समय, विवाह के समय, भूमि पूजन आदि के समय यज्ञ किया जाता है|

कर्मकांड को केवल यज्ञ नहीं समझना चाहिए, क्योंकि कर्मकांड सामाजिक और धार्मिक जीवन पर भी प्रकाश डालता है| जैसे व्यक्ति के जन्म लेने से पूर्व से प्रारम्भ होकर मृत्यु पर्यंत चलने वाले विभिन्न धार्मिक

कृत्य भी कर्मकांड है| इसीलिए, कर्मकाण्ड का सम्बन्ध मानव जीवन के सभी प्रकार के कर्मों से है| इसके यज्ञ, सेवा,पूजा, मनुष्य का आचरण, वर्णाश्रम धर्म आदि आते हैं|

लेकिन, यह भी ध्यान रहे कि कर्मकाण्ड का विधि-विधान अत्यंत कठिन है| इस विषय में भागवत दशम स्कंध के 64 अध्याय ' राजा नृग की कथा' प्रमाण है| उन्होंने गौदान करने में कुछ भूल कर दी, जिसके परिणामस्वरूप उन्हें गिरगिट बनना पड़ा| इस सन्दर्भ में एक बात और ध्यान देने योग्य है कि वेद मन्त्रों में स्वर होता है, यदि उनका उच्चारण सही नहीं हुआ तो अर्थ का अनर्थ हो जायेगा | इसलिए गायत्री मन्त्र आदि का यूँ ही नहीं उच्चारण नहीं किया जाता बल्कि स्वर सहित किया जाता है| इसीलिए कर्मकांड में एक भी गलती करने पर ऐसा कहा जाता है कि मनुष्य को उसका परिणाम भोगना पड़ता है|

यदि कर्मकांड को संक्षेप में और सरल शब्दों में कहें, तो कर्मकाण्ड में वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य,शुद्र) और आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास) अर्थात् वर्णाश्रम धर्म का पालन करना होता है| इसका विधिवत पालन करने से व्यक्ति पुण्य अर्जित करता है, जिससे वह पुण्य लेकरस्वर्ग अर्थात् भगवान के लोक में मरणोपरांत जाता है| ध्यान दे, भगवान का लोक भी कर्मकांड दिला सकता है, अगर विधिवत पालन हो तो| ऐसा इसीलिए क्योंकि कर्मकांड (वर्णाश्रम) में भक्ति करने को कहा गया है| उदाहरण है, पांडव, उन्होंने वर्णाश्रम धर्म का पालन भी किया और अंत में भक्तों को गति मिली|

कर्मकाण्ड के ग्रन्थ-

यद्यपि अन्य तीनों वेदों में कर्मकाण्ड का वर्णन है, किन्तु यजुर्वेद के प्रथम से उनतालिसवें अध्याय तक कर्मकाण्ड का ही वर्णन मिलता है| इनके अलावा, कर्मकांड के बारे में दो महत्वपूर्ण ग्रन्थ है,जो वेद के अनुसार है| वे इस प्रकार हैं- पूर्व मीमांसा दर्शन(महर्षि जैमिनी) और कर्म मीमांसा दर्शन(महर्षि भारद्वाज)| इनके अलावा, सबसे प्रचलित और सबसे बड़ा कर्मकांड के बारे में कोई दूसरा ग्रन्थ है, तो वो है महाभारत| महाभारत में एक लाख से भी अधिक श्लोक है; हमें कब क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए और किस परिस्थिति में क्या करना चाहिए, उनका उल्लेख है|

2. 'ज्ञानकाण्ड' शब्द-

ज्ञानकाण्ड शब्द ज्ञान और काण्ड से मिलकर बना है| जैसे असत्य के ज्ञान को अज्ञान कहते है, वैसे ही सत्य का ज्ञान, ज्ञान है| इस प्रकार ज्ञान का अर्थ सत्य का ज्ञान और कांड का अर्थ किसी घटना से है, अब इस घटना का ज्ञान करना है तो इसके लिए आपको ज्ञानकाण्ड जानना होगा| उदाहरण के लिए " सूर्य उदय होना" यह एक घटना है, अब इस घटना का ज्ञान करना है तो इसके लिए आपको ज्ञानकाण्ड को जानना होगा| इस तरह के गूढ़ प्रश्नों को जानने के लिए आपको ज्ञानकाण्ड जानना होगा| यानी ज्ञान की जिज्ञासा है तो आपके लिए ज्ञानकाण्ड है|

ज्ञानकाण्ड के मुख्य अंग-

वेद का अधिकांश भाग कर्मकांड से परिपूर्ण है, शेष अल्पभागज्ञानकाण्ड है| एक लाख वेदमन्त्र में से चार हजार ज्ञानकाण्ड की ऋचाएं हैं| जिसमें जीव और ब्रह्म के पारस्परिक सम्बन्ध, स्वरूप, लोक, परलोक आदि पर विचार किया गया है| इसके अतिरिक्त ज्ञानकाण्ड में भगवान के निराकार स्वरूप पर अधिक विचार किया गया है| इसीलिए जो निराकार स्वरूप के उपासक हैं, उन्हें ज्ञानी कहा जाता है| वेद के ज्ञानकाण्ड के अधिकारी बहुत थोड़े से व्यक्ति हैं| अधिकांश कर्मकाण्ड के अधिकारी हैं| तुलसीदास जी रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में लिखते हैं कि ' ज्ञान पंथ कृपानकै धारा| परत खगेशहोई नहीं बारा||' अर्थात् ' ज्ञान का मार्ग कृपाण की धार के समान है| हे पक्षीराज इस मार्ग से गिरते देर नहीं लगती|" इसीलिए सब मार्ग पर चलना बहुत कठिन है|

ज्ञानकाण्ड के बारे में अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ये अनुभव का मार्ग है| वास्तव में हम सत्य को तभी स्वीकार करते हैं, जब हम उसे अनुभव करते | अब यदि ज्ञानियों की भाषा में कहें, तो सत्य से हमारा योग कैसे हो उसके लिए ज्ञानकाण्ड को जानना होगा| ध्यान दे, योग का अर्थ होता है मिलना| वियोग, संयोग अर्थात् उससे अलग हो जाना, उससे अचानक मिल जाना| तो सत्य सरल शब्दों में ब्रह्म से कैसे मिले, उनसे हमारा योग कैसे हो, उसके लिए ज्ञानकाण्ड में मुख्य रूप से दो मार्ग है-

- ज्ञानयोग
- ध्यानयोग

ज्ञानयोग-

ज्ञान के माध्यम से ब्रह्म स्वरूप का ज्ञान, वास्तविक सत्य का ज्ञान ही ज्ञानयोग है| ज्ञान हो जाने पर जीव का ब्रह्म से मिलन हो जाता है इसलिए इसे ज्ञानयोग कहते हैं| इस ज्ञानयोग में आठ अन्तरंग साधन है|वो है- 1. विवेक 2. वैराग्य 3. समादि षटसंपत्ति (शम, दम, श्रद्धा, उपरति,तितिक्षा और समाधान) 4. मुमुक्षत्व 5.श्रवण 6.मनन 7.निदिध्यासम 8.समाधि| इन्हें ही आमतौर से ज्ञानमार्ग कहा जाता है|

ध्यानयोग-

ज्ञानयोग की तरह ही ध्यानयोग के भी आठ अंग है| जो इस प्रकार है- 1. यम 2. नियम 3. आसन 4.प्राणायाम 5. प्रत्याहार 6. धारणा 7. ध्यान और 8. समाधि | जैसे ज्ञानयोग का अंत समाधि पर है वैसे ही ध्यानयोग का अन्त

भी समाधि पर ही है| इन्हें आमतौर से योगमार्ग कहा जाता है|

ज्ञानकाण्ड के ग्रंथ-

ज्ञानकाण्ड के बारे में जो सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, वे है- उत्तरमीमांसा दर्शन (वेदांत दर्शन) और पतंजलियोगसूत्र| इसके रचईता वेदव्यास जी हैं| इसके अलावा, जो वेद के अंश उपनिषद् है वो भी ज्ञान मार्ग के ग्रन्थ है| ध्यान दें, उपनिषदों में साक और उपासना दोनों है| इसीलिए उपनिषद्ज्ञानकाण्ड और भक्तिकांड(उपासनाकाण्ड) दोनों मुख्य श्रोत है|

3. भक्तिकाण्ड शब्द-

भक्तिकांड शब्द 'भक्ति' और 'काण्ड' से मिलकर बना है| संक्षेप में 'भज' धातु में 'क्तिन'प्रत्यय होने से भक्ति शब्द का निर्माण हुआ है, 'भज सेवायाम'- 'भज' धातु का अर्थ है सेवा करना| इसीलिए भक्ति शब्द का अर्थ है सेवा करना| अब किसकी प्रेमपूर्वक सेवा करना? जिसकी आप भक्ति कर रहे है, यानी अपने आराध्य की|वो आराध्य देश, मातृ, पितृ, गुरु इत्यादि हो सकते हैं| जैसे देश की प्रेमपूर्वक सेवा करना देशभक्ति ऐसे ही मातृ की सेवा करना मातृभक्ति, पिता की सेवा करना पितृभक्ति इत्यादि| अतः भक्ति तो आप समझ ही गए, प्रेमपूर्वक सेवा और काण्ड का अर्थ 'किसी घटना' से है| अब इस घटना को ध्यान से समझिए|

भक्ति का अर्थ 'अपने आराध्य की प्रेमपूर्वक सेवा करना है, लेकिन सेवा का अभिप्राय किसी के हाथ पैर को दबाना ही नहीं है, सेवा तो अनेकों प्रकार की होती है| मनुष्य अपने सभी इन्द्रियों से सेवा करता है; तन, मन और धन से भक्ति करना (सेवा करना) भी तो एक घटना है अतः यह सेवा कैसे करें? भक्ति कैसे करें? उसके लिए आपको भक्तिकाण्ड जानना होगा|

भक्तिकांडउपासनाकांड कैसे है?

एक लाख वेदमन्त्र में से सोलह हजार उपासना काण्ड की ऋचाएं है| 'उपासना' शब्द 'उप' यानी उसके निकट, समीप और आसन यानी बैठना| तो उसके निकट बैठना, किसके निकट बैठना? अपने आराध्य के| तो

आराध्य के निकट कैसे बैठे? उनके पास कैसे पहुंचे? उसके लिए आपको उपासना काण्ड जानना होगा| लेकिन ध्यान दे, समीप बैठके क्या करेंगे? मान लीजिये आपने उपासनाकाण्ड द्वारा बताए गए मार्ग से आप अपने आराध्यके निकट बैठ गये, तो जो कुछ आप करेंगे अपने आराध्य के लिए उसे सेवा कहा जाता है| इसे ऐसे समझे कि जब मां अपने बच्चे के निकट होती है तब वो जो कुछ कराती है वो उसके बच्चे की सेवा ही तो है| अतः चूँकि सेवा ही भक्ति है, इसलिए उपासना काण्ड का दूसरा नाम भक्तिकांड भी है|

भक्तिकांड में क्या है?

उपासना काण्ड या भक्तिकांड में मुख्य रूप से ईश्वर भजन की विधि बताई गयी है| इसके पालन करने से मनुष्य को लोक-परलोक में सुख मिलता है और ईश्वर की प्राप्ति होती है| इस उपासनाकांड के मार्ग पर चलने वाले भक्त कहे जाते हैं| कर्मकांड और ज्ञानकाण्ड के सभी अधिकारी नहीं होते हैं| परन्तु भक्ति\उपासना काण्ड के सभी अधिकारी है चाहे वो किसी भी वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) का हो या किसी भी आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास) में हो| सभी लाग उपासना काण्ड के अधिकारी है|

पुरुष नपुंसक नारिवा जीव चराचर कोई |
सर्ब भाव भज कपट तजिमोहि परम प्रिय सोई ||87||

श्रीरामचरितमानसउत्तरकाण्ड

अर्थात् वह पुरुष हो, नपुंसक हो, स्त्री हो अथवा चार-अचर कोई भी जीव हो, कपट छोड़कर जो भी सर्वभाव से मुझे भजता है, वही मुझे परम प्रिय है|

अपि चेप्सुदुराचारो भजते मामनन्मभाक |
साधुरेव स मन्तव्यः संभाव्य वसितोहिसः ||

गीता 9.30

अर्थात् अगर कोई अतिशय (अत्यंत) दुराचारी भी अनन्यभाव से मेरा भक्त होकर मुझे भजता है, वह साधू मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चय वाला है|

मां हीपार्थव्यपाश्रित्य ये अपि स्यु: पापयोनय: |
स्त्रियोवैश्यास्तथाशुद्रास्ते अपि यान्तिपरांगतिम् ||

गीता 9.32

अर्थात् हे पार्थ; जो भी पापयोनि वाले हों तथा जो भी स्त्रीयां, वैश्य और शूद्र हों, वे भी सर्वथा मेरे शरण होकर निःसंदेह परमगति को प्राप्त हो जाते है|

अतः उपरोक्त प्रमाणों से यह सिद्ध हुआ कि सभी जीव भगवान की भक्ति करने के अधिकारी है| राम नाम लेने के अधिकारी सभी है| यहाँ तक की किसी भी अवस्था में रामनाम लिया जा सकता है| क्योंकि भगवान का नाम पवित्र है,वो तो अपवित्रों को पवित्र करते है और स्वयं पवित्र रहते हैं|

भक्तिकांड के प्रकार-

जैसा की आपने जाना कि 'भजनं भक्ति' अर्थात् आराध्य का भजन यानी सेवा करना भक्ति है| लेकिन हमारा आराध्य कौन है? बस इसी से अनेकों प्रकार की भक्ति उत्पन्न होती है जैसे यदि हामारा आराध्य देश, मातृ, पितृ, गुरु, देव इत्यादि हैं| तो क्रमशः देशभक्ति, मातृभक्ति, पितृभक्ति, गुरुभक्ति और देवभक्ति आदि होंगे| अब इन सभी भक्ति को आप दो भागों में विभक्त कर सकते हैं–

1.भगवत भक्ति 2.भौतिक भक्ति | क्योंकि वेदों में कहा गया है कि तीन ही तत्व हैं इनमें से एक तो तुम हो और तुमको छोड़कर केवल दो ही योग हैं|

क्षरंप्रधानमृताक्षरंहरःक्षरात्मानावीशते देव एकः |

श्वेताश्वरोपनिषद1.10

अर्थात् प्रकृति (माया) तो विनाशकारी है, इनको भोगने वाला जीवात्मा अमृतस्वरूप अविनाशी है| इस विनाशशीलजड़तत्व और चेतन आत्मा दोनों को एक भगवान अपने शासन में रखता है|

यहाँ श्वेताश्वरोपनिषद ने कहा कि एक तो प्रकृति है, एक जीवात्मा अर्थात् तुम और एक भगवान| तो इस तरह जीव को भक्ति करने के लिए दो ही तत्व वो है भगवान या प्रकृति| देशभक्ति, मातृभक्ति,पितृभक्ति,देवभक्ति आदि माया की भक्ति कहलाती है|वही सिद्ध गुरुओं की भक्ति, भक्तों की भक्ति एवं भगवान की भक्ति को भगवत भक्ति कहते हैं| यदि ये कहो कि गुरुओं व भक्तों की भक्ति को भगवत भक्ति है? तो वो ऐसे है कि तुलसी, मीरा, सूर आदि भक्त तथा भगवान प्राप्त गुरु स्वयं भगवान के हो जाते है| अतः भक्तों एवं गुरुओं की भक्ति भी भगवान की भक्ति के सामान है|

भक्तिकांड के ग्रन्थ-

भक्ति/उपासना कांड के विषय में तीन महत्वपूर्ण ग्रंथ है- 1. नारद भक्ति दर्शन 2. शाण्डिल्य भक्ति दर्शन और 3. आंगिरस्य मध्य मीमांसा (देवी मीमांसा दर्शन) जो क्रमशः देवर्षि नारद, महर्षि शाण्डिल्य और महर्षि अंगिरा द्वारा रचित है| इनके अलावा, जो वेद के अंश उपनिषद् है, वो भी उपासना के लिए महत्वपूर्ण ग्रन्थ है| अब 18 पुराण भी भक्ति के सहायक ग्रन्थ है, इसमें भी महत्वपूर्ण भागवतपुराण है, क्योंकि इसमें भगवान के लीलाओं का बहुत ही अच्छा निरूपण है| तथा रामायण, वैसे तो ये इतिहास है लेकिन भगवान श्रीराम की लीला इसमें है इसीलिए ये भी लीलापान के लिए महत्वपूर्ण ग्रन्थ है| इनके अलावा रामचरित भी भक्ति सहायक ग्रन्थ है|

सन्दर्भ ग्रन्थ-

- वैदिक साहित्य – धार्मिक एवं अलौकिक विषयों से परिपूर्ण वैदिक संस्कृत में लिखित बहुमूल्य साहित्यिक परम्परा|
- वैदिक साहित्य का विकास काल- 600 ई. पू. से 800 ई. पू. तक|
- सूत्र साहित्य – कर्मकांड से संबंद्ध कल्प – ग्रन्थ |
- ऋग्वेद की उपलब्ध शाखाएं –शाकल, आश्वलायन एवं शांखायन |
- ब्राह्मण ग्रन्थ – 'ब्रह्मन' अर्थात् वेद (ब्रह्म) से सम्बद्ध| वैदिक मन्त्रों की कर्मकांडपरक व्याख्या करने वाला ग्रन्थ|
- वेदांग – वैदिक मन्त्रों के उच्चारण, अर्थबोध तथा उपयोग हेतु निर्मित ग्रन्थ |
- उत्तररामचरितमानस |
- भागवतगीता |
- उत्तरमीमांसा |

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

भारतीय संस्कृति : वर्तमान पर्यावरणीय समस्याओं का समाधान

शुभम कुमार

यू.जी.सी.–नेट, इतिहास

सारांश

मानव इतिहास को गढ़ने में प्रकृति एवं पर्यावरण का एक महत्वपूर्ण स्थान हैं क्योंकि अतीत में घटित घटनाएँ एक प्राकृतिक परिवेश में ही घटित होती है और निरंतर इतिहास का विषय वस्तु बनते रहती है। विकास–ह्रास, उन्नति–अवनति, उत्थान–पतन, प्रकृति के शाश्वत् नियम है जिसमें निहित तथ्य ही इतिहास के निर्माण में सहायक होती है। अतः यह निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है जो प्रकृति एवं पर्यावरण से इतर नहीं होती है। पृथ्वी पर जीवन की उत्पत्ति से लेकर आज तक जीवों और जीवन के विभिन्न स्वरूपों जैसे – शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि स्वरूपों को गढ़ने मं हमारी प्रकृति ने एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है और भविष्य में प्रकृति अनवरत रूप से यह प्रक्रिया जारी रखेगी जो इस बात पर निर्भर करेगा की हम प्रकृति के साथ किस स्तर पर सामंजस्य बिठाकर चलते हैं; क्योंकि वर्तमान सदी में उपभोगतावादी संस्कृति ने पर्यावरण को इस हद तक नुकसान पहुँचाया है कि कई जीव लुप्त हो चुके हैं और कई लुप्त होने के कगार पर हैं। अतः ऐसी स्थिति में दो बातें मुख्य होनी चाहिए – मनुष्य को सोचने की आधुनिक दृष्टिकोण को पारंपरिक दृष्टिकोण में बदल देना चाहिए; या कहा जा सकता है कि उपभोक्ता–संस्कृति की तरफ तेजी से भागता मानव अपनी जड़ों में शांति खोजे व प्राप्त करे तो उत्तम है। इस कार्य में हमारी प्राचीन भारतीय संस्कृति एक बार पुनः हमारा मार्गदर्शन कर सकती है क्योंकि हमारे पूर्वजों ने प्रकृति के साथ सामंजस्य बिठाकर एक ऐसी संस्कृति की नींव डाली, जिसमें सभी की सहभागिता हो सके। हालांकि प्राचीन काल में पर्यावरणीय समस्याएँ वर्तमान की भांति विकराल नहीं थी। फिर भी पर्यावरण के संदर्भ में ऋषियों, मुनियों का चिंतन व्यवहारिक एवं वैज्ञानिक था और महत्वपूर्ण था।

प्रस्तावना–

मानव का पर्यावरण के साथ धनिष्ठ संबंध तभी से स्थापित हो गया था जब धरती पर मानव जीवन का प्रस्फुटन हुआ। विश्व की समस्त मानव सभ्यताएँ और संस्कृतियाँ प्रकृति की गोद में ही फली–फूली और विकसित हुई। यदि हमारी प्राचीन में पर्यावरण की स्थिति ठीक ना होती तो शायद हम उतना बढ़िया इतिहास नहीं पा सकते थे अतः हमारे इतिहास को गढ़ने में पर्यावरण ने एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।[1] पर्यावरण शब्द का तत्पर्य है 'परि+आवरण' अर्थात् हमारे चारों ओर प्राकृतिक तत्वों का आवरण, जिसकी व्युत्पत्ति है ''पारितः आवृणोतीति पर्यावरणम्'' अर्थात् जो चारों ओर से हमें आवृत्त किए हुए है जिनका हम प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से उपभोग करते हैं।[2] वायु, जल, अग्नि, आकाश, चन्द्रमा, पृथ्वी, वनस्पति, नदी, पर्वत, पशु, पक्षी इत्यादि मिलकर ही हमारे पर्यावरण का निर्माण करते हैं और पर्यावरण में इन सबका संतुलन आवश्यक है और इनके संतुलन में भारतीय दर्शन, चिंतन, परंपरा और संस्कृति इस कसौटी पर खड़े उतरते है अन्यथा भारतीय संस्कृति कब की समाप्त हो चुकी होती। अतः पर्यावरण भारतीस संस्कृति का एक अविभाज्य अंग है। भारतीय संस्कृति से यदि पर्यावरण को अलग कर दिया जाए तो यह एकदम भौतिक, नीरस तथा शुष्क प्रतीत होने लगेगी। अतः मानव जीवन का कोई भी पक्ष पर्यावरण से पृथक कर नहीं देखा जा सकता। नित्य क्रिया, संस्कार, व्रत, अनुष्ठान, त्यौहार, क्रिया–क्रम, पूजा–पद्धति, नृत्य–गीत सभी में पर्यावरण समाहित है। हमारे धर्मग्रंथ अथवा धर्म शास्त्र जीवन और पर्यावरण की शिक्षा देने वाले महान ग्रंथ है और इनके हर पृष्ठ में पर्यावरणीय चेतना का संकेत प्राप्त होता है।

अतः हमारे देश की संस्कृति पर्यावरण संवर्द्धन एवं संरक्षण वाली रही है और यही हमें प्रकृति के साथ सामंजस्य पूर्ण जीना सिखाती है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पर्यावरण एक मंदिर है जिसका किसी सम्प्रदाय या विशेष धर्म से सम्बन्ध नहीं है। यह एक ऐसा पवित्र आवरण हे जो एक ही साथ सभी धर्मावलम्बियों को आश्रय प्रदान करता है। पृथ्वी, जल, वायु और आकाश के समष्टि को ही पर्यावरण कहा जाता है।[3]

पर्यावरणीय समस्याएँ और उनका प्रभाव–

हम ज्ञान–विज्ञान की दृष्टि से विकसित तो होते गए परंतु अपने सनातन धर्म से और उसी के साथ–साथ प्राकृतिक–सुषमा से, संस्कृत भाषा से और उस भाषा में संकलित पर्यावरणीय संबंधी आदर्शों से विमुख भी होते गए और इसी विमुखता ने वर्तमान सदी में मानव जाति के समक्ष एक प्रमुख चुनौती पर्यावरणीय संकट के रूप में खड़ी कर दी है।

यह समस्या सिर्फ हमारी नहीं बल्कि संपूर्ण विश्व की समस्या है जिसका प्रमुख कारण प्रकृति से हमारी बढ़ती दूरी, अनियंत्रित रूप से फैलता उपभोगवाद, ज्यादा से ज्यादा नाम कमाने की प्रवृत्ति, प्राकृतिक संसाधनों का अति दोहन, औद्योगिकीकरण, वृक्षों की कटाई, मानव युद्ध, पर्यावरण संबधी नैतिक मूल्यों का विध्वंस आदि है जिसके कारण जल, वायु, मृदा, प्रकाश, ध्वनि आदि प्रदूषण अपने चरमावस्था में है और इनका दुष्प्रभाव समस्त पर्यावरण पर दीर्घकालीक रूप से हो सकता है।[4] अतः हमें यह समझना होगा कि मनुष्य प्रकृति के सामने तुच्छ है। हमारा अतीत इस बात का प्रमाण है कि – विश्व की कई सभ्यताएँ जिन्होंने प्रकृति के साथ सामंजस्य स्थापित नहीं किया, उनका अतिदोहन किया और उनके साथ खिलवाड़ किया, वे सभ्यताओं या तो अपने विकृत अवस्था में पहुँच गयी या फिर उनका पतन हो गया। सिंधु घाटी सभ्यता इस बात का प्रमाण है। हिमालय से लेकर पंजाब–गुजरात तक मिले उसके अवशेष इस बात का प्रमाण है कि सभ्यता चाहे कृष्ण की सोने की द्वारका जैसी समृद्ध ही क्यों ना हो, यदि प्रकृति चाहे तो उसे एक पल में मिटा सकती है – अपना प्राकृतिक संतुलन कायम रखने हेतु। अथर्ववेद के भूमि सूक्त का मंत्र भी इसी ओर इशारा करता है। 'वृक्ष की ओर से चेतावनी दी गई है कि हे मानवः तू मुझे मत काट अन्यथा मैं तुझे काट दूँगा।' इस तरह हम देखते हें कि भूमि, वृक्ष, पशु–पक्षी तथा मनुष्य एक–दूसरे के पूरक ही नहीं अपितु अभिन्न रूप से एक–दूसरे से जुड़े हैं। ये पर्यावरण चक्र के परे हैं। इनमें से किसी एक का भी अभाव सृष्टि प्रवाह में बाधक ही नहीं अपितु पर्यावरण के लिए घातक है। अतः यदि हमें प्राकृतिक संतुलन को कायम रखना है एवं पर्यावरण समस्याओं से निजात पाता है तो हमें प्रकृति के साथ तारतम्य मिलाते हुए चलना होगा। अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वर्तमान समस्याओं का समाधान प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक जीवनशैली में निहित है।

प्राचीन भारतीय संस्कृति में पर्यावरणीय चेतना और पर्यावरणीय समस्याओं का समाधान

जब हम अपने पौराणिक एवं धार्मिक ग्रंथों जैसे वेद, पुराण, उपनिषद्, महाकाव्य आदि की गहराई से अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि धर्म–कर्म के अलावा इनमें जीवन शैली, वनस्पतियों का विस्तृत वर्णन, जल, जंगल, जमीन, कृषि और आर्थिक संबंधों की विस्तार से चर्चा की गई है। वेदों में प्रकृति से परे किसी भी तत्व को महत्व नहीं दिया गया है, जबकि उपनिषदों में पर्यावरण संरक्षण की तार्किक मीमांसा की गई है। भारतीय संस्कृति में पार्यवरणीय सुरक्षा का जो सिद्धांत है वो भारतीय जीवन पद्धति के साथ अन्तरंग रूप से जुड़े हैं। पर्यावरणीय समस्या उत्पन्न करने वाली छोटी–से–छोटी वस्तुओं पर भी ध्यान केन्द्रित किया गया था तथा उसका निदान सुझाया गया था।

पर्यावरण की ठीक स्थिति में ही ऋषि आश्रम प्रातः और सांयकाल मधुर वेदों में गूँजा करते थे। अश्वत्थ वृक्ष के नीचे ही महात्मा बुद्ध ने अपनी अमर ज्योति प्राप्त की थी। कृष्ण ने वृन्दावन के हरे भरे कुंजों में ही अपनी सुरभ्य बाल लीला की। मनुस्मृति में तो पर्यावरण को हानि पहुँचाने वाले को बहुत बड़ा पापी माना जाता था। वैदिक साहित्य में वन देवियों की पूजा की जाती थी। इस प्रकार हमारी सभ्यता, हमारी संस्कृति, हमारा सहित्य सभी कुछ तो पर्यावरण ही है।

प्रागैतिहसिक काल से ही मानव प्रकृति को सिरमौर मानकर उसकी अराधना करता आया है और कालांतर में प्रकृति का मानवीकरण कर के उन्हें देवत्य के रूप में प्रतिस्थापित किया।

सिंधु घाटी सभ्यता – सिंधु नदी के किनारे पनपी, सिंधु मुद्राओं पर पीपल वृक्ष का अंकन, पशुपति नाथ की मुद्रा का मिलना, मोहरों में मानव और पशु को एक साथ दिखाया जाना; बर्तनों मिट्टी के भांडों पर कलात्मक चित्रकारी एवं ज्यामितीय अलंकरण आदि मानवीय और पशु–पक्षी सम्बन्धों को उजागर करते हैं।

प्राचीन भारत के वैदिक वाङ्मय में ऐसे अनेक, सूक्त–ऋचाएँ, उक्तियाँ, कथानक मिलते हैं, जिनमें प्रकृति के प्रति गहरा श्रद्धाभाव है। प्राचीन भारतीय धर्मग्रंथों में वेदों को आदिकालीन माना जाता है जो सर्वथा सत्य है।

ऋग्वेद के औषधिसुक्त[5] में वृक्षों और वनस्पतियों के औषधिय गुणों पर चर्चा की गयी है ओर उसे माता की संज्ञा दी गयी है। ये औषधियाँ विभिन्न रोगों और प्रदूषण को दूर करती है अतः इनका संरक्षण आवश्यक है।[6] ऋग्वेद में पृथ्वी और आकाश के संबंध में कहा गया है कि पृथ्वी मेरा भरण–पोषण करती हे और अतः वो मेरी माता है और आकाश हमारी रक्षा करता है अतः वह पिता तुल्य है।[7] अतः हमारे ऋषि–मुनियों ने पर्यावरण संरक्षण के लिए पृथ्वी को माता एवं आकाश को पिता तुल्य मानकर उसकी महत्ता को वैद्यता प्रदान की। यजुर्ववेद में पर्यावरण की सुरक्षा एवं संवर्धन के लिए मानव के द्वारा किये जाने वाले कार्य को अनुशासित करने के लिए कहा गया है कि ''जो कुछ भी प्रकृति के कण–कण में हैं, उसमें ईश्वर का वास होता है।[8] पेड़–पौधें, वनस्पतियों एवं औषधियों को सम्मानित कर उन्हें पर्यावरण की सुरक्षा हेतु संरक्षित करने का स्पष्ट निर्देश यर्जुवेद में प्राप्त होता है। डॉ. ओझा कहते हैं : ''भारत की प्राचीन सभ्यता व संस्कृति में हमेशा समुद्र का पूजन किया जाता रहा है, क्योंकि वह हमारी पीने का पानी से सीधे जुड़ा है। ऋग्वेद में कहा भी गया है – समुद्र ही जन्मदाता हे, उनके द्वारा हर दिशा में जीव जीवित है। महासागर ही बादल बनते हैं जो कि पूरे ब्रह्मांड को जीवन देते हैं।[9] अथर्ववेद में 63 श्लोक वाला भूमि–सूक्तम् है। संपूर्ण विश्व के प्राचीन साहित्य में मनुष्य व पर्यावरण के रिश्ते का इतना सुंदर चित्रण देखने को नहीं मिलेगा।[10]

वेदों के पश्चात् ब्राह्मण ग्रंथों का महत्वपूर्ण स्थान है जिसमें पर्यावरण संवर्धन एवं संरक्षण हेतु विशेष निर्देश दिए गए हैं। ब्राह्मण ग्रंथों ऐतरेय ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण एवं शतपथ ब्राह्मण में अग्निमय, गंधमय एवं मारूत नामक तीन प्रकार के पशुओं का उदाहरण मिलता है जिनके उपस्थिति मात्र से वायु और भूमि आदि में विद्यमान दोष स्वतः दूर हो जाते हैं। अथर्ववेद में तोता पक्षी को पीलिया (कामला) रोग को हरने वाला कहा गया है।[11] गरुड़, मोर तथा सर्प को विषभक्षक कहा गया है।[12] ब्राह्मण ग्रंथों में वायु को यज्ञ का प्राण कहा गया है। पर्यावरणीय धटक अग्नि के महत्व को बताते हुए ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि देवतागण मुखरूपी अग्नि के द्वारा असुरों को दूर भगाते हैं। यहाँ असुर का तात्पर्य वातावरण में विद्यमान प्रदूषण से लगाया जा सकता है क्योंकि यज्ञ के हवन सामग्री के जलने या उत्पन्न सुगंधित धुएँ द्वारा वायु में विद्यमान दुर्गन्ध रूपी राक्षस नष्ट हो जाते हैं।[14]

पर्यावरण की शुद्धता के लिए वेदों में यज्ञ का सर्वाधिक महत्व प्रतिपादित किया गया है। यज्ञ एवं हवन से वायु में फैले रोग के कीटाणु नष्ट होते हैं। ऋग्वेद का प्रारंभ ही अग्नि की उपासना से होता है। यज्ञ में अर्पित आहुतियाँ अग्नि के माध्यम से ही सम्पूर्ण वायुमण्डल में व्याप्त होकर पर्यावरण को शुद्ध करती है।[15]

ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि यज्ञ करने से जो धुंआ उत्पन्न होता है, वह वायु द्वारा अन्तरिक्ष में जाकर मेघ बन जाता है, जिससे वृष्टि होती है और अन्नादि उत्पन्न होते हैं।

मनुस्मृति में भी कहा गया हे कि अग्नि में विधि–विधान के साथ दी गयी आहुतियाँ सूर्य देव को प्राप्त होती है। उससे वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न होता है और उससे प्रजा की उत्पत्ति होती है। अतः पर्यावरण, संरक्षण, संवर्द्धम हेतु यज्ञ महत्वपूर्ण क्रिया है।

ऋग्वेद में यह स्पष्टतः कहा गया है कि वृक्षों को मत उखाड़ो (काटो), वे प्रदूषण को रोकते हैं। अथर्ववेद में कहा गय है कि जल से देखने, सुनने ओर बोलने की शक्ति प्राप्त होती है। अथर्ववेद में 8 प्रकार के जलों की चर्चा है जो प्रदूषण का निवारण करते हुए मानव के लिए सुखदायी होते हैं।

पेड़–पौधे, पशु–पक्षी एवं वनों का महत्त्व समझते हुए हिंदू धर्म में स्वस्थ जीवन निर्वाह के चार आश्रम की नींव डाली गयी और इस प्रकार चार आश्रमों में दो–ब्रह्मचर्य तथा सन्यास, दोनों का वन में रहकर ही पालन किया जाता था। इतना ही नहीं वानप्रस्थ आश्रम वन की ओर प्रस्थान करने वाला आश्रम है, जिसमें धन–धान्य का संग्रह करना वर्जित था। मात्र गृहस्थ आश्रम उपभोग के लिए पूर्णतः स्वतंत्र था। इसका सीधा अर्थ हुआ कि जीवन का 25 प्रतिशत भाग ही पूरी सामाजिक व्यवस्था की धुरी था। पुराणों में भी पौधों और वृक्षों के मानव जीवन के लिए महत्व पर प्रकाश डाला गया है तथा उनको मोक्ष प्राप्ति का एक साधन माना गया है। मत्स्य पुराण तथा पद्मपुराण में वृक्ष महोत्सव नाम से बड़े वृक्षारोपण अनुष्ठान का विवरण है। मत्स्य पुराण में एक वृक्ष लगाने को दस पुत्रों के समतुल्य माना गया है।[16] भारतीय प्रकृति को ईश्वरीय मानते हैं व इसी कारण अनेकों पेड़–पौधों का धार्मिक अनुष्ठानों में प्रयोग में लाए जाते थे व पूजा के पात्र होते थे। नरसिंहपुराण में वृक्ष को ब्रह्म के समतुल्य माना गया है। वृक्षों को विभिन्न देवी–देवता के साथ सम्बद्ध किया गया ताकि उन्हें संरक्षित किया जा सके। श्रीमदभागवतपुरुाण में जल की प्रतिष्ठा के लिए ही भगवान विष्णु को जलाशयी कहा गया है। जिस समुद्र में भगवान् विष्णु का वास है, उसे समाज प्रदूषित नहीं करेगा।

उपनिषद को भरतीय चिंतन का शिखर ग्रंथ माना जाता है। उपनिषद् कालीन ऋषि, मुनि, एवं मनीषियों द्वारा विद्यार्थियों को अपने समीप बैठाकर प्रकृति के गूढ़ रहस्यों के बारे में बताते थे। उन्हें ऐसे विषयों पर विशेष शिक्षा दी जाती थी कि किस प्रकार प्रकृति एवं पर्यावरण सुरक्षित रहे।[17] तैत्तिरीय उपनिषद्[18] में सृष्टि प्रक्रिया में उल्लेख आया है कि परमात्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधियाँ, औषधियों से अन्न और अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार सृष्टि का निर्माण पंचतत्वों के सामूहिक संतुलन का परिणाम है और इसी से पर्यावरण का निर्माण होता है तथा इसके असंतुलित होते ही प्राकृतिक विनाश ही स्थिति उत्पन्न हो जाएगी।

प्राचीन भारतीय ग्रंथों के अंतर्गत स्मृतियों में भी पर्यावरण संरक्षण पर ध्यान एवं निर्देश दिया गया है। याज्ञवल्क्य स्मृति में पशु–हत्या को पाप ठहराते हुए कहा गया है कि पालतु पशु की हत्या करने वाले को उतने दिनों तक घोर नरक की यातना भुगतनी पड़ती है जितने रोंये (बाल) उस पशु के शरीर पर होते हैं।[19]

रामायण, जिसे हिंदू धर्म का प्राचीनतम महाकाव्य माना गया है, में भी प्रकृति एवं पर्यावरण के समस्त तत्वों का समावेश है। रामायण में वायु के बारे में कहा गया है कि वायु प्राण है। वायु परम सुख है तथा वायु संपूर्ण जगत का मूल भी है।[20]

महाभारत एक अन्य महाकाव्य है जिसमें धार्मिक, प्राकृतिक और लोककथाओं के माध्यम से प्रकृति एवं पर्यावरण के महत्व को इंगित किया गया है। इसकें कहा गया है कि यदि गाँव में एक भी हरा–भरा पेड़ है तो वो पेड़ देवता समान पूजनीय है। महाभारत काल में प्रत्येक युद्ध के बाद यज्ञ कराने की परंपरा को पर्यावरण की शुद्धता से जोड़ कर देखा जा सकता है।[21]

श्रीमद्भगवतगीता में यज्ञ विधान पर जोर देते हुए कहा गया है कि अन्न से सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, अन्न वर्षा से उत्पन्न होता है, वर्षा यज्ञों से उत्पन्न होती है और यज्ञ कर्मों से उत्पन्न होते हैं।[22] अर्थात् धर्म और कर्म एक दूसरे के पूरक है। इसी प्रकार ईश्वर और प्रकृति के बारे में कहा गया है कि ईश्वर ही प्रकृति की उत्पत्ति, पालन और विनाश का मूल कारण है। अर्थात् ईश्वर और प्रकृति अलग–अलग तत्व ना होकर एक ही तत्व के दो रूप हैं। गीता में भगवान कृष्ण ने कहा कि मैं समस्त वृक्षों में पीपल हूँ अर्थात् पीपल के वृक्ष धार्मिक महत्व के साथ–साथ पर्यावरण को संतुलित बनाए रखने पर भी जोर दिया गया है अतः गीता में पर्यावरण संरक्षण से संबंधित कई उपदेशात्मक विचार हैं जो यह बताते हैं कि पर्यावरण संरक्षण मानव का परम कर्त्तव्य है।

हमारा प्राचीन साहित्य ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है जहाँ मूल्य और प्रकृति के प्रति मनुष्य की संवदेनाशीलता की महिमा और सिद्धांत की स्थिरता अपने सबसे अच्छे रूपों में स्थापित की गयी थी। तुलसीदास ने रामचरितमानस के किष्किन्धाकाण्ड में लिखा है कि मनुष्य का शरीर पाँच तत्वों से मिलकर बना है।

''छिति जल पावक गगन समीरा,
पंच रचित अति अधम शरीर।''[23]

महाकवि कलिदास ने भी अपनी कृति अभिज्ञान शांकुतलम में शमी वृक्ष का वर्णन करते हुए कहते हैं – राजस्थान में दुर्भिक्ष पड़ने पर शमी की फलियाँ खाकर ही लोग अपनी सुधा शंत करते हैं। यह वही पौधा है जो वैदिक काल से ही अपने विभिन्न गुणों के कारण पूजनीय रहा। शास्त्रों में इसे समस्त पापों का शमन करने वाला बताया गया है। चरक संहिता में वन का विनाश राज्य के विनाश के समान बताया गया है।

चाणक्य भी अर्थशास्त्र में पशु–पक्षी की हत्या करने वालों के लिए कठोर दण्ड की बात करते हैं। जानवरों की सुरक्षा की देखरेख, हेतु सूनाध्यक्ष नामक सरकारी अधिकारी नियुक्त किए जाने की बात करता है। कौटिल्य ने प्रदूषण के प्रति एक व्यापक दृष्टिकोण अपनानाया था। उसने अर्थशास्त्र में स्पष्ट चेतावनी दी है कि – सड़क पर मिट्टी या कूड़ा कर्कट डालने वाले पुरुष को 1/8 पण तथा कीचड़ या पानी से सड़क पर बाधा डालने पर उससे दुगुना दण्ड वसूला जाए।

तैत्तिरीय आरण्यक में पर्यावरण – प्रदूष्ण के बचाव तथा जलकल्याण के लिए एक सामाजिक नियम का उल्लेख है। इसमें कहा गया है कि किसी भी व्यक्ति को जल में न मूत्र–त्याग करना चाहिए, न थूकना चाहिए और न ही स्नान करना चाहिए कुछ इसी तरह का ज्ञान हमें मनुस्मृति में भी मिलता है।

भगवान बुद्ध अशोक वृक्ष की छाया में पैदा हुए, पीपल के पेड़ के नीचे ज्ञान प्राप्त किया, आम के बगीचे में धर्म का उपदेश दिया तथा सागौन वृक्ष के वन में निर्माण प्राप्त किया। अपने उपदेश में बुद्ध कहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य को पाँच साल में कम–से–कम एक वृक्ष जरूर लगाना चाहिए। वहीं जैन–धर्म की मूल भित्ति ही अहिंसा एवं जीव दया पर आधारित है और जीवन दया पर्यावरण का अभिन्न अंग है।

प्राचीन भारतीय शासकों द्वारा पर्यावरणीय संरक्षण का कार्य किया गया जिसमें अशोक का नाम उल्लेखनीय है। अशोक का एक स्तम्भ लेख जो बिहार के रामपुरवा नामक स्थान में है जिसे अशोक द्वारा 234 ई. पू. में लगवाया गया था। यह स्तम्भ पर्यावरण के सम्बन्ध में व्यापक निर्देश देता है।

निष्कर्ष–

प्राचीन भारतीय धर्म्रन्थों चाहे वो किसी भी धर्म या सम्प्रदाय के हों, विभिन्न साहित्यिक रचनाओं और विभिन्न कालों में हुए शासकों के व्यक्तिगत प्रयासों ने पर्यावरण के प्रति गहन संवेदनशीलता का संदेश सामान्य जन तक पहुँचाता रहा एवं प्रकृति एवं पर्यावरण को स्वच्छ रखने के लिए प्रकृति के पांच प्रमुख घटकों को स्वच्छ रखना ही मानव धर्म का परम कर्तव्य बताया है। हमारी संस्कृति सिर्फ हमारे लिए ही नहीं बल्कि संपूर्ण विश्व के लिए पथ प्रदर्शक का काम कर सकती है। जिस प्रकार प्रकृति के अनुरूप ढलने का प्रयास भारतीय संस्कृति में किया गया है अन्यत्र ऐसा उदाहरण नहीं मिलता। कोई भी सभ्यता तभी सफल मानी जाती है जब वह दूसरे से श्रेष्ठ दिखाई दे। श्रेष्ठता समय के साथ–साथ कम ज्यादा हो सकती है, किंतु किसी भी सभ्यता के लंबे समय का इतिहास उसके सामाजिक संगठन, प्राकृतिक संसाधनों की मितव्ययिता के साथ सदुपयोग और प्रकृति से समांजस्य स्थापित करने पर ही रह सकता है। भारतीय दर्शन, चिंतन, संस्कृति इस कसौटी पर खड़ा उतरता है अन्यथा हमारी संस्कृति कब की समाप्त हो चुकी होती। परंतु आज यह भी सच है कि हम मानव विकास के क्रम में इतना आगे बढ़ चुके हैं कि अपना पुराना युग नहीं लौटा सकते पर इसी वर्तमान को प्राचीन चिंतन, साधना और पुरुषार्थ से प्राप्त जीवन के श्रेष्ठ मूल्यों की छत्रछाया में संशोधित तो कर ही सकते हैं। प्रकृति की ओर देखने, उसकी अपराजय शक्ति को स्वीकार कर नमन करने तथा उसके द्वारा विश्व को पोषित करने के

अक्षय भंडार से अपने लिए नियत भाग ग्रहण करने तथा संपूर्ण सृष्टि के जड़–चेतन को जीने का अधिकार दे देना ही नहीं बल्कि उन्हें जीवन देने का यत्न तो कर ही सकते हैं। समन्वय और सामंजस्य दो जीवन के सूत्र हैं। इन्हें विस्मृत करने से समष्टि का ढ़ांचा ही चरमरा जाता है। अतः हमें सदैव यह याद रखना चाहिए कि ''हम प्रकृति से हैं प्रकृति हमसे नहीं''।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1– प्रज्ञा, पर्यावरण विशेषांक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी अंक–55, भाग–2 वर्ष 2009–10
2– सिंह, आई. एन. और सिंह, ब्रजेश, पर्यावरणीय विमर्श, भावना–प्रकाशन, दिल्ली–2012, पृ॰ 27।
3– कुमार संजय, संस्कृत काव्य में पर्यावरण का दैव स्वरूप, सुरूचि कला प्रकाशन, वाराणसी–2010, पृ॰ 115।
4– खान भारती, हिन्दी पखवाड़ा, भारतीय खान ब्यूरो, नागपुर, सितम्बर, 2016, पृ॰ 5।
5– ऋग्वेद, 6/48/17। भाग–2 मा काकम्बीरम् उद् वृहो वनस्पतिम्। अशस्तीर्वि हि नीनशः।
6– ऋग्वेद, 10/17/6
7– ऋग्वेद, 1/170/2/ माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः, उरू–व्यचसा महिनी आसश्चता, पिता मात च भुवनानि रक्षत्।
8– यजुर्वेद, 16/17/19, 20।
9– कुलश्रेष्ठ, नीलम, हरा भरा रहे पृथ्वी का पर्यावरण, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰ 38।
10– वही, पृ.–19।
11– अथर्ववेद, 1/22/4।
12– अथर्ववेद, 4/6/3–4।
13– ऐतरेय ब्राह्मण, 6/14।
14– शतपथ ब्राह्मण, 9/8/1 सायण भाष्य सहित, मानवीय सुधार, तारा प्रिंटिस वर्क्स, वाराणसी, 1987
15– शतपथ ब्राह्मण, 9/8/1। सायण भाष्य सहित, मानवीय सुधार, तारा प्रिंटिस वर्क्स, वाराणसी, 1987
16– सिंह, मनोज, पुराणों में पर्यावरण, शोध प्रबंध, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, संस्कृत विभाग, 2002, पृ॰ 101।
17– गैरोला, वाचस्पति, वैदिक साहित्य और संस्कृति, व्रज–जीवन प्राप्य भारती ग्रंथमाला–14, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली–2004, पृ॰ 114।
18– नारायण आर्य, कमल, वैदिक वाङ्मय पर्यावरण एवं प्रदूषण, स्वामी दिव्यानंद प्रकाशन, मध्यप्रदेश 1998, पृ॰ 21।
19– याज्ञवत्क्य स्मृति, 21/227–229, राय, गंगा सागर, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी 2007 भाग–2
20– वाल्मीकि रामायण्, 3/15/16।
21– प्रकाश, ओम, प्राचीन भारत का सामाजिक और आर्थिक इतिहास, विश्व प्रकाशन, नई दिल्ली 2001, पृ. 28–29
22– श्रीमद्भागवतगीता, 3/14। सातवलेकर, दामोदा, भारत मुद्रणालय स्वाध्याय मण्डल, सूरत, 1961
23– तुलसीदास, रामचरितमानस, किष्किन्धाकाण्ड श्लोक–11 में चौपाई 2, गीता प्रेस, गोरखपुर।

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

मध्यकालीन सूफी काव्य में भारतीय स्त्री

डॉ0 निर्मला कुमारी

एसो0 प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
श्री वार्ष्णेय महाविद्यालय, अलीगढ़

सूफी कवियों ने प्रेमाख्यानकों में हिन्दुओं में प्रचलित लोककथाएँ ग्रहण की हैं, क्योंकि यह हिन्दू मुस्लिम संस्कृतियों के साम्य के लिये तथा हिन्दुओं में अपने मत का प्रचार करने के लिए जरूरी है। वे आख्यान फारसी मसनवी शैली में लिखे गये हैं। इनमें फारस की कथानक रूढ़ियों जैसे प्रेम व्यापार में परियों और देवियों का सहयोग राजकुमारियों का उड़कर प्रेमियों के पास पहुँचना या अपने प्रेमी को गिरफ्तार करवा लेना आदि का प्रयोग हुआ है।

सूफी कवियों ने जनजीवन में अपनी पृथकता के कारण तथा अपने मत प्रचार का आग्रह बनाये रखने के कारण स्त्री का चित्रण 'रूपक' (Allegary) के रूप में किया, उदाहरण के लिए, जायसी की पद्मावती 'बुद्धि'[1] की और नागमती 'दुनिया धंधा'[2] की प्रतीक है।

1. हिय सिंघल, बुधि पदमिनि चीन्हा।।
2. नागमती यह दुनिया धन्धा।।
   बांचा सोई न एहि चिंत बंधा।।

नूर मोहम्मद की सर्वमंगला रागिनी[3] (साध्य) की महामोहिनी वसुमति 'गोरखधन्धा'[4] की प्रतीक है–

3. है पुनि सरब मंगला सोई। सरब मंगला रागिनी होई
4. महामोहनी है वसुमति। अरूझे मुनी रिशेसर जती।।

स्त्री 'साध्य' प्रतीक होकर भी ऊँचे न उठी– यद्यपि 'सांध्य' की प्रतीक बनाने से, नारी का गौरव कुछ अंशों में संतों की नारी का हीन भाव नकार कर प्रेम मार्गी नारी का आत्मोत्कर्ष हुआ– फिर भी प्रतीक मात्र होने के कारण उसे समाज में उच्च स्थान नहीं मिला, वह कुछ मतावलम्बी काव्य ग्रन्थों में सीमित व अवरूद्ध होकर रह गया। प्रतीक की शैली में उसे परमात्मा तो बना दिया लेकिन जीवन–सगर में उसे सम्मिलित नहीं किया। परमात्मा केवल ध्यान का विषय है क्या पुरुष अपनी सहचरी को भी चिन्तन पात्र रखना चाह सकता है, वास्तव में नहीं। लेकिन प्रेमाख्यानकों में नारी की यही दशा हो गई।

सूफी हिन्दी कवियों ने नारी को प्रतीक की झिलमिल मंजूशा में बन्द कर दिया था तो हिन्दू प्रेमाख्यानकों ने उसे शृंगार के सुमेरू शृंग पर प्रतिमा बनाकर पथरा दिया था। यह प्रतिमा कलाकमनीय तो थी किन्तु पाषणी थी, जीवन स्पन्दन शून्य थी।

डॉ0 कमल कुलश्रेष्ठ लिखते हैं– नायिका की सामान्य विशेषताएँ सुन्दरता, दृढ़ प्रेमिका होना, प्रारम्भ में अविवाहित होना तथा राज कुल की होना है। ये विशेषताएँ प्रतीक को दृढ़ कर सकती है। प्रतीक के सुदृढ़ होने का परिणाम यह होता है कि प्रायः सभी पात्र अपने जीवन के आदर्श निश्चित किए हुए हमारे सामने आते हैं। उनके सामने उनका पथ स्पष्ट है। वे दुविधा के बीच फंसे नहीं रहते प्रत्येक पात्र एकरस हैं। रतनसेन, सुजान व हंस के सामने उनके जीवन का पथ पद्मावली, चित्रावली व इन्द्रावली के रूप में स्पष्ट है।

सूफी सिद्धान्त–

ईश्वर–खुदा अर्थात् ईश्वर एक है। सृष्टिकर्ता, अज, अनादि अनन्त, सर्वशक्तिमान् और अवर्णनीय है। उस प्रियतम तक पहुँचने के लिए वन्दे को शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारिकत की चार दशाएँ पार करनी होती है।

जीव– जीव ब्रह्म ही है। आदमी अल्लाह का प्रतिरूप है। जीव अल्लाह और बन्दे में कोई भेद नहीं है। सृष्टि रूप में पड़ा हुआ अल्लाह का प्रतिबिम्ब ही इंसान है।

प्रेम– प्रेम ईश्वर प्राप्ति का साधन है। सूफी सिद्धान्त के अनुसार परमात्मा साधक के समक्ष एक दैवीय शक्ति के रूप में उपस्थित होता है।

अनहलक– अल्लाह और इंसान एक ही तत्व हैं। सूफी साधना विरह की साधना है, जो महामिलन की ओर आकुलता के साथ उन्मुख करती है। जीव–ब्रह्म की एकलीनता के विषय में सूफियों की दो विचारधारा– एक परमात्मा में जीवन का पूर्ण लोप हो जाना है, दूसरी विचार पद्धति में जीवन का लोप केवल अंशतः होता है।

सृष्टि– सृष्टि के सारे उपकरण ईश्वर के अंगों के झलक हैं।

शैतान और पीर– साधक के सामने परमात्मा के मिलन में शैतान बाधा उपस्थित करता है। वह साधक को साधना पथ से विचलित कर देता है। शैतान के पथ भटकाव से बचाने के लिए पीर (गुरु) पथ प्रदर्शन में सहायक होता है।

लौकिक सौन्दर्य– नारी–सौंदर्य चित्रण में आध्यात्मिकता का पुट है। सभी कवियों ने नारी–सौंदर्य के दो पक्ष रखे हैं। एक आध्यात्मिक दूसरा नखशिख वर्णन में अंग–प्रत्यंग वर्णन। जायसी के 'पदमावत' में अनेक ऐसे स्थल हैं, जहाँ पद्मावती के अंग–प्रत्यंग का वर्णन है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार ''सौन्दर्य के सृष्टि–व्यापी प्रभाव की लोकोत्तर कल्पना पाई जाती है। पद्मावती दिव्य सुन्दरी है[5], उस पारस रूप के स्पर्श से सारा संसार सौंदर्यमय हो जाता है[6] उसके मृदु हास की शुभ्र ज्योत्सना संसार सरोवर में विकीर्ण हो रही है, मुसकान की दिव्यता फुलझड़ी सी छुड़ाती है[7], उसके दाँतों की अनन्त ज्योति ने रवि–शशि दामिनी को प्रभा दी है[8], उसके कटाक्ष पात से रस का प्रवाह उमड़ पड़ता है[9], और उसके केशों की सघन श्यामलता व्यापक माधुर्य और शीलता की प्रसारिका है।''[10] (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : जायसी ग्रंथावली, भूमिका)

5. प्रथम सो जोति गगन निरमई। पुनिसो पिता माथे निरभई।
   पुनि वह जोति मातुघट आई। तेहि आदर आदर बहु पाई।।
6. विहस झरोखे आई सरेखी। निरखि साह दरपन महै देखी।
   होतहि दरस, परस भा लोना। धरती सरग भएउ सब सोना।।
7. दसन दसन सौं किरिन जो फूटहिं। सब जग जनहुँ, फुलझरी छूटहिं।।
   जानहूँ ससि महँ बीजु देखावा। चौंधि परे, कछु कहै न आबा।।
8. जेहित दिन दसन–जोति निरमई। बहुते जोति जोति ओहि भई।।
   रवि ससि नखत दिपहिं ओहिजोती। रतन पदारथ मानिक मोती।।
9. जग डोले डीलत नैनाहौ। उलटि अड़ार जाहिं पल माहौ।।
   जबहिं फिराहिं गगन गहि बोरा। अस वे भँवर चक्र के जोरा।
   पवन झकोरहिं देहि हिलोरा। सरग लाइ भुइं लाइ बहोरा।।
10. सरवर तीर पदमिनी आई। खौंपा छारि केस मुकलाई।।
    औनई घटा परी जग छांहा। ससि के सरन लीन्ह जनु राहा।।

सौन्दर्य का प्रभाव और प्रेम का उदय– स्त्री के इस अलौकिक दिव्य सौन्दर्य के प्रति पुरुष का सहज आकर्षण होता है। इस पर सब दीपक पतंगें के समान आकृष्ट होते हैं और अनेक योगी बन जाते

हैं। प्रिय का यह सौंदर्य वर्णनातीत रहता है।[11] यह सौंदर्य क्षण–क्षण नवीनता धारण करता है जिससे कोई कभी तृप्त नहीं हो सकता।[12] इसका प्रभाव शाश्वत और अमिट है।[13]

11. नैनिक के रसना नहीं बरनत रूप–सुभाई।
    रसना बिन देखी कहैं, तातें कहीं न जाइ।।
12. रूप आई आंखि न माँ ह्रदे समाई।
    हिएं समाने प्रेमी, कहाँ अघाइ।।
13. नैन वान कवि जान कहि, जिहं उर लागत आइ।
    सालि करेजे में रहे, करके न कबहूँ जाइ।।

इस प्रकार सूफी काव्य में परमात्मा का रूप प्रेमिका में देखकर और प्रेमिका के पारमात्मिक रूप को समस्त संसार में व्याप्त देखकर प्रेमी (साधक) सच्चे प्रेम की अनुभूति करता है। लौकिक से अलौकिक की ओर इस प्रेम की गति है। सूफी काव्यों में सगुण का निर्गुण के प्रति प्रेम है अतः उसका अध्यात्म–परक स्वरूप है। निर्गुण के प्रति इस आध्यात्मिक प्रेम को आधार बनाने के लिए इन कवियों ने नारी को माध्यम के रूप में, प्रतीक बनाकर, ग्रहण किया है। इन काव्यों में विश्व की किसी सर्वाधिक सुन्दरी को सौंदर्य के चरम विकास की निधि दिखा कर परमात्मा की प्रतिमूर्ति बनाया गया है, जिससे मानवीय रूपाशक्ति का परिमार्जन हो जाय और मनुष्य परम सौंदर्यशाली सत्य की ओर उन्मुख हो सके।

लौकिक प्रेम– प्रेम की अनुभूति चार प्रकार से होती है। दाम्पत्य भाव से (पति–पत्नी में) परिग्रह भावना से पत्नियों के प्रति) प्रकृति के उद्दीपन से (प्रथम दृष्टि से) और पूर्व राग जनित प्रेम। प्रेमाख्यानक कवियों ने चौथे प्रकार के प्रेम को प्रधानता दी है। आरम्भ में ऐसा ही प्रेम होता है बाद में दाम्पत्य भाव और परिग्रह भाव आ जाते हैं।

पूर्वराग की उत्पत्ति प्रिय के गुण श्रवण, चित्र दर्शन, स्वन दर्शन अथवा साक्षात दर्शन से होती है। पद्मावत, अनुराग वासुरी, पहुपावती आदि में गुण श्रवण से, चित्रावली, रतनावली आदि में चित्र दर्शन से कनकावली, इन्द्रावती, कामलता, प्रेम दर्पण आदि में स्वप्न दर्शन से, मधुमालती, प्रेमरस, चित्रावली आदि में साक्षात् दर्शन द्वारा पूर्व राग का उदय हुआ।

14. कँवल भवर तुम वरना मैं जाना पुनि सोई।
    चाँद सूर कहँ चाहिए जो रे सूर वह होई।।
15. ताको कहाँ नींद सुख भोगू। जाको प्रीतम लागि वियोगू।।
16. सुनतहि सख मंगला सोभा, भा घायल करूननि के चोभा।
    अन्तःकरण फन्दा लट माहीं, जेहि लट बरही नट गिर जाहीं।।
    पहुपावती में मानिक चन्द के चित्र दर्शन से अनुराग–
17. लखि लखि चित्र काम तन जागा, ह्वै मनुविवस चित्र रंग रागा।
    लग्यो अनुद मन सुखि न रही, छकि चित्र सुआसव वही।।
18. सुनि चित्रिनि चित सारी आई। देखि चित्र मुख रही लोभाई।।
    सहसा कला होई हिये समाना। निरषि रूह चित चैत भुलाना।।
19. राजा देखि सपन अस जागा। लागा ग्रीव प्रेम को धागा।
20. देखत रूप कुँवर कर, रही अचक होय ठाढ़ि।
    जग होई हिये समाइगा, लीन्हेसि जिउ जनु काढ़ि।।

प्रेमाख्यानकों में विरह चित्रण तीन प्रकार से हुआ है, ऊहा द्वारा प्रवृत्ति के द्वारा और विरही की मनोदशा का चित्र खींचकर। विरह का चित्रण करते हुए प्रेमाख्यानक कवियों ने प्रकृति को संवेदउनशील बनाया है। प्रकृति का उद्दीपन रूप में स्त्री की मनोदशा का चित्रण किया है।

21. पिय बिनु जिव हिडोल अस झूलें पड़े फुहार बान आस हूल।
22. काह हँसों तुम कौसों पिएउ और सौं नेह।
    तुम्ह मुख चमके बीजुरी मोहि मुख वरिसै मेह।।
    प्रेमाख्यानों में विरह वर्णन बारह मासे के आधार पर हुआ है। जायसी का नागमति वियोग वर्णन बारहमासे के रूप में अभिव्यक्ति हुआ है।
23. चढ़ा असाढ़, गगन घन गाजा। साजा विरह दुन्द दल बाजा।
    खडग बीजु चमकै चहुँ ओरा, बुंद वान वरसहि घन घोरा।

सूफियों के विरह वर्णन में विचित्रताएँ हैं। विरह का साधनात्मक पक्ष पुरुष में दिखाया गया है। नारी साध्य के रूप में, परमात्मा की प्रतीक बन कर अंकित हुई है। रतनसेन में तोते के द्वारा पूर्वराग जागृत होकर विरह उमड़ पड़ा, लेकिन पद्मावती में विरह का उद्रेक बिना किसी भौतिक कारण के हुआ है। उसने वह न स्वप्न में देखा, न चित्र देखा और न गुण श्रवण किया है हीरामन तोता उसे रतन सेन के विषय में जो कुछ बताता है वह काफी समय के पश्चात् पद्मावती में सवयं ही विरह जगा देता है।

24. कहाँ रतन रतनागार, कंचन कहाँ सुमेर।
    दैव जो जोरी हुहूँ लिखी, मिले सो कौनेहु फेर।।

स्त्री के प्रति संवेदना–

स्त्री के प्रति, सूफी काव्यों में सर्वत्र, सहानुभूति और संवेदना व्यक्त की गई है। स्त्री के प्रति यह संवेदना भाव उसकी वियोग व्यथा को देखने पर उत्पन्न हुआ है। 'पद्मावत' में समुद्र ने और 'इन्द्रावती' में पवन ने नायक नायिका मिलन के लिये सक्रिय सहायता दी है। पद्मावत का हीरामन तोता दोनों ओर प्रेम जगाता है तथा मिलन भी कराता है। 'चित्रावली' में वन मानुष कुँवर को अंजन देता है जिससे उसे अपने कार्य में सरलता हो जाती है।

मध्यकालीन स्त्री के मिलन में प्रकृति, पशु पक्षी तथा नर नारी के अतिरिक्त देवताओं ने भी प्रेमियों के प्रति संवेदना रखी है तथा संकटों से निकाला है। 'पद्मावती' पहुपावती, ईश्वर दास कृत 'सत्यवती की कथा' (सं0 1558) शेख नवी रचित 'ज्ञानदीप' (सं0 1676) आदि में शिव पार्वती संवेदना के वशीभूत प्रेमी प्रेमिका के मिलन का उपाय करते हैं। उन्हें प्रेम में मरण भी अमृत पान सदृश लगता है। ये प्रेमी दो शरीर और एक प्राण है जो कभी अलग नहीं हो सकते।

25. वर कामिन तोहि प्रीत के नीरू। माहि पानि या सानि सरीरू।
26. मैं जो समुद्र लहर में तोरी। मैं रवि में जग किरन अंजोरी।।
    मोहि आपुहि जनि जानु किनारा। मैं सरीर तुई प्रान पिआरा।।
    मोहि तोहि को पारी बिकराई। एक जोति दुई भान देखाई।।

स्त्रीत्व का आदर–

प्रेमाख्यानकों में पुरुष प्रेम का याचक बना, युद्ध–तलवार का गर्व त्याग कर वह प्रेम साधना के मार्ग पर आया। स्त्री प्रेम की स्वामिनी तथा स्वीकारिका बनी, और प्रिय के स्वयं–वरण में उसे स्वधिकार प्राप्त हुआ। इस तरह स्त्री लवणिमा, मधुरिमा और गरिमा को प्राप्त हुई। स्त्री–पुरुष में अभिन्नता मानी गई, लेकिन श्रद्धा सत्री की ओर ही हुई। पति–पत्नी का प्रेमी–प्रेयसी में साख्यभाव का प्रादुर्भाव हुआ और प्रेम की संवेदना दोनों ओर जागृत हुई। इस प्रेम में एक ओर यौवन का उच्छल लेकिन प्रगाढ़ प्रेम है, जिसका मूल्य प्राणों से भी अधिक है तथा दूसरी ओर उस ग्रहिणी का प्रेम और वियोग संताप है जिसका पति उसके प्रेम को त्याग करके दूसरी पत्नी लाने के लिये दूर देश गया है। फिर भी यह पतिव्रता ग्रहिणी पति में सर्वथा अनुरक्त है और पतिसुख में ही सुख मानती है तथा इस कार्य से ईर्ष्या नहीं करती।

रतनसेन को सूली पर चढ़ाने के समय पद्मावती कहती है–

27. काढ़ि प्रान बैठी लेई हाथा। मरै तो मरौं जिऔं एक साथा।

जायसी की नागपमति पद्मावती को यह संदेश भेजती है–

28. हुमायूँ बियाही संग ओहि पीऊ। आपुहिपाई जानु पर जीऊ।।
अवहे मया करु करु जिउ फेरा। मोहि जियाउ कंत देई मेरा।।
मोहिं भोग सौं काज न बारी। सौंह दीठि के चाहन हारी।।
सवति न होहि तो बैरिनि, मोर कंत जेहि हाथ।
आनि मिलाव एक बेर, तोर पायं मोर माथ।।

गृहिणी स्त्री और गृहास्त्रिक प्रेम–

पुरुष प्रबल साधना के द्वारा जिस स्त्री को पत्नी रूप में स्वीकार करता है उसके प्रति उच्छृंखल नहीं हो सकता। प्रेम तक ही पुरुष उच्छृंखल हो सकता है। विवाह के बाद नहीं। सूफी प्रेमाख्यानों में प्रेम का मूल स्वरूप भारतीय ही रहा। उसमें दरबारीपन का प्रवेश नहीं हुआ। उसमें रोमानी प्रेम अवश्य देखने को मिलता है लेकिन उसकी परिणति भी विवाह में हुई। कामाचार में नहीं। पतिव्रत का महत्व और ग्रही जीवन के सुख विलास में श्रृंगारिक चेतना मर्यादा की सीमाओं में ही हिलोरें लेती रही। डॉ0 हरिकान्त श्रीवास्तव का कथन– ''भारतवर्ष में विवाह के पवित्र बन्धन का उल्लंघन हिन्दी के स्वच्छन्द प्रेम के कवि भी न कर सके। नारी के सतीत्व पर इन कवियों ने आँख भी न उठाई। बहुविवाह की प्रथा होते हुए भी हिन्दी कवियों में वासना–जनित उच्छृंखल प्रेम नहीं प्राप्त होता। यह अवश्य है कि इन कवियों ने स्त्री–पुरुष की काम–क्रीड़ा का उन्मुक्त वर्णन किया है, उनमें भोग विलास कहीं–कहीं मर्यादा का उल्लंघन कर गया है, किन्तु यह स्वच्छन्द प्रेम सामाजिक मान्यताओं का उल्लंघन नहीं करता।''

(डॉ0 हरिकान्त श्रीवास्तव– भारतीय प्रेमाख्यान काव्य)

स्त्री चरित्र–

चारित्रिक दृष्टि से प्रेमाख्यानकों के स्त्री चरित्र प्रतीकात्मक होने के कारण सभी जगह एक से हो गये हैं। चरित्र में वैयक्तिक विशेषताओं के लिए स्थान नहीं रहा। सूफी काव्यों की नायिकाओं की चारित्रिक विशेषता है– राजपुत्री होना, अति सुन्दरी होना, सदाचार और प्रणय में दृढ़ होना। प्रतिनायिकाओं में भी ये गुण होते हैं लेकिन सौंदर्य में ये नायिकाओं से कुछ कम होती है। सपत्नी के प्रति इनका जैसा व्यवहार रहा है उसके अनुसार इनके चरित्र की उदात्तता या हीनता मानी जाती है, रंगीली, रूपवंती, कौलावती आदि सौतन के प्रति सद्व्यवहार रखती है, किन्तु नागमती पद्मावती से द्वेष रखती है तथा कलह भी करती है। यह कलह पद्मावती प्रारंभ करती है। राजा के समझाने पर वह नागमती मान जाती है।

29. पद्मावती सों कहेहु बिहंगम। कंत लोभाइ रही करि संगम।।
तू घर घरनि भइ हिउ–हरता। मोहि तन दीन्हेसि जय और बरता।।
30. सवति न होहि तू बैरिनि; मोर कंत जेहि हाथ।
31. पद्मावती कर आव बैवानू। नागमती जिउ महै भा आनू।।
जनहुँ छाँह महै धूप देखाई। तैसई झार लागि जो आई।।
सही न जाइ सवति के झारा। दूसरे मंदिर दीन्ह उतारा।।

नायिका को आराध्य ब्रह्म का और उपनायिका को दुनिया धंधा का प्रतीक माना गया है। नायक का विवाह प्रायः उपनायिका से 'दुनिया धंधा' से होता है और उसी में लीन रहता है। लेकिन जब उसे एक परम सुन्दरी नारी (ब्रह्म) का परिचय मिलता है तो वह उसकी ओर आकृष्ट हो जाता है। ऐसी दशा में आराध्य नायिका में गर्व होना स्वाभाविक है तथा उपनायिका अपने प्रति उपेक्षा देख विकल हो उठती है। उसकी विकल वेदना इस उपेक्षा भाव से बढ़ जाती है। इसलिए नारी सुलभ मनोविकारों से

उद्भावना और अभिव्यक्ति होने लगती है। इसीलिए पद्मावती का अपेक्षा नागमति के विरह में अत्यधिक मार्मिकता है। प्रेमाख्यानकों में नायिका प्राप्ति के लिए उपनायिका नायक की हार्दिक कामना जानकर सहायता करती है। किसी भी प्रेमाख्यान में ऐसी उपनायिका नहीं दिखाई देती जिसने नायक को नायिका के प्रेम से अलग करने का प्रयास किया है। इससे यह आभास होता है कि उपनायिका नायक की खुशी में ही अपनी खुशी ढूँढ़ती है।

प्रेमाख्यानकों के स्त्री पात्र अपने प्रिय के लिए प्राण न्यौछावर के लिये तत्पर विवाह के बाद उत्तम ग्रहणी बनना, दूरदर्शिता का होना, वीरों को सम्मान देना, समय पर साहस और शौर्य का परिचय देना तथा माता के रूप में वात्सल्य की नदियाँ प्रवाहित करती है।

आध्यात्मिक दृष्टि से नारी में परमात्मा का स्वरूप देखा गया है, लेकिन व्यवहार में पुरुष की ही प्रधानता प्रेमाख्यानकों में दिखाई देती है। शायद ही कोई नायक ऐसा होगा जिसकी एक पत्नी रही हो ज्यादातर एक से अधिक पत्नी रखने वाले नायक हुए हैं। नल के तो दमयन्ती के अलावा सहस्रों नारियाँ थीं। यह जानते हुए भी कि पति अन्य प्रेम में भटक रहा है उस समय की स्त्री उस पर अंकुश लगाने में असमर्थ थी। इसी पीड़ा के झेलते हुए उसे प्रसन्न रहना पड़ता था।

नागमती रतन सेन से पद्मावती को साथ लाने पर कहती है–

32. काह हँसी तुम मो सौं किएउ और सो नेहु।
तुम मुख चमकै बीजुरी, हम मुख बरसै गेह।
रतनसेन चतुरता से नागमती से कहता है–
नागमती तू पहिल विआही, कठिन बिछोह दहै जनु दाही।
बहुत दिन पै आव जो पीऊ। धनि न मिलै धनि पाहन जीउ।।

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि मध्यकाल की नारी का चरित्र दुरंगा बन कर रह गया था। एक ओर वह पुरुष की आराधना और संसाध्या बनी और उसने अपने विचारों में वही पूज्यता दिखाई। दूसरी तरफ, वही नारी पुरुष की दासी बनने तक के लिए लालायित दिखाई दी, पुरुष के बिना उसकी कोई गति नहीं थी, कोई मति नहीं थी।

सूफी काव्य की स्त्री ने अपनी पराधीनता को स्वीकारा किन्तु वह यह नहीं समझ सकी कि इस पराधीनता का मूल कारण क्या है? आज की स्त्री अपनी पराधीनता का कारण पुरुष पर आर्थिक आश्रायत्व मानती है इसलिए आर्थिक क्षेत्र में अपने स्वावलंबन की ओर गतिशील है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची :

1. जायसी पद्मावत, उपसंहार, पृ0 301
2. पद्मावत, उपसंहार, पृ0 301
3. अनुराग बाँसुरी, पृ0 87
4. अनुराग बाँसुरी, पृ0 93
5. डॉ0 कमल कुलश्रेष्ठ, हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य 258
6. जायसी : पद्मावत, जन्म खण्ड 4–5
7. जायसी : पद्मावत, चित्तौरगढ़ वर्णन खण्ड 17/34
8. वही, रूप चर्चा खण्ड 213
9. वही, नखशिख वर्णन, 416
10. वही, नखशिख वर्णन
11. वही, मान सरोदक खण्ड 1–3
12. जान, रतन मंजरी
13. नूर मुहम्मद : अनुराग बाँसुरी

14. जान, रतन मंजरी
15. जायसी : पद्मावत
16. इन्द्रवती
17. अनुराग बांसुरी
18. पुहुपावती
19. उसमान : चित्रावली, पृ0 49
20. नूर मुहम्मद : इन्द्रावती
21. चित्रावली, पृ0 122
22. पद्मावत, नागमति बिरह वर्णन
23. जायसी पद्मावत, पद्मावती सुआमेंट खण्ड
24. मलिक मंझन, मधुमालती
25. मलिक मंझन, मधुमालती
26. रतनसेन सूली खण्ड
27. पद्मावत, नागमती संदेश खण्ड
28. पद्मावत, चित्तौरगढ़ आगमन खण्ड

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

लोक दर्शन की अवधारणा

विजय नारायण दूबे

डी0ए0वी0 पी0जी0कॉलेज, आजमगढ़

लोक मनुष्य समाज का वह धर्म है जो आभिजात्य संस्कार शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है और जो एक परंपरा के प्रवाह में जीवित रहता है।[1]

लोक शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के **लोकृदर्शने** धातु से हुई। इसका धातुज अर्थ देखने परक है। रूढ़िगत अर्थ सामान्य लोग है। लोग व लोक दोनों ही शब्द अत्यन्त प्राचीन है। इनका प्रयोग ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में लोक शब्द जीवन और स्थान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[2] ऋग्वेद में ही लोक शब्द एक विशुद्ध समाज की ओर संकेत करता है।

सहस्रशीर्षाः पुरूषः सहस्त्राक्षः सहस्तपात्।[3]

अथर्ववेद में भी इसका प्रयोग हुआ है। यह ज्ञात है कि लोग एक सामान्य शब्द एवं लोक पारिभाषिक शब्द है। अमर कोश में लोक के जगत् , विष्टप, भुवन पर्याय मिलते हैं।[4]पाणिनी के अष्टाध्यायी, भरतमुनि के नाट्यशास्त्र, पतंजलि के महाभाष्य आदि में लोक शब्द शास्त्रोतर वेदेतर तथा सामान्य जन के लिए प्रयुक्त हुआ है। महर्षिव्यास ने लोक के सम्बन्ध में एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।

प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्ववर्शी भवेन्नरः।[5]

अर्थात् जो व्यक्ति लोक को स्वतः अपने चक्षुओं से देखता है वही उसे सम्यक् रूप से संज्ञान कर सकता है। अतः लोक दृश्य के अन्तर्गत आता है। गीता में प्रयुक्त लोक संग्रह शब्द का तात्पर्य भी साधारण जनता के आचार–व्यवहार तथा आदर्श से है।पृथ्वी के कुछ प्राणी जनश्रेणी में आते हैं तथा कुछ लोग मनुष्य या नर श्रेणी में। जन्म लेना और मर जाना तथा अपने जैसे और पैदा कर जाना जन कहलाने के लिए पर्याप्त है। परन्तु अन्य संज्ञाओं का अधिकारी बनने के लिए इस दो हाथ, दो पैर धारण करने वाले प्राणी को कुछ गुण अपनाने होंगे। लोक संज्ञा का अधिकारी बनने के लिए उसमें दर्शन क्षमता होनी चाहिए। उच्च कोटि के द्रष्टा को भारत में ऋषि कहा जाता है।**ऋषयः मन्त्रद्रष्टारः** सूत्र का स्मरण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि निरुक्तकार यास्क ऋषि उस द्रष्टा को मानते हैं जिसका दर्शन उसकी मनन–क्षमता को भी प्रेरित करे। इस दृष्टि कोण से लोक का दर्शन सदैव लोक की मनन सामर्थ्य को जगाकर उसे मनुष्य बनाने में सहायक होता है।

लोक शब्द किसी भी राष्ट्र की अमर–ज्योति है। जिस शास्त्र में लोक के पुट का मिश्रण नहीं वह शास्त्र नीरस हो जाता है। लोक का ज्ञान हो जाने का मतलब सम्पूर्ण शास्त्रों का ज्ञान का प्राप्त करना। क्योंकि ज्ञान साहित्य और कला के अनेक रूप हैं। नृत्य, संगीत, भाषाएं, कृषि, अर्थशास्त्र और जीवन के आनन्दमय पर्वोत्सव, आचार–विचार सभी लोक जीवन से प्रभावित एवं ओत–प्रोत हैं।भूत और वर्तमान में जो भी सुन्दर एवं समवयकारी तत्त्व हैं वह कहीं न कहीं लोक में संचित एवं सवंर्द्धित है।

प्रत्येक मनुष्य जन्म से ही लोक से जुड़ा रहता है। वह अपनी रीतियों, परम्पराओं और विश्वासों को लोक से ही ग्रहण करता है। मनुष्य की पूरी संस्कृति , समाज के सांस्कृति में विकास का स्रोत वस्तुतः लोक ही है। उसमें भूत, भविष्य और वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है। लोक में केवल मनुष्य ग्रामीण परिवेश की ही प्रतीति नही कराता है, बल्कि मनुष्य समाज के सांस्कृतिक रूप से विकसित होते समय को पहचानने, मनुष्य व उसके परिवेश, उसके तनाव व द्वन्द्वों का एहसास करने वाली मूर्त अवधारणा भी है।

साहित्य समाज सापेक्ष है। वह समाज से अछूता नहीं रह सकता है। समाज में रहने वाले लोक अर्थात् सामान्य जन से साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। वास्तव में समाज के परिवेश का यथार्थ स्वरूप साहित्य द्वारा ही उद्घाटित हो सकता है। क्योंकि वह जनता की संवेदना से संबद्ध होता है। यही कारण है कि अपने युग के सभी महाकवि भी लोक की अपेक्षा नहीं कर सके। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि हम लोक के अर्थ को स्पष्ट करें।

लोक कला, लोकसंस्कृति, लोकाचार जैसे तमाम प्रचलित शब्दों में शामिल लोक शब्द वस्तुतः क्या है? इसकी सत्ता व्यापक है। विभिन्न समुदायों के सन्दर्भ में जब संस्कृति शब्द का प्रयोग होता है तो उसके साथ काल का उल्लेख महत्वपूर्ण हो जाता है। संस्कृति के साथ पुरातनता अनिवार्य तत्त्व नहीं है। यह प्राचीन भी हो सकती है। आधुनिक भी हो सकती है। संस्कृति निरन्तर परिवर्तनशील है मगर इसके साथ जब लोक शब्द जुड़ता तो स्वतः ही पुरातनता और परंपरा दोनों का होना जरूरी है।

वैदिक काल से लेकर आज तक लोक शब्द का प्रयोग प्रायः समान अर्थों में अनवरत रूप से होता है। लोक शब्द का प्रयोग लोक कल्याण अथवा लोक संग्रह के सन्दर्भों में किया गया।

लोक शब्द के शब्द जगत पर जब विचार करते हें तो यह जानकारी मिलती है कि यह शब्द लोक धातु अर्थात् देखने के अर्थ में प्रयुक्त धातु से निष्पन्न है। लोक का वैदिक अर्थ प्रकाश, खुली जगह, दृश्य जगत है, और उसके बाद उसका अर्थ युक्त विचरण भी है। इसी कारण विकसित अर्थ है पूरा विश्व जो तीन या सात या चौदह लोकों में विभक्त है। उत्तर वौदिक काल और महाभारत काल में लोक का अर्थ हुआ पृथ्वी लोक और उसके निवासी या फिर इसका अर्थ सामान्य जीवन सामान्य भाषा हुआ। लौकिक का अर्थ है इन्द्रियगोचर जीवन से सम्बद्ध।[7]

लोक के योग से अर्थ निष्पन्न हुए जिनमें लोकगीत, लोकगाथा, लोकचारित्य, लोकाचार, लोक तन्त्र, लोकधर्म लोक प्रसिद्धि, लोक मात्रिका, लोक–मार्ग, लोकमात्रा, लोक रंजन, लोक विन्द, लोक विरुद्ध, लोक वृत्त, लोक संग्रह, लोक स्थिति, लोक हित जासे सभी शब्दों में लोक का अर्थ व्यापक मानव व्यवहार है अथवा मूल्य बोध से प्रेरित स्वीकृत व्यवहार या चेतना है। ताण्ड्य ब्राह्मण में लोक बिन्दु शब्द का प्रयोग उस व्यक्ति के लिये किया गया है, जो लोगों को स्वतन्त्रता दे, खुलापन दे, खूली जगह दे और खुलेपन के लिए एक आमंत्रण दे।[8]

हिन्दी में लोक शब्द अंग्रेजी के फोक शब्द का पर्याय है। इस सन्दर्भ में विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न व्याख्याएं प्रस्तुत की है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम नही हैं, बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई वह समूची जनता हैं, जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नही हैं।[9]

डॉ0 श्याम परमार लोक शब्द को नागरिक एवं ग्रामीण दोनों प्रकार की संस्कृतियों का संगम स्थल मानते हुए कहा है कि लोक साधारण जन समाज है, जिसमें भू–भाग में फैले हुए समस्त प्रकार के मानव सम्मिलित हैं। समाज में नागरिक और ग्रामीण दो भिन्न संस्कृतियों का उल्लेख किया जाता है पर लोक दोनों में विद्यमान है।[10]

डॉ0 सरोजनी रोहतनी ने लोक शब्द को अंग्रजी के फोक से भी विशाल बताते हुए कहा है कि लोक का प्राचीन रूप पूर्व से ही हमारे यहाँ प्राप्त हो रहा है, जिसमें संस्कृत और परिष्कृत प्रभावों से मुक्त पुरातन नवीन दर्शन होते हैं एवं जिसका अपना निश्चित स्वरूप उपलब्ध होता है।[11]

प्रायः लोक शब्द का सम्बन्ध समाज के कम पढ़े–लिखे वर्ग से लिया जाता है तथा लोक शब्द को प्राचीन परिवेश से जोड़ा जाता है जो अपने जीवन की पारम्परिक रूढ़ियों को जीवन का मूल मानता है। हमारा ग्रामीण समाज लोक का महाप्राण है और ग्रामीण संस्कृति लोक का प्रतिनिधित्व सा करती हुई दिखाई देती है। एक विशेषण के रूप में इस शब्द का अर्थ ग्राम्य या जनपदीय समझा जाता है। एक अमेरिकी विद्वान एलन इंडीस के मतानुसार कोई भी समुह जिससे दो से अधिक मनुष्य हो और जिसमें भाषा धर्म आदि सांझी और जिसमें परम्परायें साझी हो एवं समुह भावनायुक्त हो वह लोक कहलाता है।

वह समुह जिसकी अपनी सांझी विरासत है, जिसकी संस्कृति धार्मिक भाषायि विरासत सांझी है। लोक के अन्तर्गत आता है।[12]

वास्तव में लोक का अर्थ उस जनसमाज से है जो विस्तृत रूप से इस पृथ्वी पर फैला हुआ है और जिसमें सभी प्रकार के मनुष्य सम्मिलित है। लोक शब्द का प्रयोग उस शब्द के अर्थ की व्यापकता का द्योतक है वास्व में देखा जाय तो लोक शब्द अपने प्रयोग के आधार पर अलग–अलग अर्थ देने लगा है जैसे यदि उसी लोक के साथ गीत शब्द को लगा दें तो गाँवो, जंगलो, पहाड़ो और टापुओं पर बना था। बसा हुआ जनमानस अंधो के सामने घूम जायेगा।

लोक शब्द देखने में जितना सरल है लोक धारा के प्रसंग में उतना ही कठिन है। साधारण अर्थ मे लोक शब्द का अर्थ है जनसाधारण अथवा जनता, किन्तु लोक धारा के सन्दर्भ में लोक शब्द का निश्चित तथा गूढ़ अर्थ लिखा जाता है। अपने देश की प्रचारित भावानुभूति में इस लोक शब्द के प्रयोग में अधिक व्यापकता है। यदि ध्यान से देखा जाये तो लोक निन्दा, लोक लज्जा, लोक सम्मान इत्यादि शब्दों का प्रयोग करते समय हमारे मन में समस्त मानव जीवन के द्वारा होने वाली निन्दा, लज्जा और सम्मान का चित्र रहता है। ऐसी अवस्था में लोक शब्द की व्यापकता के अनुसार लोक–कला का तात्पर्य वह समस्त कला है जो मनुष्य के द्वारा निर्मित होती रही है। या होती रहेगी। लेकिन जब हम लोक संगीत, लोक नृत्य या लोक संस्कृति इत्यादि शब्दों का प्रयोग करते हैं तो इसका कुछ दूसरा ही अर्थ होता है।

अतः हमारे विचार से लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है, जो अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना अथवा अहंकार से शुन्य है, और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है। लोक साहित्य जनता की संस्कृति होने के कारण लोक संस्कृति का दर्पण है। जन संस्कृति का जैसा सच्चा तथा सजीव चित्रण लोक साहित्य में उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। सरलता स्वाभाविकता और सरसता के कारण यह अपना एक विशेष महत्व रखता है।

साधारण जनता का गाना, हँसना, खेलना, रोना, जिन शब्दों में अभिव्यक्त हो सकता है वह सब कुछ लोक साहित्य में आज है। किसी भी देश की सभ्यता एवं संस्कृति, धर्म, रीति–रिवाज, फला–साहित्य एवं सामाजिक आकांक्षाओं का सूक्ष्म अवलोकन लोकसाहित्य के द्वारा सुलभ हो जाता है। लेकिन लोक साहित्यके बारे में प्रश्न उठता है कि लोक और साहित्य दो शब्दों को मिलाकर लोकसाहित्य शब्द बनता है, इसलिए सबसे पहले, लोक शब्द को समझना आवश्यक है।

वास्तव में संस्कृत साहित्य की तरह हिन्दी साहित्य में लोक के लिए लोग शब्द का प्रयोग सामान्य जनता के लिये किया गया है। जहाँ इस शब्द का प्रयोग अशिक्षित असभ्य वर्ग के लोगों के लिए किया जाता है। चाहे वे नगरों में रहते हैं या गाँवों में। केवल ग्रामीणों के लिए ही लोक शब्द का प्रयोग स्वीकार्य नहीं है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी नो लिखा है कि लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम नही है, बल्कि नगरों और गाँव में फैली हुई वह समस्त जनता है, जिनके व्यवहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नही है। ये लोक नगर में परिष्कृत रुचि ससम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की समूची, विलासिल सुकुमारिता को जीवित रखने के लिए आवश्यक वस्तुएँ उत्पन्न करते हैं।[13]

पूर्णिमा श्रीवास्तव ने लोक पर विचार करते हुए कहा है कि वास्तव में लोक का अर्थ उस जन समाज से है, जो विस्तृत रूप में इस पृथ्वी पर फैला हुआ है। और जिसमें सभी प्रकार के मनुष्य सम्मिलित है।[14] आधुनिक विद्वानों द्वारा लोक शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। कुछ विद्वानों ने लोक को जन का पर्याय माना है। तो कुछ ने ग्राम या नगर की सीमित परिधि के अन्तर्गत बांधा है। कुछ विद्वान अशिक्षित और अल्प सभ्य व्यक्तियों के वर्ग को लोक के अन्तर्गत सम्मिलित करते हैं।

उपरोक्त विचारों के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है कि लोक मानव समाज का वह वर्ग है, जो अपनी प्राचीन मान्यताओं एवं परम्पराओं के प्रति आस्थावान है, वह आधुनिक सभ्यता एवं कृतिमता से दूर अपनी प्राचीन संस्कृति, मान्यताओं एवं परम्पराओं को नहीं तोड़ता वास्तव में लोक वही है, जिसमें युग की मनोवृत्तियों के कुछ न कुछ अवशेष उपलब्ध हो।

इस प्रकार लोक शब्द की व्याप्ति में नगर–गाँव आदि सब कुछ आ जाता है। इसे नगर या गाँव की सीमित परिधि के अन्तर्गत बांधना उचित नहीं है और नहीं इसे जन का पर्याय मानना भी उचित है। ग्राम या जन शब्द लोक के समक्ष संकुचित अर्थ एवं क्षेत्र वाले प्रतीत होते हैं। वर्तमान समय में विद्वानों द्वारा लोक शब्द को ग्राम के पर्याय के रूप में न मानकर विस्तृत अर्थ में स्वीकार किया गया है।

नाभ्याSआसीदन्तरिक्ष शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत। पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकां2 sअकल्पयन्॥[15]

हिन्दी के भक्त कवि तुलसी दास ने लोक तथा वेद के मूल्यों को प्रिय के आधार पर समान मानते हुए लिखा है।

लोकहुँ वेद सुसाहिब रीति। विनय सुनत पहिचानत प्रीति।।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि सभी विद्वानों द्वारा लोक को निर्धारित करने का प्रयत्न किया गया है। किसी सभ्य संस्कृत निरक्षर जनसमुदाय को भी लोक के अन्तर्गत माना है तो किसी ने लोक को व्यापक अर्थ में ग्रहण करने की बात कही है। यहां एक बात स्पष्ट रूप से कही जा सकती है।

संदर्भ सूची :

1. लोक साहित्य विज्ञान , डॉ. सत्येन्द्र, पृष्ठ –03
2. ऋग्वेद दृ 3,53, 12,
3. .ऋग्वेद दृ 10ध्9
4. अथर्ववेद 10ध्3ध्52
5. अमरकोष दृकांड–2श्लोक6
6. गीता अध्याय 5, श्लोक–8
7. मिश्र, डॉ. विद्यानिवास, चन्दन चौक, पृ०5
8. मिश्र डॉ विद्या निवास, चन्दन चौक, पृ०6
9. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, विचार और वितर्क, साहित्य भवन(प्राईवेट) लिमिटेड, इलाहाबाद
10. डॉ0 श्याम परमार, भारतीय लोक साहित्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1958 पृ० 10
11. डॉ0 सरोजनी रोहतयी, अवधी का लोकसाहित्य, नेशल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली, प्रथम सं0, 1980 पृ० 3
12. पाण्डेय, आर० डी० एवं डॉ0 रमाकान्त, भारतीय लोकगीतों में हरियाणा का योगदान, पृ० 25–26
13. जनपद, वर्ष– 1 अंक– 1, पृ० सं०– 651
14. पूर्णिमा श्रीवस्तव लोकगीत में समान प्रथम अध्याय, पृ0 1
15. .ऋग्वेद 10/13

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

कालाधीनं जगत् सर्वम्

डॉ0 अजित कुमार जैन

एम0ए0 (संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, अर्थशास्त्र)
आचार्य (जैन दर्शन), एल0एल0बी0, पीएच0डी0
एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष संस्कृत विभाग,
एस0बी0 कालेज, अलीगढ़

संसार में प्रत्येक जड़–चेतन, स्थावर–जंगम सभी का परिणमन स्व स्व कालवश ही है। संस्कृत की एक विशिष्ट विधा ज्योतिषशास्त्र है। ज्योतिषशास्त्र का ही अपरनाम कालविधानशास्त्र है। गृहस्थ हो या संन्यासी, वानप्रस्थी, यती सभी अपनी जीवन क्रियाएँ कालशुद्धि का विचार कर ही चलाते हैं, इसी से सफलता–सिद्धि प्राप्त होती है। अतः, यहाँ यह कहना समीचीन ही है कि मनुष्य का जीवन काल और कर्म के अधीन है।

कालशुद्धि की चर्चा करने वाला शास्त्र ज्योतिषशास्त्र कहा गया है–

''कालाधीनं जगत्सर्वम्'' अर्थात् समस्त संसार काल के ही अधीन है। काल की ही प्रबलता के वश प्राणियों का जीवन है। कहा है–

''कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः''

आचार्य वराहमिहिर का कथन दृष्टव्य है–

यदुपचितमथजन्मनिशुभाशुभं तस्य कर्मन पवित्रम्।

व्यञ्जयति शास्त्रमेतत् समसि द्रव्याणि दीप इव।।[1]

अन्यत्र भी इसी आशय के कथन आचार्यों द्वारा उद्घोषित किए गये हैं। कहा है– **''कालोहि दुरतिकमः''** अर्थात् संसारी प्राणियों के लिए काल अनुलंघनीय है।

जब काल और कर्म की चर्चा सामने आती है तब स्वाभाविक सा एक प्रश्न उपस्थित होता है कि इनसे भी आगे बढ़कर प्रथम सोपान आयु तथा इसकी अवधि का है। उल्लेख है–

पूर्वमायु परीक्षेत् ततो लक्षणामादिशेत्।

आर्युहीन तदाणां तु लक्षणैः किं प्रयोजनम्।।[2]

अर्थात् आयु के उचित निर्धारण व ज्ञान किस बिना अन्य शुभाशुभ लक्षणों के जानने और फलादेश करने का कोई औचित्य नहीं है।

लौकिक जीवन में यह भी यथाश्रुजन्म अनुभव से सिद्ध है– **''शरीरं व्याधि मन्दिरम्''** अर्थात् समस्त प्रकार की बीमारियों का स्थान शरीर ही है। सभी प्राणी अपने अपने बाँधे हुए कर्मों का फलभोग करने के लिए ही पुनः पुनः जन्म धारण करते हैं। अर्थात् पूर्वी वर्जित कर्म ही प्राणियों के जन्म लेने का कारण बनता है। ज्योतिषशास्त्र का कथन है–

पूर्वजन्मार्जित कर्मशुभं वा यदि वाऽशुभम्।

तस्य पंक्ति गृहस्थो सूचयन्तीह जन्मनि।।[3]

ज्योतिषशास्त्र का फलादेश ग्रहों के गोचरानुसार होता है। यह सत्य ही कहा है–

ग्रहाधीना योगाः सदसदभिधाना जनिमतां।

ततो योगाधीनं फलमिति पुराणैः समुदितम्।।[4]

ज्योतिषशास्त्र का यह उद्घोष भी कर्मविपाक पर ही बल देता है। दृष्टव्य है– **'पूर्वजन्मकृतं पापं व्याधि रूपेण जायते'** और यह भी यथासत्य है कि व्याधियाँ वर्तमान शरीर के नाश हो जाने के बाद भी कर्मविपाक के पूर्ण न हो पाने के कारण अन्य जन्य में भी साथ चली जाती है। सत्य ही कहा है–

कर्मजा व्याधयः केचित् दोषजा सन्ति चापरे।

यहाँ नारदीय संहिता का वचन यथा प्रमाण उद्धृत है–

विनोदखिलं श्रोत्रस्मार्त्तं कर्म न सिद्धयति।

तस्मा जगद्धिताभेदं ब्रह्मण रचितं पुरा।।[5]

कालविधानशास्त्र के पुरोधा आचार्य वराहमिहिर ने सर्वप्रथम ज्योतिष के लोकोपकारकत्त्व महत्व को प्रतिपादित करते हुए कहा है–

भूतार्थमिदं सकलैः प्रवक्ष्यै।[6]

लोककल्याण हेतु प्रवृर्त्तित इस शास्त्र की महिमा सूर्यसिद्धान्त में इस प्रकार कही गई है–

ग्रहनखत्रचरितं ज्ञात्वा गोलं च तत्वतः।

ग्रहलोकमवाप्नोति पर्यायेणात्मवान् नरः।।[7]

जिसे संसार से कुछ प्रयोजन नहीं रह गया है ऐसे यती, वीतरागी, साधु भी ज्योतिषज्ञों से पूछते हैं–

वनं समाश्रिता येन च निर्ममा निष्परिग्रहाः।

अपितेपृच्छन्ति ज्योतिषा गति को विदाम्।।[8]

यह काव्यविधानशास्त्र संसारी गृहस्थी वाले मनुष्यों को अत्यन्त उपयोगी है। यह अर्थागम का स्वभाव, स्वरूप, समाधान और उद्देश्य बताने में समर्थ है–

अर्थागमे सहाय्य पुरुषाणामापदार्णवे पोतः।

यात्राकाले मंत्री जातकमपहाय नास्त्यपरः।।[9]

ज्योतिषशास्त्र की एक विधा मुहूर्त्त प्रकरण भी है। संसार में करने योग्य न करने योग्य सभी काल का निर्धारण ग्रह–नक्षत्रों के अनुसार बतलाने का प्रमुख कार्य इस चिंतन से किया जाता है। ज्योतिष में इसके प्रतिपादक अनेकों ग्रन्थ प्राहाव्य है।[10]

यज्ञों के सम्पादनार्थ भी काव्यशुद्धि की अत्यंत आवश्यकता एवं उपादेयता है। यह कार्य यजुर्वेद से लेकर आज तक सतत् प्रवाही है। विशेष–विशेष प्रयोजनों से विशेष विशेष यज्ञ सम्पन्न कराने की बात आचार्यों ने कही है। इसमें भी कालशुद्धि की अनिवार्यता से ही कार्यसिद्धि प्राप्त होगी। यह कथन इसके लिए प्रतिपादक है–

वेदाहि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ता; कालानुपूर्व्या विहिताश्चयज्ञाः।

तस्मादिदं काल विधान शास्त्रं यः ज्योतिशं वेद सवेदयज्ञान्।।[11]

कर्मों के निर्धारण और काव्यज्ञान के लिए ज्योर्ति निबन्धकार का कथन है–

अप्रत्यक्षाणि शास्त्राणि विवादस्तेशु केवलम्।

प्रत्यक्षं ज्योतिषं शास्त्रं चंद्रार्को यत्र साक्षिणो।।

अतः यह प्रत्यक्ष ज्ञान है, अनुभूतिजन्य ज्ञान है। अतः यह उत्तम शास्त्र है। अतः–

वन्द्यं विजयेतेतराम्।।

संदर्भ सूची :

1. आचार्य वराह मिहिर– लघुजातक
2. श्री प्रजापतिदास– पञ्चस्वरा/लघुपाराशरी– राजयोगा0 2/3
3. प्रश्नमार्ग– प्र0उ0 श्लोक– 37
4. जातकालंकार–योगा– श्लोक–1
5. नारदसंहिता– 9/6
6. आचार्य वराहमिहिर– वृहत्संहिता– 1/11
7. सूर्यसिद्धान्त/ज्योतिषोपनिशद्, अध्याय– 35
8. वृहत्संहिता– आचार्य वराहमिहिर– उपनयनम्
9. आचार्य वराहमिहिर– वृहत्संहिता–
10. मुहूर्त्त परिजात– पं0 सोहनलाल द्विवेदी
    मुहूर्त्त ज्ञान/ मुहूर्त्त चिन्तामणि इत्यादय;
11. आर्य ज्योतिष, श्लोक– 36

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

सूचना प्रौद्योगिकी और हिन्दी

डॉ0 निर्मला कुमारी

एसो0 प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
श्री वार्ष्णेय महाविद्यालय, अलीगढ़

संचार की प्रक्रिया विभिन्न तरह के माध्यमों द्वारा सम्पन्न होती है। सूचना प्रौद्योगिकी के महत्व को सामाजिक विकास तथा जनकल्याण के उद्देश्यों के साथ जोड़कर भली भाँति समझा जा सकता है। सूचना क्रांति के इस युग में सूचना, अन्तर्सम्बन्धों की व्याख्या, शिक्षा एवं विकास के साथ ही मनोरंजन के नये आयाम सामने आये हैं। ज्ञान का विस्तार हुआ है। विश्व एक ग्राम में बदल गया है। प्रायः यह सुनते हैं कि हम एक 'विश्वग्राम' के निवासी हैं। सुदूर देशों की दूरियाँ मिट गई हैं। सूचना और ज्ञान के अवरोध हट गये हैं। इससे मनुष्य का विकास हुआ है। मनुष्य अंतरिक्ष तथा चन्द्रमा पर अपने कदम रख चुका है। अब चन्द्र लोक में बसने की तैयारी में है इसके बाद अगला लक्ष्य मंगल ग्रह है।

हमारा जीवन विविधता मय हो गया है, हमारे काम बहुउद्देशीय है इन बहुउद्देशीय काम को करने के लिए सूचना प्रौद्योगिकी के रूप में एक जादुई चिराग मिल गया है जिससे हम अपने छोटे–छोटे व बड़े से बड़े काम आसानी से कर सकते हैं। अपने जीवन के इन क्षेत्रों में सूचना प्रौद्योगिकी के प्रयोग देखते हैं– (1) शिक्षा एवं ज्ञानार्जन (2) वैश्विक घटनाओं के प्रति जिज्ञासाओं का समाधान, वैज्ञानिक गतिविधियों और उनका अनुप्रयोग, (3) रहन–सहन के भौतिक साधन, परस्पर संवाद, मनोरंजन, फैशन, स्वास्थ्य (4) व्यापार, आवागमन एवं यात्रायें।

सामान्यतः सूचना को व्यापक समाज तक फैलाने अथवा कहें कि प्रसारित करने वाले संचार माध्यमों को तीन वर्गों में रख सकते हैं–

(1) **शब्द संचार माध्यम अथवा मुद्रण माध्यम–** समाचारपत्र, पत्रिकाएँ, पुस्तकें, पम्पलेट आदि।
(2) **श्रव्य संचार माध्यम–** रेडियो, ऑडियो कैसेट, टेपरिकार्डर आदि।
(3) **दृश्य श्रव्य संचार माध्यम–** टेलीविजन, वीडियो कैसेट आदि।

आज के इलेक्ट्रानिक युग में उपग्रह एवं कम्प्यूटर प्रणाली के सहयोग से संचार माध्यमों ने अधिक गति से काम करना शुरू किया है।

डॉ0 हरिमोहन के अनुसार संचार माध्यम–

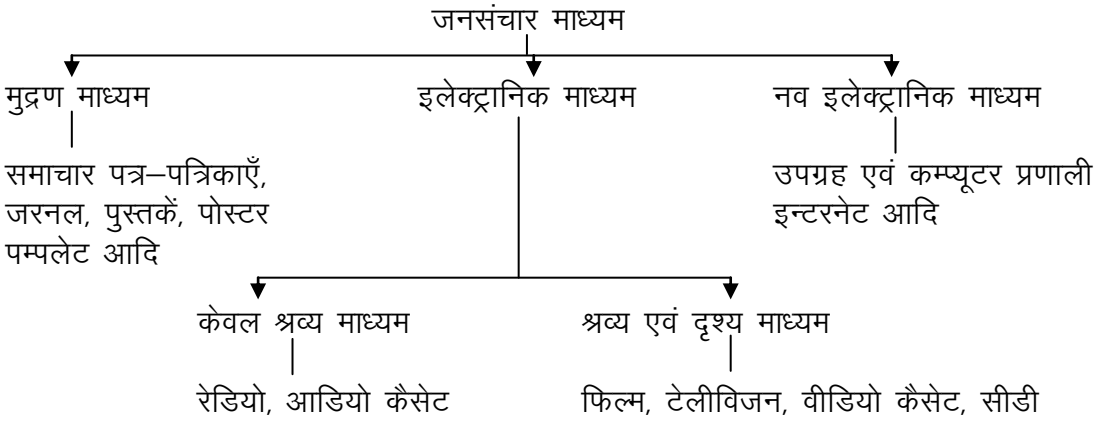

सूचना प्रौद्योगिक के क्षेत्र में जिस नवीनतम माध्यम ने क्रान्ति उपस्थित की है वह है इन्टरनेट। यह इस शताब्दी का मनुष्यता को दिया गया सर्वश्रेष्ठ उपहार है। यह हाई–टेक का पर्याय है और सूचना क्रान्ति का संवाहक। दुनिया को एक गाँव में इसी तंत्र ने बदला है। इन्टरनेट अपने आप में स्वतंत्र रूप से कोई आविष्कार नहीं है बल्कि यह कम्प्यूटर और टेलीफोन की व्यथित जोड़–गाँठ से बना संजाल है। बहुत–सी प्रौद्योगिकी को मिलाकर किया गया एक अभिनव प्रयोग, एक रोचक वैज्ञानिक तंत्र–जाल।

इन्टरनेट का विकास एवं संस्थापना संयुक्त राज्य अमेरिका की राष्ट्रीय विकास अकादमी द्वारा सन् 1990 में किया गया। वस्तुतः इसका जन्म 1969 में हुआ माना जा सकता है जब अमेरिका की सर्वोत्तम रक्षा अनुसंधान परियोजना एजेंसी ने कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय के कुछ छात्रा को एक परियोजना पर काम करने के लिए दिया। परियोजना की समस्या थी– स्कूल, कालेज, विश्वविद्यालयों, राज्य सरकारों, इन्टरैक्चुअल सोसाइटी, व्यावसायिक संगठनों, वाणिज्यिक फर्मों, मिलिट्री कैन्टोमेंट बेस आदि को आपस में जोड़ना, ताकि परस्पर गतिविधियों और सूचनाओं का आदान–प्रदान होता रहे। विशेष उद्देश्य था परमाणु हमला या प्राकृतिक आपदा की स्थिति में भी संचार का नेटवर्क काम करता रहे। इस परियोजना को पूरा करने में उस समय अध्ययनरत लियोनार्ड क्लीनराक नामक शोधछात्र को सफलता मिली थी।

इस प्रकार यह 'पारिवारिक नेटवर्क' बनाया गया था और इस पर अमेरिका की रक्षा अनुसंधान विभाग का ही अधिकार था। आज यह अमेरिका के रक्षा अनुसंधान विभाग से निकलकर आई0वी0एम0, माइक्रोसोफ्ट, एपल, नेटकेप जैसी व्यवसायिक कम्पनियों के हाथों में आ गया है। आज इससे अनुमानतः 60 लाख से अधिक कम्प्यूटर आपस में जुड़े हुए हैं और यह 160 से अधिक देशों के 400 लाख से अधिक उपभोक्ताओं को अपनी सेवायें उपलब्ध करा रहा है। आज कोई भी व्यक्ति ज्ञान के इस अथाह सागर से दुनिया के किसी भी कोने में बैठकर किसी भी विषय पर घर बैठे सूचना प्राप्त कर सकता है। घर बैठे ही क्यों वह चाहे तो यात्रा में भी ऐसा कर सकता है।

इन्टरनेट की लोकप्रियता के कारण–

1. यह सूचना प्राप्ति का सहज, सरल और आकर्षक माध्यम है।
2. विश्व के सभी देशों में कम्प्यूटर निरन्तर सस्ते होते जा रहे हैं। कीमतों की कमी के चलते इंटरनेट सुविधा उच्च वर्ग की ही नहीं अपितु मध्यम वर्ग की पहुँच में भी है।
3. समय की कमी।
4. सूचना, ज्ञान और मनोरंजन के साझे उपयोग की आवश्यकता और सुविधा।
5. समृद्ध ज्ञान भण्डार में मनचाही सामग्री को कम कीमत में जब चाहे तब प्राप्त करने की सुविधा।
6. किताबों और शोध पत्रों की कीमतों में वृद्धि और इसकी तुलना में कुल मिलाकर कम खर्चीला माध्यम।
7. न कागज स्याही का झंझट, न पुराने जमाने की डाक व्यवस्था की जरूरत। चाहे तो सूचना का प्रिन्ट निकाल सकते हैं।

क्या है इन्टरनेट–

सूचना, आँकड़े, दस्तावेज, पत्रावलियों आदि के आदान–प्रदान के लिए एक ही जगह कुछ कम्प्यूटरों को एक दूसरे के साथ जोड़ना इन्टरनेट कहलाता है। ये सभी कम्प्यूटर एक सर्वर (मुख्य कम्प्यूटर) द्वारा एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। इसी विश्व व्यापी जाल 'वल्ड वाइड वेव' इसी का संक्षिप्त नाम डब्ल्यू0डब्ल्यू0डब्ल्यू0 कहा जाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि इंटरनेट बहुत सारे स्थानीय नेटवर्क है जालों का जाल– महाजाल।

उपयोग–

इन्टरनेट का उपयोग जीवन की आवश्यकताओं के अनुरूप असंख्य है। इन्टरनेट का उपयोग अब केवल उच्चस्तरीय शोधकार्यों तक ही सीमित नहीं है बल्कि हमारे जीवन के दिन–प्रतिदिन के कामों में इनकी उपयोगिता निरन्तर बढ़ती जा रही है। अब हम बातचीत और गपशप (चैटिंग) से लेकर गहन शोधपरक सूचनाओं, उपयोगी डाटा, मनोरंजक संदेश और उपयोगी जानकारी तक सब कुछ आपस में बाँट सकते हैं। बेशक हम एक दूसरे के सामने न हों।

डॉ0 एच0 वालसुब्रह्मण्यम् के शब्दों में–

'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता' की तरह यह इलेक्ट्रॉनिक पिण्ड हमारा हर काम कर देता है। एक ऐसा गुलाम जो हमारी गलतियों की ओर भी संकेत देते हुए सही रास्ता सुझा देता है। यह अजीब दुनिया देश काल के बंधन के बिना सबकी अपनी है और इस विचित्र संसार के निर्माता हम सब विश्व मानव है। हम अपना साइट बना सकते हैं और बने बनाए साइट में जाकर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए बहस में भाग ले सकते हैं।

इन्टरनेट के उपयोग के क्षेत्र–

1. ई–मेल
2. बातचीत, गपशप (चैटिंग)
3. ई–बैंकिंग
4. ई–कॉमर्स
5. ई–प्रशासन

हिन्दी में उपयोग–

इन्टरनेट पर अंग्रेजी का ही वर्चस्व है लेकिन अन्य भाषायें भी पीछे नहीं है। पहले कठिनाई थी, अब नहीं। आज जब जापान, चीन, थाईलैण्ड जैसे देश अपनी भाषा और लिपि में बिना रूकावट के काम कर रहे हैं तो हम क्यों नहीं। अन्य भाषाओं को छोड़कर कम से कम हिन्दी में यह सुविधा उपलब्ध है। भारतीय भाषाओं में यह कठिनाई है कि अलग–अलग समाचार पत्र पत्रिकायें तथा पोर्टल अपने फाण्ट इस्तेमाल करते हैं इसलिए उनमें विविधता होती है। यह ठीक है कि इससे उनकी पहचान बनी रहती है और कलात्मक प्रस्तुति में आसानी रहती है किन्तु जब तक इन्टरनेट के उपभोक्ता उनके फॉण्ट को अपने कम्प्यूटर में डाउनलोड नहीं कर लेते तब तक उनका उपयोग नहीं कर सकते। सम्बन्धित वेबसाइट से इन फॉण्ट्स को ले सकते हैं।

इस दिशा में सी–डैक, पुणे ने लीफ ऑफिस आईएसएम ने इस्फॉक इंडिया फेज जैसे बहुभाषी फॉण्ट्स के सॉफ्टवेयर कार्यक्रम उपलब्ध कराये हैं। इससे हमारी बहुत समस्या हल हो चुकी है। कई विदेशी कम्पनियाँ भी इस प्रयास में जुटी हैं जैसे अमेरिकन कम्पनी ट्रांसपेरेन्ट सौम्वेज की ओर से तैयार किया गया। विश्व की सौ भाषाओं का सॉफ्टवेयर 'यूनिटाइप ग्लोबल राइटर 98' जिसमें हिन्दी ही नहीं संस्कृत, उर्दू, पंजाबी, मराठी, बंगाली, तमिल, तेलुगु के फॉण्ट एक ही की–बोर्ड पर उपलब्ध हैं।

इन्टरनेट पर भारतीय भाषाओं के आगमन का पहल अवसर हिन्दी पोर्टल 'वेब दुनिया' को मिला। वेब दुनिया के संस्थापक एवं मुख्य कार्यकारी अधिकारी श्री विनय छजलानी है। इन्टरनेट पर हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं के समन्वय विषयक उनकी परिकल्पना का परिणाम है वेबदुनिया। विश्व की पहली वेबसाइट 'नई दुनिया कॉम', पहली बहुभाषी ई–मेल सवो 'ई–पत्र' और पहला हिन्दी पोर्टल 'वेब दुनिया.कॉम' इन्टरनेट पर लाया गया, तब उम्मीद नहीं थी कि इसका इतना स्वागत होगा।

'ई–मेल' की विशेषताएँ–

1. बहुभाषी ई–मेल सेवा।
2. किसी भी भाषा के टंकण का ज्ञान अनिवार्य नहीं।
3. साधारण रोमन अंग्रेजी की–बोर्ड से ही कोई भी व्यक्ति ई–मेल टाइप करके प्रेषित कर सकता है।
4. ध्वन्यात्मक लिप्यंतरण की अनूठी पद्धति का प्रयोग।
5. किसी भी भाषा के फॉण्ट डाउनलोड करने की आवश्यकता नहीं।

हमारे देश में इन्टरनेट का प्रचलन बढ़ने के साथ आधी आबादी ऐसी होगी जो इसका इस्तेमाल अपनी मातृभाषा में करेगी, न कि अंग्रेजी में। दुनिया में अंग्रेजी न बोलने वाले देशों का उदाहरण इस बात का संकेत है। यदि आप यह समझते हैं कि इन्टरनेट की भाषा केवल अंग्रेजी है, तो शायद आप पूरी तरह सही नहीं हैं। इन्टरनेट प्रयोग करने वाली विश्व की 45 प्रतिशत आबादी के लिए नेट पर अंग्रेजी दूसरी भाषा है।

हम आज 'सूचना क्रान्ति' के युग में रह रहे हैं लेकिन कोई भी क्रांति समाज निरपेक्ष नहीं हुआ करती, समाज सापेक्ष ही होती है वह समाज में सकारात्मक परिवर्तन की वाहक होती है। इतिहास में देखें तो 15वीं शताब्दी में यूरोप में घटित रेनॉसा एक क्रान्ति थी जिसने चर्चवाद और सामंतीय अत्याचारों के विरूद्ध यूरोप के लोगों को एकजुट किया था। उसने अपने अधिकारों तथा कर्तव्यों के प्रति चेतना जागृत की थी।

प्रसिद्ध समाजशास्त्री श्यामाचरण दुबे–

''सूचना के इस बौद्धिक तंत्र ने भारत जैसे उपमहाद्वीप में संक्रमण एवं विस्फोट की स्थिति पैदा कर दी है तथा जनसंचार के साधन आकाश से अपसंस्कृति की वर्षा कर रहे हैं जिससे एक आत्मकेन्द्रित और योगवादी जीवन दृष्टि विकसित हो रही है। इसके कारण सामाजिक लक्ष्य और विकास के राष्ट्रीय संकल्प डगमगाने लगे। हैं सच तो यह है कि हम आज की इस स्थिति का सही आकलन नहीं कर पा रहे हैं और न हमारे पास भविष्य के लिए कोई विश्वसनीय दिशा संकेत है।''

आज का युग हिन्दी जगत के लिए संदेश विस्फोट का युग है। अनेक धाराओं से अनेक प्रकार के संदेश की बौछार समसामयिक मानव पर हो रही है। उनकी व्यक्तिगत विचार प्रक्रिया पर इसका जो प्रभाव पड़ रहा है, यह प्रश्न विचारणीय है। आज मानव बाह्य निर्देशित होता जा रहा है। वह अपनी विचार क्षमता पर कम भरोसा करता है उनके विचारों पर अधिक जनसंचार साधनों से मिला है। दूसरे शब्दों में संदेश विचार और चिंतन का स्थान ले रहे हैं।

सच तो यह है कि वर्तमान में सूचना प्रौद्योगिकी विकास करते करते संचार माध्यम के रूप में एक चुनौती बनकर आ खड़ी हुई है। सूचना प्रौद्योगिकी के प्रतिनिधि जनसंचार माध्यमों विशेष रूप से टेलीविजन और इन्टरनेट का सारा कारोबार अर्थकेन्द्रित हो गया है। वहाँ पैसा है सब कुछ है। इस स्थिति ने हमें दो स्तरों पर बहुत बुरी तरह प्रभावित किया है– एक तो व्यक्ति के स्तर पर हमारी बौद्धिक क्षमता मनोविज्ञान चिन्तन आदि के रूप में दूसरे सामाजिक स्तर पर सांस्कृतिक अवमूल्यन, नैतिक मूल्यों के ह्रास, भ्रष्टाचार और व्यभिचार के बढ़ावे के रूप में। व्यक्तिगत जीवन में भोगवादी दृष्टि आती चली जा रही है। इन सबका प्रभाव हिन्दी पर सापेक्ष रूप में पड़ रहा है। इससे व्यक्ति के जीवन में अकेलापन, कुंठा, निराशा आदि बढ़ रही है। परिणामस्वरूप मादक द्रव्यों के सेवन के प्रति आकर्षण बढ़ रहा है। आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होने की लालसा में व्यक्ति नैतिकता से विमुख हो रहा है। सारे मूल्य चरमरा गये हैं। समस्त स्तर पर इसके नकारात्मक प्रभाव पड़ रहे हैं। पारिवारिक विघटन, पीढ़ियों में

संवादहीनता और स्त्री शक्ति की अभिव्यक्ति ने सामाजिक संरचना के सन्तुलन को गड़बड़ा दिया है। मर्यादायें टूट रही हैं। सर्वत्र अपसंस्कृति के फैलाव ने हमें चिन्ताजनक स्थिति में ला खड़ा किया है।

पहले जनसंचार माध्यम इतने विकसित नहीं थे, छापाखाना, समाचार पत्र–पत्रिकाओं, रेडियो और टेलीविजन का फैलाव कम था। तब हिंसा के समाचार पढ़कर चौंक उठते थे। लेकिन आज! हम ऐसे समाचारों के आदि हो गये हैं।

कहने का अर्थ यह है कि सूचना प्रौद्योगिकी के कारण हम ऐसी सूचनाओं के आदि हो गये हैं तथा हिन्दी में भी ऐसा ही साहित्य रचा पाते हैं जो आज के भूमण्डलीकरण के दौर में पूरे विश्व को प्रभावित कर रहा है। उसने सभी की मानसिकता को अपने कब्जे में कस लिया है।

सन्दर्भ सूची :

1. संक्रमण की पीड़ा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 18
2. समय और संस्कृति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 110

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

'Effects of Cooperative Teaching &Learning Techniques onLanguage Achievements in Small Groups'

Dr. Shashi Bala Trivedi
(Associate Professor)
Teacher Education Department
Shri Varshney College, Aligarh (U.P.)

1. INTRODUCTION:

Replacing the traditional classroom learning and settling up a cooperative learning system is not an easy task. One may have to face so much opposition and resistance from the fellow teachers, students, authorities and parents in doing as such. However, it may much rely on the instructor who is persuaded about the productive results of cooperative learning in doing as such, he may attempt various common cooperative or helpful learning setups. According to Johnson and Johnson (2002),in the late 17th century, Lancaster and Bell utilized cooperative learning groups widely in England and afterward in New York City in 1806. In the last three decades of the 19th century, Parker made it applicable. Following Parker and Deweyused cooperative learning groups as part of his famous 'Project Method' in instruction. In 1980, schools once again began to use cooperative learning (Johnson and Johnson, 2002). Today cooperative learning is connected in all school & college 'content fields' and their 'settings' everywhere throughout the world, and is claimed to be an effective teaching method in remote or English/second language training by researchers (Zarei and Keshavarz, 1912). Cooperative learning is one of the most important strategy of teaching, which seeks to promote cooperation and interaction between students and remove the negative trend of competition among them (Slavin,1994).

2. COOPERATIVE LEARNING TECHNIQUES:

The cooperative learning may be proved fruitful to promote the standard of classroom learning. Several techniques have been used in practical situations.The major cooperative learning techniques under Peer-Tutoring Methods are Team-Game-Tournament or 'TGT' (Devries and Slavin,1978b), Student Team Achievement Divisions or 'STAD' (Slavin,1978b), Jigsaw-Jigsaw class-room (Aronson,1978).While Small Group Teaching (Sharan and Sharan, 1976) and Cooperative Learning in Small Groups (Johnson and Johnson, 1975) may be classified as examples of group investigation or 'GI' approach. At present, there are numerous cooperative learning methods and structures accessible.

Slavin (1995), summarized the most extensively researched and widely used cooperativelearning methods and techniques. These methods and techniques can be categorized into the following models:

(a) Student-Team Learning:

- Teams-Game Tournament (TGT)
- Student-Teams-Achievement Divisions (STAD)
- Team-Assisted-Individualization (TAI)

- Cooperative Individualization (CI)

(b) Cooperative Learning Methods:

- Student-Team Learning or Learning Together (LT)
- Jigsaw Technique (JT)
- Group Investigation (GI)

The idea which lies beneath all cooperative learning methods and techniques is that students work together to learn and are responsible for one another's learning as well as their own (Slavin,1994). The classified techniques are as follows:

(i) Teams-Game Tournament (TGT):

TGT, originally developed by Edwards and DeVries (1972), is a generic strategy used in any subject area. This technique (Devries and Slavin,1978; Slavin,1986) utilizes a similar teacher introductions and team cooperation as in STAD, but replaces the quizzes with weekly tournaments in which students compete with members of other teams to contribute focuses to their team scores. The winner at every tournament table conveys the similar number of points to his or her team, regardless of which the table it is Thus, low achievers (competing with other low achievers) and high achievers (competing with other high achievers) have equivalent opportunity for progress. As in STAD, superior teams gain rewards.

Classroom learning through cooperative group Team-Game Tournament (TGT) is built around two major components: 4-to-6-member student teams and instructional tournaments. Students are placed in four members' heterogeneous teams. They get a teacher coordinated exercise, help each other, master the material and compete in weekly Tournaments with others of comparative achievement (Slavin,1986). The groups are the agreeable component of TGT. Students is assigned to groups as indicated by a strategy that boosts heterogeneity of ability or capacity levels, gender and race. The essential capacity of the group is to prepare its individuals to do well in the tournament. Following an underlying class presentation by the teacher, the groups are given worksheets covering allotted material like that to be incorporated into the tournament.

Team-mates study together and quiz each other to be sure that all team members are prepared. After the group's practice session, group members must demonstrate their learning in the tournament or in other words once every week. For the tournament, students are assigned to 4 (four) persons '**tournament tables**. The assignment is done so that, competition at each table will be fair. The highest four students in past performance are assigned to Table -1, the next three to table-2 and so on. At the tables, the students compete at simple academic games covering content that has been presented in class by the teacher and on worksheets. Students at the tournament tables are competing as representatives of their teams and scope each student earns at his/her tournament table is added in to overall team score. Since students are assigned to capacity and ability homogeneous tournament tables, every student has an equivalent possibility of contributing a maximum score to his/her group, as the first-place score at every table bring the same number of points to his/her team. Following the tournament or competition the educator prepares a pamphlet which perceives successful groups and in front of the first-place scorers. While team assignment always remains the same, tournament table assignments are changed for every tournament according to a system that maintains equality of past performance at each table. Slavin,(1991) noticed that TGT is most appropriate to essential skill or expertise guidance and instruction.

(ii) Student-Teams-Achievement Divisions (STAD):

STAD, one of the most straightforward approach to cooperative learning was developed by **Slavin** and his colleagues at Johns Hopkins University (Slavin,1978). It consists of five major components (Slavin,1986); class presentation, teams, quizzes, individual improvement scores and team recognition. In STAD, uses the same 4 to 5 members heterogeneous teams (mixed in performance level, gender and ethnicity) in used TGT but replaces the games and tournaments with fifteen minutes quizzes, which students take after studying in their teams. The quiz scores are converted into group scores utilizing a framework called 'Achievement Divisions'. The quiz scores of highest six students in past performance are compared, and top scorer in this group (The achievement division) earns eight points for his or her team. The second scorer acquires six points etcetera. At that point the quiz scores of the following highest six students in past performance are analyzed and so on. In this way, student's scores are compared only with those of ability - homogeneous reference group instead of entire class. A bumping procedure changes division assignments from week to week to maintain equality. Students know just their own division assignments; they don't interface in any capacity with alternate members from their group. The achievement group highlights keep up the balance of chance for contributions to the group score as in TGT.

(iii) Team-Assisted-Individualization (TAI):

Team-Assisted-Individualizationof cooperative learning, (developed by Slavin,1985), It is an adaptation of Individualized Mathematics Instruction that introduces Cooperative Learning Methods and team competition with group reward. InTeam-Assisted-Individualization **(**TAI) students work cooperatively in pairs or triads within their teams by motoring, quizzing and otherwise helping one another to master individually assigned content. At the end of the week, the students take individualized criterion referenced tests, and their scores are used both for individual accountability purposes and for assigning team points for competitions.

(iv) Cooperative Individualization (CI):

This method was developed by Cohen,(1998). This is a set of Cooperative Learning Approaches on Spanish bilingual students. It provides students with a series of activity cards on English and Spanish, which direct them to do experiments, take measurements, solve problems and so on. students work in small heterogeneous groups to do experiments and answer questions intended to evoke high level of thinking and build language fluency in first Spanish then English. 'CI' adds to a group structure in which students take on specified roles and learn group process skills. It emphasizes positive expectations for all students.

(v) Learning Together (LT):

Learning Together Model of cooperative learning, (developed by Johnson and Johnson,1987), involves students working in four- or five-member heterogeneous groups on assignments. The teams complete a single allotted task and receive prizes and praise dependent on the team outcome as this technique emphasizes group building exercises before students begin working together and regular discussions within groups about how well they are cooperating.

Heterogeneous groups of two to six students with maximum variation in levels of achievement are recommended. In addition, the Johnsons have suggested unmotivated students be placed in groups with on-task students. In some cases, students are permitted to work together to complete a single worksheet or product for a group grade (Johnson, Johnson and Holubec,1990). Positive interdependence;

- ❖ Face to face interaction among group members
- ❖ Individual accountability for mastering assigned material and
- ❖ Instruction of students in appropriate interpersonal and small group skills

(vi) Jigsaw Technique (JT):

In Jigsaw Technique students are assigned to small heterogeneous teams as in TGT and STAD. Learning material is broken into the same number of segments as there are group members. The students consider their Learning material with individuals from different groups who have similar Learning material. At that point they come back to their groups and teach their Learning material to the next group members. Finally, all team members are quizzes on the entire unit. The quiz scores add to singular grades not to a group score as in TGT and STAD. In this sense the Jigsaw Technique may be seen high in task interdependence but low in reward interdependence, as individual performances do not contribute directly to a group goal.

Slavin (1978,1985) constructed a modification of Jigsaw called Jigsaw II. In Jigsaw II all students read a similar material yet centre around separate topics. The students from different teams who have the same topics meet to discuss their topics and then return to teach them to their team-mates. The team members then take a quiz and the quiz scores are used to form team scores as in STAD. In this manner Jigsaw II includes less assignment reliance and more reward relationship than Jigsaw I.

(vii) Group Investigation (GI):

Classroom learning through cooperative group inquiry or group investigation and discussion emphasizes data gathering by pupils interpretations of information through group discussion and synthesis of individual contributions into a group product. The more sophisticated stages of cooperative investigation also include cooperative planning by pupils of study topics and learning procedures, pursuit of group projects involving problem solving and class wide integration of group efforts to achieve a broad perspective on the topic under study (Barnes, 1977; Johnson and Johnson, 1975; Joyce and Weil, 1972; Sharan and Sharan, 1976; Thelen, 1960; Sharan and Lazorouitz in press). The group investigation (GI) Model can be conveyed as progressing through a sequence of six steps as follows: Sharan (1984) and Lazarowitz in press):

- ❖ Selection by students of specific sub-topics within a general problem area usually delineated by the teacher. Students are then organized into small (2-6) members task-oriented groups. Group composition is academically heterogeneous.
- ❖ Cooperative planning by the students and teacher of specific learning procedures, tasks and goals consistent with subtopics of problem selected in step -I.
- ❖ Pupils carry out their plan formulated in step - II. Learning should involve a wide variety of skills activities and should lead students to different kind of sources both inside and outside the school. Teacher nearly pursues the advancement of each small group and offers help when required.
- ❖ Pupils analyse and evaluate the information obtained during step-III and plan how it can be summarized in some interesting fashion for possible display or presentation to classmates.
- ❖ Some or all of the groups in the class give an interesting presentation of the topic studied in order to get classmates involved in each other's work and to achieve a broad perspective on the topic, Group presentation are coordinated by the teacher.
- ❖ Evaluation by pupils and teachers of each groups contribution to the work of the class as a whole, in cases where groups pursued different aspects of the same topic. Evaluation can be included either individual or group assessment or both.

3. COOPERATIVE TEACHING &LEARNING IN SMALL GROUPS:

Small group teaching is a general classroom organizational plan in which learning takes place through cooperative group inquiry, discussion and data- gathering by students. Students select sub- topic within a general area selected by the teacher and then organize themselves into small groups of two to six members. These groups further subdivide their topic into individual tasks to be performed by group members in preparation for the group presentation to the total class. This group presentation is then evaluated by the other students and by the teacher. Thus, small group teaching is very high in student's autonomy a involves a high degree of task interdependence because of the assignment of students to special task within the group, but it is relatively low in group reward interdependence (group rewards are not well defined) and individual accountability.

While cooperative learning as an instructional procedure is a possibility for teachers, it is at present the minimum every now and again utilized (Johnson and Johnson,1991). Good lad,(1984) revealed that most classroom time is spent in teacher talk, with just one percent of the students' classroom time utilized for thinking about or communicating an opinion. Although The research findings application proves the advantages of cooperative self-1earning, almost all English language teachers in India still find difficulty incorporating this system of instructional method in their classrooms.

4. STEPS OF COOPERATIVE LEARNING ACTIVITIES:

Fruitfu1 execution of cooperative 1earning activities; As Foy1e & Lyman,(1998) distinguished the fo1lowing steps:

(i) The lesson to be taught is identified & the teacher determines criteria for mastery.

(ii) The most behavioral cooperative technique is identified & the teacher determines the team size.

(iii) learners are assigned for a group.

(iv) For facilitate group interaction, the classroom has been organized in systematic manner.

(v) Team processes are reviewed to assure that the Teams run smoothly.

(vi) A time line for exercises is clarified by the teacher to the students for team learning and ensures students comprehend the purpose of the learning that will take place.

(vii) For proper utilizing of cooperative strategies, the teacher demonstrates pre stage teaching material chosen by him/her.

(viii) The teacher reviews group abilities and encourages problem solving activities when necessary.

(ix) Students should separately show dominance of important abilities & ideas of the learning. Student outcomes are Evaluated on the basis of learners' performance observation or oral responses to questions.

(x) Verbal praise by the teacher, newsletter & bulletin board can be used to reward high achieving teams.

5. ADVANTAGES FOR LANGUAGE STUDENTS:

The classroom is a miniature form of large society. It has social order, emotional relations, classroom culture and consciousness towards development of a person according to its standard and expectations already established. In learning situations individuals may serve as positive or negative intellectual models for one another. In such situations an individual's relative and perceived relative intellectual functioning in the group, rather than any intellectual 'power' may be prime determiner of that individual's performance. In India, especially at the senior secondary school level, the time allocated to study English is limited to only six periods per week which may not be enough to

comprehend the rudiments of learning English language. In most cases, it appears that, teacher seems to teach academic content, without teaching strategies to learn them and students, who do not have sufficient working knowledge, usually encounter challenges in tackling English Language Problems. Accordingly, students appear to have little knowledge of how they can best examination and take in the subject. Some of the students have issue in acing the substance that teachers educate. Thusly, they don't learn effectively, which may influence their learning outcome. This also led to under achievement in English language in public examinations (Kola Wole and Dele,2002). The significance of English language securing for capability in all school subjects cannot be overemphasized on the grounds that the guidelines are not composed in English language in Indian schools. The importance of this subject may have led the U.P. government to make it a compulsory subject in primary education & secondary schoo1s as well as a prerequisite for admission in to tertiary institution. Student read, write, and express themselves in the any given tasks through the use of English language. English language involves four skills; 1istening, speaking, reading & writing.

In India, English language is one of the most common subjects educated at all levels. However, students appear to bashful far from the subject for some reasons, some of which could be fear, teachers' state of mind towards the educating of English and students' negative attitude from the supposition that English language is for the most part a troublesome subject to consider.The negative attitude could be reduced if students work cooperatively & 1earn from one another.Cooperative learning is one of the teaching & learning strategies that promote student-student interaction via working in small group to maximize their learning & improve performance in any teaching subjects. Working in small groups, in this way, is accepted to enable students to build up their aptitudes and abilities in English language which thus advance correspondence and exchange the nation since individuals may think that it's simple to convey and work together.

Ordinarily, most classes on the planet dependably comprise of great students and weak students.The weaker students sit in seclusion as they lose trust and confidence in their ability to learn English while the great learners cooperate with their team companions.It appears majority of the pupils who are weak/shy hardly speak in a large class and they are more comfortable speaking out in smaller group.The coming together to address a problem in English language help in complementing each other's strengths and weaknesses in English language. This is on the grounds that every student has an alternate foundation, ability and capacity in English language, which he/ she can convey to the group,for**example**, one student might have a strong vocabulary that can supply students with a solid background in grammar.Furthermore, poor students will benefit from interaction with better ones and good students will feel proud that they play an important role in helpline their weaker classmates.Cooperative learning appeared to draw in a considerable measure of consideration and wound-up mainstream.

6. CONCLUSION:

Cooperative learning is an instructional program in which student work in small groups to help one another master academic content (Slavin,1995). It also involves students working together in pairs or groups & they share information together in order to achieve learning goals successfully (Brown, 1994). According to Johnson (2005), cooperative learning is a teaching strategy in which small teams, each with students of different levels of ability, use a variety of learning activity to improve their understanding of a subject. Every individual from a group is responsible for realizing what is being educated as well as for helping partners learn, consequently making an environment of accomplishment.

Learners work through the task until all group members effectively comprehend & finish it. Cooperative learning approach decreases competitiveness & individualism but increases opportunity to actively construct or transform the knowledge among learners. Furthermore, considerable research demonstrates that cooperative learning produces higher achievement & more positive relationship among learners.

There is a huge gap in research on the best way to use convergent & divergent thinking strategies emphatically in cooperative learning setting to upgrade speaking, reading, writing & comprehension abilities to enhance execution in English language among secondary school students.It is therefore necessary to use cooperative learning strategies as intervention programs to address the issues of improving performance in English language.

REFERENCES:

1) **Abrami,P.C.,&Chambers,B.,**:"Research on cooperative learning and achievement; Comments on Slavin". Contemporary Educational Psychology, **[Vol.21**].1.p.70-79, **1996,**[online 19 April **2002**]
2) **Adeyemi, B.A.**:"Effects of cooperative learning and problem solving strategies on junior secondary school students' achievement in social studies". Electronic Journal of Research in Educational Psychology, [**vol.6**], 3, p.691-708**, [2008].**
3) **Lalit, &Pusplata**:" A study of Convergent Thinking and Divergent Thinking among Secondary School Students in relation o Ethnicity, Locale, Types of Institutions and Sex", Journal of Indian Education, Department of teacher Education, NCERT, New Delhi, [**vol.31**],No. 4,p.111-124, **[2016].**
4) **Millis, B.J.:"**Using cooperative structures to promote deep learning", Journal on Excellence in College Teaching, [**vol.25],** (3&4), p.139-148**, [2014].**
5) **Ranjani,B.I.:"**Relation Between Cooperative Learning and Student Achievement", International Journal of Education and information Studies, **[vol.3],** 1,.21-25**,[2013].**
6) **Stevens, R.J.,Slavin, R.E.,&Farnish, A.M**.:"The effects of cooperative learning and direct instruction in reading comprehension strategies on main idea identification" Journal of Educational Psychology , [**vol. 83**], (1), p.8-16**,[1991].**
7) **Durukan,E.:"** Effects of cooperative integrated reading and composition [CIRC] technique on reading writing skills", Educational Research and Reviews, Academic Journals [**vol.6**],1,p.102-109, **[2011].**
8) **Johnson, R.T., Johnson, D.W., &Tauer, M.**:" The effects of cooperative, competitive, and individualistic goal structures on students' attitudes and achievement", The Journal of Psychology, [**vol.102],**2, p.191-198**,[1979].**
9) **Adeyemi, B.A.:"**Effects of cooperative learning and problem solving strategies on junior secondary school students' achievement in social studies", Electronic Journal of Research in Educational Psychology,[**vol.6],**30,P.691-708**,[2008].**
10) **Slavin, R.E.,&Oickle, E.:"**Effects of cooperative learning teams on student achievement and race relations; Treatment by race interactions", Sociology of education, [**vol.54**](3)),p.174-180**,[1981]**.
11) **Slavin,R.E.:"**Cooperative learning in schools. In J.Williams (Ed.)", International encyclopedia of the social and behavioral sciences [**2nd Ed**.],p.881-886,**[2015]**.

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

रामदरश मिश्र की उपन्यासों की प्रासंगिकता

डॉ0 देवेन्द्र प्रताप सिंह
एसोसिएट प्रोफेसर, विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
कूबा पी0जी0 कॉलेज, दरियापुर, नेवादा, आजमगढ़

रामदरश मिश्र, एक ऐसा कथाकार जो अपने उपन्यासों के माध्यम से साधारण से साधारण पाठक तक को ग्रामीण जीवन के रहन–सहन, खान–पान, तीज–त्यौहार से परिचय कराता चलता है और बोध के स्तर पर पाठक उनसे ऐसे जुड़ता है जैसे मिश्र जी के साथ वह भी उपन्यास का यह रचनाकार हो। साथ ही साथ मिश्र जी ने वर्तमान ग्रामीण जिन्दगी की उन भीतरी पर्तों को भी खोला है जिनमें से उसकी टुच्ची राजनीति, अन्धी स्वार्थपरता, घिनौना अवसरवादिता, धन और प्रतिके लिए एक–दूसरे का गला काटकर आगे बढ़ जाने की प्रतिद्वन्द्विता भी है।

मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण और दमन पर आयोरित वर्तमान व्यवस्था के अमानवीय रूप की, उसके दुश्चक्र में फँसे आदमी की करुण विवशता और असन्तोष को, उसको लेकर निहित स्वार्थों और परिवर्तन कामी शक्तियों के बीच चलने वाले संघर्ष को, आज की ठोस सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सच्चाइयों के बीच रखकर परिभाषित करने वाले रामदरश मिश्र के उपन्यास साक्षात्कार के एक निजी और आत्मीय संसार की पहचान कराते हैं। समकालीन कथा साहित्य में रामदरश मिश्र ने मूलतः एक आंचलिक उपन्यासकार के रूप में अपनी पहचान बनाई है। 'आकाश की छत' में शहर और गाँव के जीवन अनुभव की दूरियाँ समाप्त हो गयी हैं। लेकिन मिश्र जी अपनी यात्रा जीवन के किसी भी बिन्दु से क्यों न शुरू करें वह चाहे व्यक्ति मन की नितान्त निजी सम्बन्धों की अंतरंग दुनिया हो या मनुष्यता के न्याय के लिए चलने वाला समष्टिगत संघर्ष हो– उनके पैर हमेशा अपने अनुभव की जमीन पर ही रहते हैं और उनके अनुभव की जमीन है गाँव का वह जीवन जिससे रस कण खींचकर उनका रचनाकार अपनी कथाकृतियों की अन्तर्वस्तु का निर्माण करता है, अपनी अभिव्यक्ति के आवश्यक उपकरण जुटाता है।

'पानी के प्राचीर', 'जल टूटता हुआ' और 'सूखता हुआ तालाब' में तो मुख्यतः गाँव के यथार्थ का चित्रण हुआ ही है, लेकिन उनके जिन उपन्यासों का सीधा संबंध शहरी जीवन से है उनके मुख्य पात्र भी अनुभव और सोच के धरातल पर हलके या गहरे रूप में गाँव से जुड़े होते हैं। उनके या तो गाँव की धरती से कट जाने की पीड़ा है या फिर गाँव की जड़ता और रूढ़िवादिता से मुक्त होने की छटपटाहट। ये शहर में रहकर भी शहर से नहीं जुड़ पाते। उनकी आन्तरिक जरूरत के रूप में गाँव उनकी स्मृतियों में बा–बार उभरता रहता है। यह नहीं कि गाँव की ये स्मृतियाँ मधुर और आह्लादक ही हों, उनमें भावना की अन्तरंगता और मार्मिक सम्बन्धों की उष्मा ही हों, वे वहाँ की जिन्दगी की अत्यधिक क्रूर और अमानवीय स्थितियों की पीड़ा–जनक यादें भी हो सकती हैं। लेकिन हर हालत में गाँव के जीवन की मिठास या कटुता उनके अनुभव का अंग बनी रहती है। वह उनके विचार और कर्म को, स्वप्न और संघर्ष को दूर तक प्रभावित करती हैं। मिश्र जी की रचनाशीलता और उनके विवेक की जड़ें उनके इसी अनुभव की जमीन में हैं।

रामदरश मिश्र (ज0 1924) का पहला उपन्यास पानी के प्राचीर 1961 ई0 में प्रकाशित हुआ। मैला आँचल के प्रकाशन के बाद उपन्यासकारों में आँचलिकता के प्रति बढ़ते आकर्षण की झलक पानी के प्राचीर में स्पष्ट लक्षित होती है। इस उपन्यास में रामदरश मिश्र ने उत्तर प्रदेश के पूर्वांचल क्षेत्र में राप्ती, गर्रा आदि नदियों और बरसाती नालों से घिरे पांडेपुरवा नामक गाँव की अभावों से जूझती, निर्धनता, पिछड़ेपन, आपसी कलह और जमींदार के शोषण की शिकार गाँव की जिन्दगी का यथार्थ

अंकन किया गया है। इसके साथ ही इस क्षेत्र की सांस्कृतिक गतिविधियों, जैसे– होली, विवाह, मृत्यु, महामारी आदि प्रसंगों के समय अनायास या अतिरिक्त उत्साह में फूट पड़ने वाले गीतों का भरपूर उपयोग उपन्यास में किया गया है।

'अपने लोग' (1976) उपन्यास की केन्द्रीय संवेदना गाँव की उस टूटी–बिखरी जिंदगी की पीड़ा से उद्‌भूत है, जिसके साथ लेखक की गहरी रचनात्मक सम्पृक्ति तो है ही, साथ ही उस जिंदगी के यथार्थ की पहचान वाली वह निर्मम तटस्थता भी है जो गहरे आत्मालोचन एवं विचार तथा संवेदन की गहरी संसक्ति से जन्म लेती है। 'अपने लोग' के कथानायक प्रमोद की अंतःचेतना में गाँव के विविध स्तरीय जीवन की छवि अपनी समग्र ताजगी और जीवन्तता के साथ अंकित है। ''उसने इस गाँव को इतनी गहराई से और इतने अधिक रूपों में जिया है कि इतने दिन तक शहर में रहने के बाद भी वह गाँव उसके भीतर बड़ी तड़प के साथ जिन्दा है। या हो सकता है कि बाहर रहने की वजह से ही जिन्दा है। पहर भर रात रहते ही हलचल शुरू हो जाती है– कुएँ पर पानी भरे जाने की आहट नाद में मुँह डालकर बैलों के सानी–पानी सुकड़ने की आवाजें हलवाहों के आने–जाने की आवाजें, फिर बैलों की घंटियों की आवाजें, खेतों में हलों की धड़कनें, बीया और हेंगा के लिये पुकार लगाती आवाजें और एक घण्टा दिन चढ़ने के साथ किसी खेत के जुत बो जाने की सूचना देने वाली हर हर महादेव की आवाजें। मिट्टी की तरह–तरह की गंध उसके भीतर की पर्तों में बसी है।''[1]

रामदरश मिश्र जी का अनुभव संसार अधिकतर पूर्वी उत्तर प्रदेश के गाँवों और गोरखपुर जैसे कस्बानुमा शहरों से जुड़ा हुआ है। यह क्षेत्र राप्ती और घाघरा नदियों की बाढ़ से प्रायः ग्रस्त रहता है, जिसकी छाप मिश्र जी की संवेदना पर भी दिखाई देता है। उनके कई उपन्यासों में पानी प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुआ है। 'जल टूटता हुआ' कथ्य की दृष्टि से 'पानी के प्राचीर' का ही विस्तार है। इन उपन्यासों में घाघरा–राप्ती का वह अभावग्रस्त और अभिशप्त ग्रामीण क्षेत्र है जो स्वतन्त्रता–प्राप्ति के बाद सुखी जीवन के सपने देख रहा था। जनता सोचती थी कि आजादी मिलने पर महीप सिंह जैसे जालिम जमींदारों और देशद्रोहियों को फाँसी की सजा मिलेगी, पर हुआ इसके विपरीत।

'जल टूटता हुआ' के सुग्गन मास्टर कहते हैं, ''इतने साल हो गये आजादी मिले हुए। यह अभागी जिन्दगी टस से मस न हुई।''[2] आजादी ने प्राइमरी स्कूल के हेडमास्टर सुग्गन तिवारी को कभी दो कुरते और तीन धोतियाँ नहीं दीं। समय पर वेतन नहीं मिलता, खेत में कुछ पैदा नहीं होता, बनिया तक उधार सामान नहीं देना चाहता और ''देश के नौनिहालों की आत्मा का यह शिल्पी'' मन में सपने और पेट में कुलकुलाती आँतें लिए स्वाधीनता दिवस का समारोह मनाने स्कूल जाता है।

भ्रम यह है कि आखिर लेखक क्यों उलझता है गाँव की जिंदगी से? क्यों इस प्रकार की तड़प और बेचैनी का अनुभव करता है वह उसके लिये? शहर की आवाजों के बीच घिरकर भी उसकी स्मृतियों में गाँव की आवाजें क्यों गूँज–गूँज उठती हैं? क्यों ऐसा होता है कि शहर में रहकर भी गाँव की ओर जाने वाली पगदंडी को देखकर वह भावुक हो उठता है? क्यों गाँव के फटे हाल लोगों को शहर की सड़कों पर पसीने से लथपथ दौड़ते देखकर उसके हृदय की धड़कनें तीव्र हो जाती हैं? गाँव के जीवन के प्रति रचनाकार के इस असाधारण आकर्षण को आलोचकों ने आशंका की दृष्टि से देखा है। आशंका को शब्द देते हुए डॉ0 चन्द्रकांत बान्दिवडेकर लिखते हैं– ''नगर जीवन की मानसिकता से ऊबे हुए लेखकों ने अपने बचपन के जीवन में, ग्राम्य जीवन की जो हरियाली भोगी थी उसका वास्तविक वर्णन आँचलिक साहित्य के नाम पर करना आरम्भ किया।''[3] प्रखर मार्क्सवादी समीक्षक डॉ0 शिवकुमार की भी आँचलिक कह जाने वाले उपन्यासों से शिकायत है कि इनके रचनाकारों के लिए प्रायः मानवीय यथार्थ की तुलना में परिवेश से जुड़ी हकीकतें अधिक महत्वपूर्ण बन जाती हैं।[4] अतः प्रश्न यह है कि गाँव की जिन्दगी के प्रति रामदरश मिश्र की यह ललक और यह आकर्षण, क्या उनकी वैचारिक या संवेदनात्मक पिछड़ की यह ललक और यह आकर्षण, क्या उनकी वैचारिक या संवेदनात्मक पिछड़ की ओर संकेत करते हैं? या वे उनकी किसी गहरी रचनात्मक आवश्यकता को पूरा करने वाले उनके सोच और संवेदन को गति और दिशा प्रदान करने वाले जरूरी उपकरण हैं।

कहना न होगा कि रामदरश मिश्र के रचनात्मक अनुभव के लिये गाँव की जिन्दगी कोई सुविधा का विषय न होकर एक चुनौती है। उसमें जीवन और रचना दोनों ही स्तरों पर संघर्ष की स्वीकृति है। हर हालत में यह उस मनुष्य की पक्षधरता है जो हड्डियाँ जला देने वाला कठोर परिश्रम करके भी उतना नहीं पाता जितने से अपना और अपने परिवार का पेट भर सके–

''नीरू ने आज सुबह ही सुबह माँ के हाथों पर हफ्ते भर की तनख्वाह रख दी थी इसलिये खाने का इन्तजाम हो गया था। नीरू ने खाना खाते समय कपड़ा निकाला तो माँ स्तब्ध रह गयी। हड्डियाँ निकल आयीं थीं, नसें उभर गईं थीं। माँ ने एक बार हफ्ते भर की तनख्वाह का हिसाब लगाया, फिर नीरू की हड्डियों को गिना, कुछ कह नहीं पा रही थी।

'नीरू तुम्हें कितनी तनख्वाह मिलती है? माँ का स्वर था।'

'आठ आने रोज माँ।'

'तीन रुपये तो तुमने घर को दे दिये। आठ आने में एक हफ्ता कैसे काम चला होगा।' गीले स्वर में माँ ने पूछा।

''चल जाता है माँ, चल जाता है। तुम काहे को चिंता करती हो। मिल में सामान सस्ते में मिल जाता है।''[5]

माँ ने नंगी वास्तविकता के अधिक अनावृत्त होने के भय से बात अधिक नहीं बढ़ाई।

मिश्रजी का कथाकार अपनी सर्जना में इसी नंगी वास्तविकता से जूझता है बड़े निर्मम भाव से उसे अनावृत करता चलता है। 'जल टूटता हुआ' (1969) का सतीश अनुभव करता है ''गरीबी सबसे बड़ा अपमान है– वह तेज, विद्या, बुद्धि सब छीन लेती है।''[6] और कि ''इस इलाके के बड़े बामन, हरिजन, मध्यवर्ग, निम्नवर्ग, सभी भूख और गरीबी के चक्के में बुरी तरह पिस रहे हैं।''[7]

गरीबी में पिसने वालों की यह व्यथा–कथा ही मिश्रजी की चेतना को बार–बार कुरेदती है। उन्हें बेचैन बनाती है और उन्हें ऊबड़–खाबड़ वीरान इलाकों में ले जाती है जहाँ घायल सामधारी इलाज के अभाव में दम तोड़ देता है, जहाँ सुग्गन मास्टर पग–पग पर समझौता करने के बावजूद सिर पीटकर रह जाते हैं; चिनैया की मजबूती उसे वेश्या बनाकर छोड़ देती है। फुलवा का सर्वस्व चला जाता है और मँगरू को उसके खेत से बेदखल कर दिया जाता है। वस्तुतः मिश्रजी का कथा साहित्य इस सामाजिक अन्याय के विरूद्ध और प्रकृति तथा व्यवस्था की दुहरी मार खाने वाले लोगों के पक्ष में की गयी जरूरी कार्यवाही है। यही वह कसौटी है जिस पर वे आज की राजनीति और दर्शन को,. धर्म और संस्कृति को, अनुभव और विचार को, कला और जीवन मूल्यों को परखते हें। इनमें से जो भी गाँव की इस शोषित मनुष्यता के हित में है, वही मानवीय और मूल्यवान है, और जो इसकी पक्षधरता नहीं करता, उसके आस–पास चकाचौंध कर देने वाला कितना ही तेजस्वी प्रभा मण्डल क्यों न हो, वह मानव विरोधी है– त्याज्य है।

लेकिन इस सम्बन्ध में एक बात जो कभी भुलाई नहीं जानी चाहिए वह यह कि एक रचनाकार की मानवीय पक्षधरता विचार और व्यवहारगत न होकर अनुभवात्मक होती है। यह जरूरी है कि उसकी पक्षधरता आरोपित न हो। रचना में यह पात्र परिस्थिति के संघर्ष और सामंजस्य की तार्किक परिणति के रूप में आए। उसमें आने वाले विचार अनुभव प्रसूत हों, संयोग से ''अपने लोग'' का कथानायक प्रमोद एक रचनाकार के रूप में मनुष्यता का पक्षधर है लेकिन वह अपनी इस पक्षधरता से पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं हो पाता– ''कभी–कभी तड़प होती है रही है कि काश मैं इस मिट्टी में उतर कर इस मिट्टी की गरीबी के विरूद्ध सक्रिय संघर्ष कर पाता। साहित्य के माध्यम से तो यह संघर्ष उभारने की कोशिश करता रहा हूँ, लेकिन साहित्य का संघर्ष काफी नहीं है।''[8] जल टूटता हुआ के अमलेशजी अपनी उच्चकोटि की साहित्यिक सांस्कृतिक अभिरुचि के बावजूद अपने आपको दीनदयाल की धूर्त्तता से नहीं बचा पाते। अमलेशजी यह कहते ही रह जाते हैं– ''हिम्मत हो तो आ जाओ किसी भी मैदान में– साहित्य पर बहस कर लो.....।''[9] लेकिन इससे उनकी स्थिति में कोई फर्क नहीं पड़ता। इसका अर्थ यह नहीं कि रामदरश मिश्र सामाजिक संघर्ष में साहित्य की कोई भूमिका ही स्वीकार नहीं करते। यहाँ

उनका संकेत इस तथ्य की ओर है कि बड़ी से बड़ी क्रांतिकारी कलाकृति भी क्रांति की समानार्थ नहीं हो सकती। उसकी भूमिका बड़ी महत्वपूर्ण होती है। लेकिन उसका प्रभाव सीधा न होकर परोक्ष होता है। इस परोक्षता का सम्बन्ध सीधे–धीरे साहित्य की रूपगत मर्यादा से है। यही वह सीमा रेखा है जहाँ कभी–कभी रचनाकार के अन्वेषण की दिशा और आलोचक के आग्रहों के बीच टकराहट की स्थिति पैदा हो जाती है।

प्रत्येक रचना रूप के कुछ सामान्य लक्षण होते हैं। संवेदनात्मक दृष्टि और तदनुरूप शिल्प संधान की कुछ निश्चित दिशाएँ होती हैं। एक श्रेष्ठ रचनाकार अनुभव और शिल्प की इन मर्यादाओं में बँधकर नहीं रह जाता। एक स्तर पर जहॉ वह इतने जुड़ा होता है, वहीं दूसरे स्तर पर यह इनके अतिक्रमण के द्वारा अपनी विशिष्ट पहचान बनाता है। हम यहाँ रामदरश मिश्र के उपन्यासों के इन रचनात्मक बिन्दुओं को तलाश करेंगे जो उन्हें यथार्थ बोध और मानवीय अर्थवत्ता की पहचान के स्तर पर वैशिष्ट्य प्रदान करते हैं। आँचलिकता के चालू मुहावरे से हटकर एक रचनात्मक के रूप में उनकी अलग से पहचान बनाते हैं।

मिश्र जी के उपन्यासों में आने वाला गाँव सामान्य न होकर विशिष्ट है। वह पूर्वी उत्तर प्रदेश के ऐसे भू–भाग से सम्बन्धित है जो अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण नदियों से घिरा हुआ है। इन नदियों का पानी इस भू–भाग के लिए जीवनदायी तत्व बन सकता था, लेकिन हुआ यह है कि वह बाढ़ बनकर आता है और खेतों में खड़ी फसलों को अपने साथ बहा ले जाता है। वहाँ के लोगों को बेघर समस्या 'जल टूटता हुआ' की है। इन दोनों उपन्यासों की समस्या और उसके समाधान की खोज की दिशा में जो अन्तर दिखाई देता है वह समय के साथ बनते बिगड़ते नए सामाजिक, राजनीतिक, समीकरणों ने उपस्थित किया है। दोनों ही उपन्यासों के केन्द्र में कछार के अभावग्रस्त जीवन की करुण स्थितियों के बीच से उभरकर लेखक की चेतना पर बार–बार एक ही सवाल दस्तक देता है। वह यह कि इस शोषित और वंचित मनुष्यता को इस घोर लज्जाजनक गरीबी से मुक्ति कैसे मिलेगी? कब मिलेगी?

व्यवस्था का नागपाश और अमानवीयकरण की प्रक्रियाः– इस स्तर पर उनका पहला उपन्यास 'पानी के प्राचीर' हमें एकदम आश्वस्त नहीं करता। उसमें शोषित समाज की पीड़ा का मर्म तो है लेकिन ''पांडे पुरवा के लोग उन ताकतों को पहचानने की प्रतीति नहीं कराते जो उनका शोषण करती है। इस पहचान के अभाव में ही लोगों के मन में उन शक्तियों के प्रतिकार की प्रभावशाली भूमिका भी निर्मित नहीं हो पाती।''[10] उपन्यास में संघर्ष तो है लेकिन वह लगभग गँवई लड़ाई के स्तर पर ही चित्रित हुआ है। कथानायक नीरू के पिता सुमेश पांडे के लिए कहा गया है– ''यह मजबूरियों से घिरा होने के नाते वर्तमान को ही देख पाता था। भविष्य के प्रति उसकी दृष्टि हमेशा सजग नहीं रह पाती थी। हर बार वर्तमान की छोटी उपलब्धियाँ भविष्य की बड़ी संभावनाओं का तिरस्कार कर देतीं।''[11] यह कथन जैसे गाँव के सभी लोगों के लिए सही ठहरता है। नेता गनपति को इस बात की जानकारी है कि ''अँगरेज सरकार ने भाई–भाई के बीच फूट डाल रखा है, यह जमींदार आसामी का फर्क बना रखा है.....इस अँगरेज सरकार ने हमारी जिन्दगी पायमाल कर दी है।''[12] लेकिन उनकी यह जानकारी विचार के धरातल पर ही रहती है, वह जीवन व्यापारों के बीच से फूटकर अनुभव के धरातल पर नहीं आ पाती।

लेकिन शायद आलोचकीय दृष्टि की एक मर्यादा यह भी होती है कि वह व्यक्ति या समाज–जीवन की किसी सच्चाई को, उसके किसी अंश को उसी रूप में चित्रित देखना चाहती है जिस रूप में उसने उसकी धारणा बना ली है। यदि रचनाकार का कोई विचार उसकी रचना में अनुभव के स्तर पर व्यक्त न हो सके तो इस असंगति को आसानी से पहचाना जा सकता है। लेकिन उसके रचनात्मक अनुभवों में अन्तर्निहित दृष्टि को, रचनाकार के संवेदनात्मक उद्देश्य को पहचान पाना उतना आसान नहीं हो पाता। 'पानी के प्राचीर' में व्यवस्था के खिलाफ सीधी कार्यवाही के रूप संघर्ष का चित्रण लेखक को अभिप्रेत नहीं है। उसका संवेदनात्मक उद्देश्य कुछ दूसरा ही है– कहना न होगा कि वह अधिक गहरा है और उसकी व्यंजना भी अधिक सांकेतिक रूप में हुई है। उपन्यास का कथानायक नीरू ''सोच रहा है मगर उसके सोचने से क्या होता है? प्रवाह तो अपने रास्ते चला जा रहा है। वह सोचता है– इसे रोकना है।''[13] इस आतंककारी अमानवीय प्रवाह ने नीरू के जीवन को तबाह कर दिया है– ''उसके मन में सत्य और कल्पनाओं की एक भीड़ खड़ी हो गई है। खेत सब मुखिया के पेट में

चले गए। घर के सामान कस्बे के बनिए ने खा डाले। चारों ओर से कर्ज दहाड़ रहा है।''[14] हर स्तर पर अन्याय और शोषण की यातनाओं को झेलने वाला नीरू जमींदार गजेन्द्रसिंह की नौकरी करते हुए अपनी और अपने साथ ही अपने वर्ग क यातनाओं के मूल तक पहुँच जाता है। वह देखता है ''गुलाब के फूलों की लाली हवेली के पीछे मुस्करा रही थी, रंग रही बगीचे के आँचल को.....और..... और हवेली के सामने किसानों की पीठ पर रक्त की चिपचिपाहट धूप में चिलचिला रही थी।''[15] नीरू देखता है कि किसानों की पीठ पर कोड़े बरसाने वाले गजेन्द्र सिंह के सिपाही भी किसानों के ही बेटे हैं। ''वह सोच रहा था ये सिपाही भी कितने जानवर हो गए हैं? घर के गरीब मजदूर किन्तु जैसे जमींदारी प्रथा ने इन पर जादू करके या खुद किसानों पर जो अत्याचार करने हैं वह खुद अपने पर कर रहे हैं।''[16]

आघातजनक बात तो यह है कि इतने गहरे सामाजिक विवेक और यथार्थ की इतनी सही पहचान के बावजूद एक क्षण ऐसा आता है जब जमींदारी की नौकरी करते हुए नीरू भी शोषण के उस यंत्र का पुर्जा बन जाता है। 'पानी के प्राचीर' में जिस भूभाग की व्यथा–कथा मिश्र जी कह रहे हैं, उसमें पहले तो ऐसे लोग है ही नहीं जो अपनी यातनाओं को जन्म देने वाली व्यवस्था के असली चेहरे को पहचानते हों और जो हैं भी– जैसे कि नीरू– उन्हें वह सत्ता और सम्पत्ति के नागपाश में बाँधकर एक ओर डाल देती है। उनके अन्दर की मानवीय संवेदनशीलता के स्रोत को सोख लेती है। यह बात नहीं कि नीरू अपने आपको इस पकड़ से मुक्त न कर लेता हो, लेकिन यह होता है बहुत बड़े आत्मसंघर्ष के बाद। उसके बाद नीरू के प्रयत्नों का एक ही लक्ष्य हो सकता था और वह था व्यवस्था के आमूल बदलाव के लिए संघर्ष की नयी दिशा का संधान। लेकिन शताब्दियों की परतन्त्रता के बाद मिलने वाली आजादी लोगों में नयी चेतना पैदा करती है, नई उमंग जगाती है। ऐसी परिस्थिति में नीरू की दृष्टि से वह प्रश्न कुछ समय के लिए ओझल हो जाता है जिसे लेकर वह अब तक अपने आप से और व्यवस्था से जूझता रहा। देश की आजादी एक विराम है, उस संघर्ष के लिए जिसका चित्रण रचनाकार अपनी अगली कथाकृति 'जल टूटता हुआ' में करता है।

व्यवस्था के आमूल बदलाव के लिए संघर्ष और व्यक्ति मन के अन्तर्निषेधः–बदलाव की कामना एक बात है लेकिन भीतरी तथा बाहरी अवरोधों से जूझते हुए आगे के पथ का संधान करना दूसरी बात है। मिश्र जी उन लोगों में से नहीं हैं जो समस्या का सरलीकरण करके अपने अन्तर्द्वन्द्व और बाह्य संघर्ष से मुक्ति पा लेते हैं। वे समस्या को बढ़ा–चढ़ा कर या अकारण उलझाकर भी प्रस्तुत नहीं करते। वे अनुभव और विचार दोनों ही स्तरों पर अपने सृजन के दायित्व की गम्भीरता का निर्वाह करते हैं। वे गाँव के (और भारत गाँवों का देश तो है ही) ऐसे लोगों की मानवीय चिन्ता और उनके मानवीय संघर्ष को रूपायित कर रहे हैं जिनके पास अपनी एक परम्परागत दृष्टि भी है। वे भले ही चिन्तन के स्तर पर उस परम्परा से जुड़े न हों, लेकिन उनके संस्कार बड़ी दूर तक उनकी समझ और सोच की दिशा का निर्धारण करते हैं। मनुष्यता के हित में चलने वाला संघर्ष अनेक स्तरों पर लड़ा जा रहा है, वह अनेक दृष्टियों से अपने आपको संवर्धित कर रहा है। हमारे यहाँ कम से कम दो दृष्टियाँ तो क्रियाशील हैं ही– गाँधीवादी और मार्क्सवादी। हम एक को आध्यात्मवादी कह सकते हैं और दूसरी को भौतिकवादी। 'जल टूटता हुआ' का कथानक अपने संघर्ष की दिशा निर्धारण में एक गहरे अन्तर्विरोध में फँसा दिखाई देता है। एक स्तर पर वह आत्म पीड़ा और आत्मदान के पथ पर चलकर अपने लक्ष्य तक पहुँचने की बात सोचता है। ''नहीं वह सत्य का पक्ष नहीं छोड़ेगा, चाहे कितने ही खतरे उठाने पड़ें, उसे टूट ही क्यों न जाना पड़े, देश में और लोग भी हैं जो इस पथ से चल रहे हैं, वह परगना हाकिम, कलक्टर साहब सभी तो इस पथ पर हैं।''[17] लेकिन दूसरे स्तर पर वह बड़ी बेचैनी के साथ अनुभव करता है कि सामाजिक न्याय की इस समस्या को नीति या निष्ठा के स्तर पर नहीं सुलझाया जा सकता। यह बात नहीं कि ऐसे परगना हाकिम या ऐसे कलक्टर हमारे बीच हैं ही नहीं जो सतीश की तरह ही प्रलोभनों और आकर्षणों से दूर रहकर अपनी ईमानदारी की बड़ी से बड़ी कीमत चुकाने को तैयार रहते हैं। लेकिन कानून जौर कर्त्तव्य परायणता से उस सच्चाई को कैसे झुठलाया जा सकता है, जिसके रहते सतीश अनुभव करता है कि ''कागजी न्याय, पुलिस वगैरह झूठे झमेले हैं, जो कभी भी सत्य का पक्ष नहीं ले सकते, सब उलझाकर छोड़ देते हैं।''[18] सतीश यह समझ चुका है कि न्याय की लड़ाई अदालत में नहीं लड़ी जा सकती और न उसको लड़ने का वह तरीका हो सकता है जो उसका अपना है। इस लड़ाई का अंतिम फैसला जनता की अदालत में होगा और इसका कारगर तरीका वह होगा जो

महीपसिंह के विरुद्ध जगपतिया ने अख्तियार किया था। यानी इसके लिए समानधर्मा लोगों को संगठित करना होगा और शोषण तथा दमन करने वाली ताकतों के विरुद्ध सीधी कार्यवाही करनी होगी। महीपसिंह और उस वर्ग के लोग उसी भाषा को समझते हैं जो जगपतिया की है। लेकिन फिर भी सतीश रचनात्मक स्तर पर पूरी तरह जगपतिया के साथ जुड़ नहीं पाता। यह नहीं कि वह वर्ग–संघर्ष की सच्चाई और उसकी क्रांतिकारी भूमिका से अपरिचित हों। उसमें उसके जुड़ने की गहरी चाह भी है। लेकिन जैसे कोई भीतरी दबाव उसे उस दिशा में आगे बढ़ने से रोक देता है। यह दबाव उसके अपने संस्कारों का है जो उसे अपनी परम्परा से या कहें कि अपने पिता से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुआ था। विरोधाभास यह है कि अपने पिता के परम्परागत दाय को भी वह पूरी तरह स्वीकार नहीं कर पाता। संघर्ष की दिशा में आगे बढ़ने की बेचैनी और अन्तर्निषेधों से ग्रस्त होकर अपने आत्मबद्ध चिंतन के घेरे से बाहर न निकल पाना सतीश के जीवन की एक बहुत बड़ी विडम्बना है। क्या यह आत्म–संघर्ष प्रकारान्तर से समग्र भारतीय जनमानस के आत्म–संघर्ष का परिचायक नहीं है।

'जल टूटता हुआ' में लड़के, घर से साफ कपड़े और टोपी के लिए अपनी माताओं के थप्पड़ खाकर, कागज की टोपियाँ लगाकर गीली आँखें और 'हँसी पहने हुए' चेहरे लेकर स्कूल पहुँचते हैं। सुग्गन मास्टर जी ने उनसे कहा था कि 'हँसी खुशी के साथ आना', पर वे साफ देखते हैं कि 'हर हँसी के पीछे एक उपवास है, एक बेबसी है।' यही वह पीड़ा है जिसे रामदरश मिश्र ने, अपने उपवास में, उसके पूरे परिवेश के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

'अपने लोग' में जो सामाजिक–राजनीतिक परिप्रेक्ष्य उभर कर सामने आया है वह हर स्तर पर नैतिक विघटन की सूचना देता है। जैसे पूरी की पूरी व्यवस्था कुछ चालाक और अवसरवादी लोगों के इशारे पर नाच रही है। चारों ओर फैली मूल्यगत अराजकता के इस माहौल में वे लोग ही फूल–फल रहे हैं जो दूसरों का खून चूस कर मोटे होते रहने में माहिर हैं या दूसरों की झोपड़ी उजाड़ कर अपना महल बना लेने में किसी प्रकार की नैतिक बेचैनी का अनुभव नहीं करते। ये सारी स्थितियाँ कथानायक प्रमोद को न केवल मानसिक स्तर पर बेचैन बनाती हैं, बल्कि कर्म और चिन्तन के धरातल पर गहरे संघर्ष के बाद उसे इस आत्मस्वीकार की ओर ले जाती हैं कि व्यक्ति और समाज को इन स्थितियों से बाहर निकालने का एक मात्र रास्ता समाजवाद है। संयोग से प्रमोद एक रचनाकार भी है और अपनी रचनाओं में वह उन्हीं मूल्यों की स्थापना के लिए संघर्षशील है जो शोषित मनुष्यता को पक्षधरता करते हैं। उसके प्रगतिशील चिन्तन का आदर्श ऐसे सामाजिक संघर्ष की भूमिका का निर्माण करना है जो मानव–मुक्ति का मार्ग प्रशस्त कर सके। प्रमोद जानता है कि यह लड़ाई अकेले हाथों नहीं लड़ी जा सकती। इसके लिये एक सामाजिक राजनीतिक संगठन का होना निहायत जरूरी है। लेकिन संगठन के साथ जुड़ने के सवाल पर एक रचनाकार के रूप में उसका मन द्विधाग्रस्त दिखाई देता है। उसे डर है कि राजनीतिक संगठन कहीं उसकी लेखकीय स्वतंत्रता को मर्यादित न कर दे। उसका यह संदेह सम्भवतः उन कठमुल्ले साम्यवादियों की बहसों से जन्मा है जिन्हें न जिन्दगी का अनुभव है, न मार्क्सवाद के सिद्धान्तों की पहचान। लेकिन एक लम्बे अन्तर्द्वन्द्व के बाद एक व्यावहारिक शर्त के साथ वह अपने आपको साम्यवादी पक्ष के साथ जोड़ लेने को तैयार हो जाता है। शर्त यह कि वह साम्यवादी पक्ष उन लोगों का नहीं होगा जिनके लिए मार्क्सवाद केवल एक फैशन है जो शहर के कॉफी हाउसों में बैठकर केवल शाब्दिक बहस ही कर सकते हैं और कुछ भी नहीं कर सकते। वह पक्ष कामरेड जनार्दन जैसे लोगों का होगा जो मार्क्सवाद को जनता में जीवित करना चाहते हैं। जो किसानों और मजदूरों के बीच रहते हैं। उनके अधिकारों के लिए लड़ते हैं, उन्हें जगाते हैं, पढ़ाते हैं, लिखाते हैं।''[19] इसलिये अपने पुत्र पवन को साम्यवादी पक्ष के साथ जुड़ते देखकर प्रमोद उससे कहता है– ''कभी–कभी तड़प होती है कि काश में इस मिट्टी की गरीबी के विरुद्ध सक्रिय संघर्ष कर पाता। मैं सक्रिय संघर्ष नहीं कर सकता यह मेरी सीमा है, इसलिये वह चाह लिए मैं बराबर तड़पता रहा हूँ। वह चाह तुम्हारे माध्यम से अभिव्यक्ति पा ले, तो मुझे परम तृप्ति होगी।''[20]

हालांकि किसी पात्र की मान्यताओं को ज्यों की त्यों रचनाकार की मान्यताओं के रूप स्वीकार कर लेना उचित नहीं माना जा सकता, लेकिन प्रमोद की उपर्युक्त मनःस्थिति और उसमें उद्भूत चिंतन में लेखक की अपनी मान्यताओं और आस्था की अनुगूँज आसानी से सुनी जा सकती है।

'पानी के प्राचीर' और 'जल टूटता हुआ' में गजेन्द्रसिंह और महीपसिंह जैसे क्रूर जमींदारों के यहाँ नौकरी करते हुए नीरू और सतीश किसानों के साथ अपेक्षाकृत रहमदिली का व्यवहार करते हैं। उनके इस मानवीय व्यवहार के कारण हम उनके प्रति अन्दर ही अन्दर कृतज्ञता से भर उठते हैं। उन दोनों का यह बड़ा संवेदनशील और मानवीय रूप हमें दूर तक प्रभावित करता है। हालांकि यह कटु सत्य है, लेकिन इसे झुठलाया नहीं जा सकता कि इस प्रकार की करुण और मानववाद से गरीबों और शोषितों की स्थिति नहीं बदली जा सकती।

'पानी के प्राचीर' का नीरू हुरदरेव राय को लेकर सोचता है– 'चूसना, चूसना और चूसना ही इन लोगों का काम है। इसलिए जवार के बड़े आदमी बने हुए हैं।''[21]

महीपसिंह के यहाँ नौकरी करते हुए सतीश ने भी ''जैसे एक नयी दुनिया देखी ''एक दुनिया जिसका रंग किसानों और मजदूरों की चीख चिल्लाहटों के कंधों पर खड़ा था। जिसके कमल इन गरीबों के पसीने के कीचड़ में खिले थे, जिसका प्रकाश गरीबों की हड्डियों की रगड़ से फूटा था।''[22]

पात्रों के चरित्र निर्माण में भी मिश्र जी ने उनके वर्गीय वैशिष्ट्य को विशेष रूप से रेखांकित किया है। खास तौर से उनके नारी पात्रों में सामाजिक दायित्व के पक्ष से लेकर प्रेम के व्यक्तिगत धरातल तक श्रमिक वर्ग की नारियाँ अधिक संघर्षशील दिखाई देती हैं। वह चाहे बिंदिया हो या लवंगी, इमरतिया हो या रूपमती इस वर्ग की हर स्त्री जीवन संघर्ष के स्तर पर अधिक ऊँची नीतिमत्ता उदारता और मानवीय संवेदनशीलता का परिचय देती है। वह परिस्थितियों के सामने झुकती नहीं; उनका डरकर मुकाबला करती है। ये सभी श्रमिक होने के साथ ही तथाकथित छोटी जाति की नारियाँ हैं। लेकिन ये बड़ी जातियों के 'बड़प्पन' के खोखलापन को बखूबी जानती हैं। बिंदिया सोचती है– ''कैसे हैं ये बामन कुत्ते। रात में विष्टा तक खा लेंगे और दिन में ओठों पर पान की पीक पोतकर महकने की कोशिश करते हैं।[23] 'जल टूटता हुआ' की बदमी चुनौती के स्वर में कहती हैं– ''यह गिरने गिराने का काम आप लोगों के घरों की बामनियाँ करती हैं, मुझसे किसी के घर का कुछ छिपा नहीं है।''[24]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि मिश्र जी ऐसे रचनाकार हैं जिन्हें गाँव की मिट्टी से गहरा प्रेम है, जिन्हें वहाँ के नदी–तालाबों, खेत–खलिहानों, बाग–बगीचों, तीज–त्यौहारों, मेलों–दशहरों के प्रति गहरा आकर्षण है। लेकिन इन सबके प्रति उनके लगाव का एक मात्र कारण यह है कि ये सब उस मनुष्य के साथ जुड़े हुए हैं, जिस पर प्रकृति और व्यवस्था की दुहरी मार पड़ रही है। उनके श्रेष्ठ उपन्यासों को आंचलिक उपन्यास की श्रेणी में रखा जा सकता है, लेकिन आंचलिक तत्वों के प्रति गहरे आकर्षण के बावजूद अपनी कथा–कृतियों में मिश्र जी उस मनुष्य की केन्द्रीय स्थिति को अपनी दृष्टि से ओझल नहीं होने देते, जिसकी यातनाओं के मूल में वर्ग विभक्त समाज की सच्चाइयाँ हैं। मिश्र जी का मानना है कि सम्पत्ति का संचय शोषण से होता है। इसी से अभाव और गरीबी जन्म लेती है। लेकिन गाँव के जीवन के यथार्थ का एक छोर भारतीय समाज की वर्ण–व्यवस्था से भी जुड़ा हुआ है। इसने अछूत समझे जाने वाले मनुष्य की यातनाओं को और भी बढ़ाया है। मिश्र जी ने खास–तौर से इस तथ्य को रेखांकित किया है कि इस वर्ण–व्यवस्था के मूल में भी सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों का असमान और अन्यायपूर्ण वितरण करे। उनका मानना है कि शोषित और दलित मनुष्यता की मुक्ति का मात्र रास्ता वर्ग–संघर्ष है। इस संघर्ष में दलित वर्ग की भूमिका अधिक नियामक होगी। लेकिन वे यह भी मानते हैं कि वर्ग–संघर्ष और समाजवाद का रास्ता आसान नहीं है। यह एक सीधी चढ़ान है जिस पर व्यक्ति के भीतरी और व्यक्तिगत स्वार्थों की खतरनाक फिसलनें हैं। लेकिन फिर भी उनके पात्र अपने भीतरी और बाहरी अवरोधों से टकराते हुए इस रास्ते पर आगे बढ़ते हैं।

अपने अनुभव की आंतरिक जरूरत के रूप में मिश्र जी ने आंचलिक शिल्प स्वीकार किया है। यह कला रूप उन्हें जीवन के विविध स्तरीय यथार्थ को उसकी समग्रता में देखने समझने की छूट देता है। बिखराव वाले शिल्प को उन्होंने कुशलता से साधा है, क्योंकि वे जिंदगी को टुकड़ों में बाँटकर नहीं देखते। उन्हें युग के गतिशील यथार्थ के विविध तत्वों के अन्तःसम्बन्धों की गहरी पहचान है। यह पहचान ही उनके बहुस्तरीय अनुभव को रचनात्मक संयोजन प्रदान करती है। सैद्धान्तिक दुराग्रहों से बचकर जीवन के प्रगतिशील तत्वों को रचना में अनुभव के स्तर पर उद्घाटित कर सकने की अपनी

उच्च–कोटि की सर्जनात्मक प्रतिभा के कारण समकालीन हिन्दी उपन्यासकारों में मिश्र जी अपनी अलग पहचान बनाते हैं।

संदर्भ सूची :

1. अपने–लोग, पृ0 148
2. जल टूटता हुआ, पृ0 106
3. उपन्यास : स्थिति और गति, पृ0 22
4. आलोचना अंक 51–52 (प्रेमचंद और परवर्ती कथा साहित्य)।
5. पानी के प्राचीर, पृ0 157
6. जल टूटता हुआ, पृ0 102
7. वही, पृ0 16
8. अपने–लोग, पृ0 360
9. जल टूटता हुआ, पृ0 101
10. रामदरश मिश्र के उपन्यास, पृ0 57
11. पानी के प्राचीर, पृ0 24
12. वही, पृ0 184
13. वही, पृ0 3
14. वही, पृ0 74
15. वही, पृ0 220
16. वही, पृ0 222
17. जल टूटता हुआ, पृ0 514
18. वही, पृ0 449
19. अपने–लोग, पृ0 373
20. वही, पृ0 361
21. पानी के प्राचीर, 144
22. जल टूटता हुआ, पृ0 113
23. पानी के प्राचीर, पृ0 50
24. जल टूटता हुआ, पृ0 531

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

Contribution of Adivasis to Indian Culture and Tradition

Dr. Onkar Nath Dwivedi
Principal
Mahatma Gandhi Post Graduate College,
Fatehpur, U.P.

The scheduled tribes differ considerably for one another in race, language, culture and beliefs. Notwithstanding so much diversity, groups. Striking similarities are noticed in their modes of living, each tribe lives in a definite area, has common dialect, cultural homogeneity and unifying social organization. The tribal population of India has been found to speak 105 different languages and 225 subsidiary languages indicating a great deal of variety.

The ethnic people live close in the vicinity of forests and have managed and conserved the biodiversity of their localities for a long time. These tribal take shelter from forest and utilise wild edible plants both raw and cooked. The flower and seeds are cooked. They utilise forest products, such as timber and firewood. These tribal's have been living in forest for ages and have developed a kind of affinity with forests. All aspects of their economic, social religious and cultural life are so closely linked with the forest in such a way that they have become a part and parcel of the forest. This relationship of the tribal with the forest is called symbiotic because the tribal depend on forest as a child depends on the mother.

From the sex ratio status of females in adivasis are calculated. And it reflects the status of socio-cultural, maternal and child health care programmes existing in the population. The scheduled tribes are at different stages of social, cultural and economic development. The cultural pattern varies from tribe to tribe and region to region. The economic life of the tribal is specific in nature. The tribal share and contribute diverse dimensional attributes to dimensional attributes to Indian culture and society.

About 94.32 million people belonging to Scheduled Tribe in India are generally considered to be adivasis, literally meaning ''indigenous people'' or ''Original inhabitants''. They are described as aboriginals and primitives and they existed early in the development of mankind. Scheduled Tribe is an administrative term.The United national organisation (UNO) considers Scheduled Tribe as 'Indigenous people' and they constitute nearly nine per cent of the total population of India. It is the nation with the highest concentration of indigenous people in the world. Back in history, the advasis were 'self governing people' in most parts of the country before British rule. They were 'unknown frontiers' at the respective states where the rule of the reign did not reach and they governed themselves outside of the influence of the particular ruler. But, after the 'permanent settlement' by the British in 1793 for controlling over the vast territories including adivasi territory for the purpose of revenue collection, this commenced the forced relationships of adivasis with others. The tribal communities are among the most underprivileged people of

India. Most of them are impoverished and subject to poverty and its manifestations such as low levels of literacy and health care, hunger and malnutrition, etc. In order to redress this situation to alleviate the suffering of tribal communities and to remove obstacles to their development, further amendments have recently been introduced in the Indian constitution.

Tribals are often referred to as Adivasi, Vanyajati, Vanavasi, Pahari, Adimjati and Anusuchit Jan Jati, the last one being the constitutional name. The concept of tribe emerged in India with the coming of the British. Gradually, the concept of reservation emerged and through that emerged the idea of scheduled tribe in independent India. In India, 427 groups have been recognised as scheduled tribes. These tribeal groups inhabit the vast area widely varying in ecological and geo-climatic conditions in different concentration throughout the country with different cultural and socio-economic backgrounds.

Contribution of the Adivasis:

As said earlier, the tribal people are the local or the original inhabitants. Since, prehistoric times they have crossed with many historical and natural happenings. They are the real witness of those happenings. Existing Indian society is the total outcome of those incidents. Diverse Indian thoughts have the real roots within the tribals that spread later on. The contribution of adivasis can be categorized within the following heads-

Health care:

Indian is a country with large ethnic society and has immense wealth due to which it is rich in biodiversity. There are 45000 species of wild plant out of which 9500 species are ethno botanically important species. Of these 7500 species are in medicinal use for indigenous health care practices. About 3900 plant species are used by tribals as food (out of which 145 species comprise root and tubers, 521 species of leafy vegetables, 101 species of bulbs and flowers, 647 species of fruits) 525 species are used for fiber, 400 species re used as fodder, 300 species are used in preparation and extraction of chemicals which are used as bio-insecticides and pesticides, 300 species are used for extraction of gum, resins, dyes and perfume (Arora 1977) . In addition to these a number of plants are used s timber, building material and about 700 species are noted to be culturally important.

Facts relating to local health traditions are mostly undocumented and oral.They are probably as old as the advent of making. These oral or folk medical traditions are extremely diverse, since they are rooted in natural resources located in so many different eco0systems. It has been estimated that about 7500 medicinal plant species and more than 200 animal and mineral sources are used in treating diseases and meting out health problems in India. These health traditions are dynamic, innovative and evolving and consist of various health practices based on local epistemologies and empirical experience. They are not restricted to any social or economic class butthe tribal and found to be the custodians of these traditional practices. There has been a constant erosion of these traditions in the past two centuries. Besides the known reasons for erosion of cultural diversity such as the western model of education, one of the largest contributors to the erosion of these local health traditions has been the acceptance of development models in which western medical systems are promoted. Modern medicine recognises the physical,

biological and emotional aspects as the cause and treatment of diseases. In local health traditions, however, the communities consider that in addition to the physical, biological and emotional aspects, there is also a spiritual element in every organism. Consequently, many local diagnostic and healing methods include spiritual practices such as prayers, offerings of worship, reciting incantations and auspicious timings of the practice. Perhaps these traditional medical practices can be understood in the light of the health framework of Ayurveda.

Ayurveda recognizes that the human being consists of body, mind and soul. Most disease conditions involve physical, biological and spiritual factors, and therefore a holistic treatment of the entire human being is used, in which the patient plays an active role, Modern medicine meets the primary health care needs of only 30 percent of the Indian population. For the rest there are traditionalheatless, bonesetters and midwives. By analysing the local health resources among tribals it is found that the custodians and carriers of the local health traditions have developed about 50000 herbal drug formulations. There are some 50000 local names for the approximately 4800 medicinal plants used in folk medicine in India. Most of these natural resources, however, are used locally as food, medicine, fodder, firewood or dye. Many people thus perceive them as potential elements to develop their human resources, and to harmless their skills and knowledge.

The World Health Organisation has been promoting a movement for ‘Saving plants for saving lives. This is because of the growing understanding of the pivotal role medicinal plants play in providing herbal remedies to health maladies. India is the home of several important traditional systems of health care like Ayurveda and Unani. These systems depend heavily on herbal products. Several millions of Indian households have been using through the ages nearly 8000 species of medicinal plants for their health care needs. Over one and half millions traditional healers use a wide range of medicinal plants for treating aliments of both humans and livestock across the length and breadth of the country. Over 800 medicineal plant species are currently in use by the Indian herbal industry. Out of them about 120 species are collected from the wild forest alone. This collection often involves destroying harvesting when parts like roots, bark, wood, stem, and the whole plant (herb) are used. Unregulated wild harvest, alongside habitat loss and degradation is leading to resource depletion and which, in turn, is endangering the very survival of these species. No wonder many fo these species listed in the red data books of the IUCN and the Botanical Survey of India are valued for their medicinal properties. According to WHO report out of 45000 species of wild plants 7500 species are used for medicinal purposes.

Social:

Adivasi society is built on a foundation of equality with respect for all life forms including plants and trees. There is s deep harmony and recognition of mutual dependence in nature and human society. People are given respect and status according to their contribution to social needs while performing their particular function. A priest is treated with great respect during a religious ceremony or a doctor reversed during a medical consultation, but once such duties are over, the priest or doctor becomes equal to everyone else. The possession of highly valued skills or knowledge does nto lead to a permanent rise in stateus. This means that no individual or small group can engage in over lordship of any kind, or enjoy hereditary

rights. Such a value system was sustainable as long as the Adivasi community was non acquisitive and all the products of society were shared. Although division of labour did take place, the work of society was performed on a cooperative and co equal basis without prejudice or disrespect to any form of work. They never quarrel for a patech of land for shifting cultivation with neighbouring fellows or villagers. They generally share the belongings with their relatives and not in favour of hoarding.Even they show tolerance when polygamous marriage system is there.

Nevertheless, tribal societies were under constant pressure as the money economy grew and made traditional forms of barter less difficult to sustain. In matters of trade, the Adivasi followed a highly evolved system of honour.All agreements that they entered into were honoured, often the entire tribe chipping in to honour an agreement made by an individual member of the tribe. Individual dishonesty or deceit was punished several bythe tribe. An individual who acted in a manners threat violated the nonour of the tribe was ostracized from the society and faced potential banishment and family members lost the right to participate in community events during the period of such punishment. But other, tribal integrity was undermined because the non tribals who traded with the Adivasi reneged on their promises and took advantage of the sincerity and honesty of most members of the tribe.

Religious:

Tribal societies came under stress due to several factors.The extension of commerce, military incursions on tribal land, and the resetting of Brahmins and other high caste people amidst tribal populations had an impact, as did ideological coercion or persuancion to attract key members of the tribe into ‘mainstream’ Hindu society. This led to many tribal communities becoming integrated into Hindu society as jatis (or castes) while others who resisted were pushed into the hilly or forested areas, or remote tracks that had not yet been settled. In the worst case, defeated Advasi tribes were pushed to the margins fo settled society and became discriminated as outcastes and ‘untouchables’. In andy case, the end result was that throughout India, tribal deities and customs, creation myths and a variety of religious rites and ceremonies came to be adsorbed into the broad stream of ‘Hindu’ society. As a result in the Adivasi Traditions, anscstor worship, worship of fertility gods and goddesses (as well as male and female feritility symblols) and totemic worship – etch played an important role. Several researchers and doing research in those fields and some are of the opinion that the tribals for the first time discovered the presently famous jagannath, Balabhadra and Subhadra idols in the rudimentary forms in the caves of Odisha state. It is said that the Sabara king is responsible for the idols that are hidden within the cae, So, it can be mentioned here that the tribal people like Sabara and famous in the past. The epic Mahabharata mention the name like Jarasabara who was a great warrior in those days and sacrificed his thumb for an auspicious occasion ‘Gurudakshina’. The epic Ramayana also mentions the name of a tribal woman called asShabari wow was a great devotee of Ramachandra, one of the incubations of Hindu god in the Tretary Yuga.

Language:

India’s regional languages such as Odia, Marathi, Bengalim etc. Are developed as a result of the fusion of tribal languages with Sanskrit or Pali and virtually all the Indian

Languages have incorporated words from the vocabulary of Adivasi languages . After keen observation the similarity of words of these languages could be found. The names of plants, animals, etc. Are sometimes so similar that they might descened from ancient adivasi languages.As they are the indigenous people their languages are also age old like their culture and tradition.

Organisational:

The most fascinating feature of the Adivasis is their social system and its organisation. The traditional Adivasi society with its standard pattern or bribe, sub-tribe and clan is eight cohesive units in which the community spirit is dominant. It is their inter personal, face-to-face relationship that endow them with a sense of belonging. Tribes like the Saoras, Kondhs, Gonds and Santals have spread out to wide areas with the result that, sub tribes have been formed claiming an independent cultural identity as with the Kutia, Dongria and Desia Knondhs, the Lanjia Saoras and the Sudh-Saoras of the coastal districts, the plain Bondas and the hill Bondas. Each of these groups has developed and nurtured its own style of economic activity, social organisation and cycles of rites and rituals for separate identity.

The dan is the bigger unit and its number varies from tribe to tribe. The Juangs, Santals, Kondhs, Gadabas and Parajas are well known for their exogamous patrilineal totemic dan organisation. The Juangs have as many as 24 clans which have totemic names that are given after objects, trees, and food grains which point to a common ancestry and attitudes of reverence to the ancestors which act as a cultural bond among them. The Saoras, however, have an extended family called birinda descended from a common ancestor. A Saora woman unlike other women of other tribes continues to belong to her father's family after marriage and not to her husband's dan.

The main organising principle of the Adivasi Society is kinship with little stratification embracing both consanguine and affined groups who use both classificatory and descriptive terms in their modes of address. The emphasis is placed on the unilineal principle, generation and age. The Adivasis accept inheritance and authority through the male line. The growing -= up socialization process of the Adivasi is extremely interesting, consisting as it does to practices that regulate life in a complex manner. The rites of passage comparising birth, puberty, marriage and death play a very important role in fribal society for which initiation and training are provided carefully. It is these rites that are introduced through youth dormitories variously called Mjang (Juang), Dindagher (Kondh), Dhangrabasa (Bhuyan) or Ingerson (Bonda). The dormitory is a large hut dclsed on three sides and upon in the front. It is used for training the yough in dancing as well as for holding village councils for discussing and deciding important matters concerning the village or communal welfare. The presiding functionaries in the village council are the headmanand the priest. The former, variously called Naik (Juang), Pradhan (Bhuyan), Gomango (Saora) Majhi (Saonta), Munda (Ho), and Budrik (Gadaba) decides the secular matters while the latter called Dehury (Bhuyan), Boita (Juang), Buya (Saora), Kartha (Oraon), Jani (Kondh) is responsible for decisions on religious and spiritual matters.

Along with the headman and the priest, the shaman, and the haroxpex, who can gaze into the stars and foresell the future, constitute the governing elite of the

village. Some tribes like the Junages, Bhuiyas, Gonds and Oraons have inter village council the head of which is the headman. The headman is the most important person of the village and usually a respectable person of age and experience. This council deals with inter village disputes and other matters pertaining to the village as an entity, not individuals . In most matters the decisions are accepted and implemented successfully. But this system is now under stress owing to the introduction of the modern Panchayat system often disturbing, disrupting and dislocating the ancient ways of life.

Women Empowerment :

Sex ratio reflects the status of socio cultural, maternal and child health care programmes existing in the population. In the 1991 census, the sex ratio of the tribal population was 972 females per every thousand males as against 927 for the total population including tribal population. The highest sex ratio for scheduled tribes among various states has been reported from Orisha (1002) and the lowest from Goa (889). But according to the census 2001 the sex ratio of tribal population is 1003 against 933 for total population including tribal population. The scheduled tribes are at different stages of social, cultural and economic development. The cultural pattern varies from tribe to tribe and region to region. The economic life of the tribals is specific in nature. Based on the manner in which the tribals primarily and distinctly make their living, the Indian tribals can be classified into seven groups.

The status of women in a society is a significant reflection of the level of social justice in that society. Women's status is often described in terms of their level of income, employment, education, health and fertility as well as the roles they play within the family, the community and society (Ghosh, 1987). A tribal woman occupies an important place in the socio economic structure of her society. The Dhebar Commission Report (1961) mentions that the tribal women is not drudge or a beast of burden, she is found to be exercising a relatively free and firm hand in all aspects related to her social life unlike in non tribal societies. The tribal women in general and in comparison with casts, enjoy more freedom in various walks of life. Traditional and customary tribal norms are comparatively more liberal to women.

Conservation of Environment:

In some tribal pockets, the tribal treat tiger as brother.If a tiger dies the neighbouring village is expected to bury it with all the elaborate funeral rites observed as when one's brother dies. Another remarkable point is stewardship on restriction of cutting of 'Sacred Species'. Every tribal community has some species, which is considered essential for survival. They take measures to protect these species by declaring them sacred. There are also certain tales of gods and goddesses who get angry when certain tree species are cut off and destroyed and they punish the village as a whole and the offenders in particular. Animals and birds are also said to be protected by the same set of values and beliefs. The tribals accord such as status to Sal, Mahua and in some cases even to the Mango tree. The Khond tribes in certain parts do not harm the salap tree because it is believed that when the world, during the period of annihilation or parlay, was submerged in water nad all people died except two children, the progenitors of the adivasi race, who survived on a hill, the salap tree gave them the juice and saved them from starvation.

Agriculture and Music:

Adivasi also played an important role in the development of agricultural practices such as rotational cropping, fertility maintenance though alternating the cultivation of grains by laving land fallow or uncultivated or by using it for pasture. The adivasi of Odisha were instrumental in developing a variety of strains of rice. Dental care products like datum, roots and condiments like turmeric used in cooking and ointments are also Adivasi discoveries, as are many fruit trees and vines. Ayurvedic cures for arthritis and night blindness own their origin to Adivasi knowledge.

Adivasi musical instruments such as the bansuri (flute) and dhol (drum), folk-tales, dances and seasonal celebrations also found their way into Indian traditions as did their art and metallurgical skills.

Conclusion:

The Rigveda, the oldest document of human knowledge mentions the use of medicinal plants in the treatment of man and animals. Ayurveda gives the account of actual beginning of the ancient medical science of India. Which according to western scholars was written between 2500 to 600 B.C. Charaka and Susruta used to write around 1000 B.C. Charaka concentrates more on medicine while Susruta deals with surgery in details along with therapeutics.

After the invasion of India by the Greeks and Mohammedans successively, the Indian system of medicine came to decline and no original works were than undertaken. During and after the British rule, there were two groups of intellectuals one supporting the rich treasure of knowledge of Indian system of medicine and the other discarding it, calling it an old system based mainly or empiricism. Intellectuals consider that as this system has survived to such an extent the ravages or time, it cannot be brushed aside a unscientific. It might be interesting to note that a large percentage approximately 80% of the population use the indigenous material as medicines for human and animal treatment. May be this is due to cultural traditions since immemorial and low buying capacity. When we combine this economy factor with centuries proven efficacy our herbal drugs stand out as the better choice for millions. History shows that many of our important pharmaceutical drugs found in books of pharmacopoeia were known and also used in some form or the other possibly long before they were introduced into the western medicine and before their actions were investigated on scientific lines.

Measures have been taken to conserve biodiversity in India since hoary past. Elements or theis aspect of traditional wisdom can be gathered through analytical studies of the ethinic societies which are less influenced by the modern civilization and also by scrutinizing the ancient texts written in Sanskrit, Pali, Tamil, etc. The Vishnu samhita is one of such scriptures in Sanskrit language. It appears that this work contains some direct instructions in connection with conservation of the bio-diversity.

According to the text of Vishnu samhita, causing any harm to the plants/animals is a sin. Even purloining of part/products of any of these living beings is s crime.The sinner/criminal is liable to chastisement in this life and also after death. The modes of punishment are of diverse nature pecuniary, corporal, expiatory

and donation of specific articles to Brahmins. In this scripture there are some indirect instructions too, which can be gleaned by analysing the dietary regulations nad the use of bio-diversity in different religious rites. Use of contain plants and animals in different festivals & ceremonies and treated them as sacred traditionally since long has a positive impact on bio-diversity conservation.

Traditional and folklore medicine bequeathed from generation to generation is rich in domestic recipes for common ailments. Traditional medicine encompasses protection and restoration of health over millennia. The best known examples of Traditional medicine, differing in concept and protocol, are well developed systems such as acupuncture and Ayurvedic treatments that have been widely used for restoration of human health in India. As the tribal people reside in the natural environment since long, they learn the naturopathy from their surroundings which are orally inherited from generations. Their traditional healers also retain these practices and spread it among their offspring's. Due to heavy deforestation and encroachment of the forestland for industrialisation, the valuable plant species are going to extinct, compelling the tribals for an alternative.

Despite the increasing demand for use of medicinal plants, no proper care has been taken to conserve the rare herbs, which are almost extinct. Their survival is jeopardy due to complacency concerning their conservation. Reaserves of herbs and stacks of medicinal plants in developing countries as diminishing. Several important species are in danger of extinction as a result of growing trade demands for safer and cheaper health care products and new plant based therapeutic markets in preference to more expensive target-specific drugs and bio-pharmaceuticals. Such concern have stimulated action in chronicling and conserving medicinal plants.

India has been considered s treasure house of valuable medicinal and aromatic plant species. Ministry of Environment and Forests have identified and documented over 9500 plant species considering their importance in the pharmaceutical industry. In the present context of back to nature in healthcare, it is relevant that these valuable plant species are not only preserved but also their cultivation developed in order to meet the entire demands of the domestic industries as also to exploit the bright prospect for export. Shift from collection to cultivation of medicinal and aromatic plants will also ensure purity, authenticity and sustainable supply of raw materials required for herbal drugs, including polyhedral. Our foreign exchange earning potential from this group of plants is estimated to be over 3000 million US dollars per annum. Agro techniques have been developed for large number of medicinal plants by the State Agricultural Universities.Due to unorganised marketing arrangements this sector has not exploited the full potential. A Medicinal Plants Board has been constituted in the Department of Indian Systems of Medicines and Homeopathy to address all the issues in the national level and State Medicinal plants Boards have been set up in different states to deal with the medicinal plants and its proper uses. Seminars and workshops are being organized to give a clear and scientific idea scout the cultivation and preservation of herbal plants.

References:

1. Government of India (2011), Census of India, Provisional Population Totals, Registrar-General & Census Commissioner of India, new Delhi.#
2. Government of India (2912), Educational Development of SCs and STs, Department of Education, Ministry of Human Resource Development, New Delhi.

3. Joshi D.K. (2006), 'Health care practices of tribal's'. Orissa Review, Govt of Orissa, Bhubaneswar, December 2006, 25(5) 55-57
4. Chaudhury, Budhadeb (1986), Tribal Health: Socio-cultural Dimensions, New Delhi, Inter India publications: 18-19
5. Chaudhury, Budhadeb (1986), Tribal Health: Socio-cultural Dimensions, New Delhi, Inter India publications: 161.
6. Bijoy, C.R., (2003) Adivasi of India – History of Discrimination, PUCL Bulletin, February 2003.: 25.
7. Senapati, Nilamani (1980), Orissa District Gazetters, Bhubaneswar, Department of Revenue, Govt. Of Orissa, 15 August 1980: 35-36.
8. Joshi D.K. (2006), 'Health care practices of the tribals'. Orissa Review, Bhubaneswar, Govt of Orissa, December 2006, 25(5) 56
9. Das, Nityanands (1957), Kalahandira Dangaria Kandha, Adivasi (Oriya), Bhubaneswar 2 (2,3): 28-30, 37, 58.
10. Behura, N.K. (1993), Sttus of tribal communities of Orissa, Adivasi, Bhubaneswar, SCSTRI, Sept-Dec 1993, 33 (3-4):10
11. Government of India (2011), Census of India, Provisional Population Totals, Registrar-General & Census Commissioner of India, New Delhi.
12. Government of Orissa (2011) Settlement wing Kalahandi Divison, Bhawanipatna.
13. Senapati, Nilamani (1980), Orissa District Gazetters, Bhubaneswar, Department of Revenue, Govt. Of Orissa, 15 August 1980 : 39
14. Tiwari, S.K. (2001), Medical Geography of Indian Tribes, New Delhi : Sarup & Sons: 16-25.
15. Joshi Dina Krishna (2007), 'Orissa Adivasi Sampradayare Narira Sthana' (Oriya), Utkala Prasanga, Govt of Orissa, Bhubaneswar, Sept-Oct 2007, 64(2-3) 5.

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

मार्कण्डेय के कथा साहित्य का भाषा एवं शिल्प सौन्दर्य

शोध निर्देशक
डॉ0 पंकज विरमाल
विभागाध्यक्ष (हिन्दी विभाग)
इन्दौर क्रिश्चियन कॉलेज इन्दौर
(मध्यप्रदेश)

शोधार्थी
राजेश कुमार यादव
शोध केन्द्र– इन्दौर क्रिश्चियन
कॉलेज इन्दौर (मध्यप्रदेश)
सम्बद्ध– देवी अहिल्या विश्वविद्यालय
इन्दौर (मध्यप्रदेष)

कथा कहने के ढंग में सबसे महत्वपूर्ण प्रयोग भाषा का ही होता है। भाषा का जन्म पारिवारिक संस्कारों और समाज के गर्भ से होता है। वस्तुतः समाज के सुख–दुःख, अभिलाषा और आकांक्षा, द्वन्द्व और संघर्ष आदि को भाषा के माध्यम से ही व्यक्ति करते हैं। ''भाषा की कोई जाति नहीं होती। जनता अपने जज्बातों जरूरतों और संघर्षों के लिए भाषा को पैदा करती है, उसे लेकर जीती या मरती है।''[1]

मार्कण्डेय की कथा भूमि आजादी के बाद के ग्राम्यांचलों से जुड़ी है। ग्राम्यांचल की संस्कृति वहाँ की धरती, खूशबू, मिट्टी की सुगंध आदि ही आचलिकता में अभिवृद्धि करते हैं। आजादी के बाद कथाकारों और कथा शिल्प में व्यापक परिवर्तन आया। ये कथाकार नये–नयेविषय–वस्तु लेकर कहानी का सृजन करते हैं। कहीं–कहीं तो कहानी आन्दोलन को भी जन्म देते हैं। नयी कहानी, सचेतन, समान्तर कहानी, सक्रिय कहानी, जनवादी कहानी आदि। इन सबमें मार्कण्डेय अपने प्रस्तुतीकरण के ढंग से अपनी अलग और विशिष्ट पहचान रखते हैं। उन्होंने कलात्मकता के ढंग पर कहानी को एक नयी ऊँचाई दी। यद्यपि ग्रामीण कथाकार का विशेषांक इनके लिए जुड़ गया। इनकी कहानियों में ग्रामीण जन की बोलियों का प्रभाव स्पष्टरूप से देखा जा सकता है। गुलरा के बाबा (चैतू), कल्यानमन (मंगी), हंसा जाई अकेला (बाबा), बीच के लोग (बुझावन, फउदी दादा), महुए का पेड़ (दुखना), मधुपुर के सिवान का एक कोना (मुन्नन, बचन), गुलरा के बाबा (देवी सिंह), महुए का पेड़ (नरेश, छोटे ठाकुर) बीच के लोग (हरदयाल, मनरा, रग्घू सिंह, बनवा पात्र है। जिनका कहने का ढंग, बातचीत करने के तरीके भिन्न–भिन्न ढंग से होने के बावजूद समाज के जागरित चरित्र को प्रस्तुत करते हैं।

इनके उपन्यास को ध्यान से देखे तो 'अग्निबीज' में कथा की शुरूआत में ही मार्कण्डेय लिखते हैं, ''तुम कैसे खड़े हो मुराद!' भाई अपने हाथ की छोटी धुनकी रोककर गरदन सीधी करते हुए पूछा, करघा चला लेते हो? बाकर भाई ने तुम्हें कुछ सिखाया या नहीं?''[2] स्पष्ट है कि कथा के प्रारम्भ में ही प्रश्न सूचक मुद्रा कें कथाकार है, लेकिन इस मुद्दा में भी आत्मीयता का भाव दिखाई पड़ता है। मार्कण्डेय गहरी संवेदना और सूक्ष्मतम विश्लेषण कर मन की गहराईयों तक पहुँचने वाले अद्भुत कहानीकार थे। आंचलिक भावबोध और उसके बदलते सामाजिक स्वरूप से उठने वाले प्रश्नों को संवेदनात्मक स्तर पर उठाती हुई उनकी कहानी 'बीच के लोग' बहुत ही महत्वपूर्ण एवं संवेदनशील कहानी बन गयी। 'तारो का गुच्छा' संग्रह की कहानियाँ मध्यवर्गीय पात्रों के भावात्मक धरातल पर बुनी हुई तथा उनके राग–विराग की कहानियाँ हैं।

मार्कण्डेय ने अपनी ग्रामीण परिवेश को अपनी संवेदनशीलता द्वारा ग्रहण किया तथा उसे सार्थकता प्रदान की। उन्हें अंचल की संवेदना उसकी धड़कन की अच्छी पहचान थी। उनकी संवेदना ग्राम्यजनों, अंचल के क्षेत्रों में निवास करने वाले लोगों के प्रति विशेष रूप से थी। चाहे वह गाँव का दलितवर्ग हो या फिर किसान वर्ग। सबका वह चित्रण करते थे।

किसी भी कथाकार या साहित्यकार की जितनी गहरी और तीव्र पकड़ जनजीवन की बदलती हुई अनुभूतियों पर होती है। उसकी रचनात्मक शक्ति उतनी ही मजबूती और सार्थक होती है। ग्रामीण जीवन के यथार्थ बोध और उसके बदलते सामाजिक स्वरूप से उठने वाले प्रश्नों को संवेदनात्मक स्तर

पर उठाती हुई उनकी कहानी 'बीच के लोग' बहुत ही महत्वपूर्ण और लोकप्रिय कहानी बनी। 'तारों का गुच्छा' संग्रह की कहानियाँ मध्यवर्गी पात्रों के भावनात्मक धरातल पर बुनी हुई तथा उनके राग–विराग से जुड़ी है। इसमें जहाँ एक ओर नयी संवेदना और नयी कहानी की मूल संवेदना का प्रतिनिधित्व करती है और स्वयं को मुख्य धारा में जोड़ती है। दूसरी ओर ये उनसे अलग भी दिखाई देती है।

मार्कण्डेय में व्यक्ति के जीवन की हर संवेदना एवं धड़कन की अच्छी पहचान थी। उनकी संवेदना अंचल के ग्राम के प्रत्येक निवासी से थी, भले हीवह दलित हो या किसान। क्योंकि उनके अनुसार जनजीवन ही लेखक के अनुभवों का आधार होता है। किसी भी लेखक या साहित्यकार की जितनी गहरी या तीव्र पकड़ जनजीवन की बदलती अनुभूतियों पर होती है, उसकी रचनात्मक शक्ति उतनी ही मजबूत और सार्थक होती है। ''कहानी का नयापन इस बात में निहित है कि उस क्षेत्र में परिवर्तन के जो लक्षण उभर रहे हैं और उनके फलस्वरूप मानव जीवन में जो नयी अनुभूति कुनकुना रही है। उसकी पकड़ और उसका अंकन हो, और इस हो रहे परिवर्तन को उन्होंने अपनी कहानियों में जिस रूप में दिखाया है, उससे उनकी ग्रामीण संवेदना और जागरूकता का पता चलता है। गाँव में निवास करने वाली पिछड़ी जाति या दलित वर्ग पर सबसे ज्यादा प्रहार का कारण शिक्षा का अभाव था, ऐसा मार्कण्डेय का मानना था। वह यह भी मानते थे कि शिक्षा के फलस्वरूप यह वर्ग काफी जागरूक हुआ है।''[3]

नयी कहानी के चर्चित उस समय मोहन राकेश, रेणु, राजेन्द्र यादव, ठाकुरप्रसाद सिंह, कमलेश्वर आदि थे। जो या तो शंकाओं, उलझनों मामूली सवालों से आगे न बढ़ते थे, और यदि बढ़ते थे तो विचार तक पहुँच कर रूक जाते थे। शिवकुमार मिश्र लिखते हैं– ''नयी कहानी के दौर में एक समय जब कहानी एक बार फिर से मध्यवर्गीय जीवन और मध्यवर्गीय चरित्रों की या फिर नगर जीवन की सीमित चौहद्दियों में, उनसे जुड़ी समस्याओं में ऊब–डूब करने लगी थी, मार्कण्डेय उन कहानीकारों की संगति में अपनी विशिष्ट पहचान को लेकर सामने आये जिन्होंने ग्राम्य जीवन तथा साधारण वंचित उपेक्षित जनों के जीवन सन्दर्भों को परिप्रेक्ष्य में उभारा और नयी कहानी के रचनावृत को विशद बनाया, उसे हिन्दुस्तान की प्रातिनिधिक ग्राम्य जीवन की वास्तविकता से जोड़े रखा, प्रेमचन्द की रचना दृष्टि, उनकी कथा परम्परा को न केवल संरक्षित किया, बदले समय सन्दर्भों में अनुभव तथा विचार की नयी जमीन में उसे कुछ और विकसित किया।''[4]

मार्कण्डेय का कहानी क्षेत्र में जब प्रवेश होता है तो हिन्दी कहानी अपनी स्वर्ण जयन्ती (पचास वर्ष) मना चुकी थी। इन पाँच दशकों में तीन दशक तक अकेले प्रेमचन्द का ही तिलिस्म था। ''प्रेमचन्द के बाद हिन्दी कहानी शहर–जीवन में जाकर वैयक्तिकता के गलियारे में इस कदर फँस गयी कि मानवीय संवेदना वेतरह संकीर्ण हो गयी। मानवता और मानववाद को जो विशाल क्षेत्र होता है, उसके अनुभव से हिन्दी–कहानी वंचित हो गयी। अवश्य ही मध्यवर्ग और खास करके उच्च मध्यवर्ग की महत्वाकांक्षाएँ मानवीय संवेदना को संकीर्ण बनाती ही है। मार्कण्डेय उन कहानीकारों में हैं– जिन्होंने हिन्दी कहानी को उस संकीर्ण दायरे से मुक्त किया और व्यापक मनुष्यता के अनुभवों से उसे सम्पन्न बनाया। हम अपने अनुभवों से और अपनी साहित्यिक परम्परा से व्यक्त संवेदना के ज्ञान से यह जानते हैं कि मानवीय संवेदना समाज के उन्हीं लोगों से मिलती है जो अपनी मेहनत से जीवन–निर्वाह करते हैं।''[5]

अपने ढंग की एक कहानी है– 'नौ सौ रूपये और एक ऊँट दाना' यह मार्कण्डेय की कहानी कला का एक अनोखा नमूना है। यह कहानी इस बात से शुरू होती है कि गाँव का लड़का, जो शहर में रहकर पढ़ाई कर रहा है, वह गाँव जाने के लिए स्टेशन पर उतरता है। तीन मील दूर है गाँव और रास्ते में न एक भी पेड़ और न पानी पीने की गुंजाइश। यह तो इलाके का पिछड़ा पन बता रहा है। लेकिन कहानी का असली कथ्य तब व्यक्त होने लगता है, जब यह बच्चन नाम का लड़का घर पहुँचता है। कुली सामान लेकर घर तक गया है, लेकिन उसे पैसा देने के लिए दस रूपये का नोट गाँव भी में नहीं भुनता है। स्वतंत्र भारत में एक गाँव का यह हाल है।

इस तरह की कहानी गाँव के परिवेश और गाँवों के पात्रों के अपनी सम्बन्धों के आधार पर देश की राजनीति के दुष्परिणाम का चित्रण कर देती है, यह खूबी है मार्कण्डेय की कहानी कला की।

राष्ट्रीय चेतना और वैयक्तिक चेतना का टकराव हो रहा है। पारस्परिक रूढ़िवाद और आधुनिक प्रगति की जरूरत में और भी तीखा टकराव है। मार्कण्डेय में भी यही विशेषता है कि गाँव के लोगों की समस्याओं के अन्तर्विरोध को गाँव के लोगों की भाषाओं में ही चित्रित या वर्णित कर दिया है, वह भी उस तरह कि पाठकों को देश और गाँव की दुर्दशा का कारण महसूस करा देता है। इनकी कहानियों में गाँव अपनी सम्पूर्ण प्रातिनिधिकी विशेषता से सम्पन्न है, उनके माध्यम से देश की स्थिति का भी पता चलता है। साथ ही स्वतंत्रताकी स्थिति का भी। प्रायः लोग कहते हैं कि स्वतंत्रता गाँव तक नहीं पहुँची है, जबकि मार्कण्डेय की कहानियां हमें बताती है कि आजादी गाँव के सुविधा सम्पन्न अमीर लोगों तक गयी है। गरीब तबका शहर का हो या गाँव का केवल वही आजादी से वंचित हैं। इन गरीबों का जाति और धरम की गुलामी से बंधकर नेस्तनाबूद करने की साजिश किया गया।

मार्कण्डेय की कहानी कला की महत्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि वे अपने को कभी दुहराते नहीं, इस विशाल और गतिशील समाज में कथा वस्तु की कमी नहीं है। कारण स्पष्ट है कि मार्कण्डेय का अनुभव क्षेत्र व्यापक है। बात गाँव और शहर की नहीं, बल्कि समाज के विभिन्न तबकों की और उनके पारस्परिक सम्बन्धों के स्वरूप की है। मार्कण्डेय ने ऐसे सम्बन्धों को कभी सामाजिक ढ़ोंग में देखा और कभी पारिवारिक दायरे में। यही कारण है कि इनकी रचनात्मकता में हमेशा ताजगी बनी रहती है।

इनकी कलात्मक 'पानफूल' शीर्षक कहानी में देखसकते हैं–यह एकदम नये सन्दर्भ में रची कहानी है। इसमें दो बच्चियां और एक झबरा कुत्ता। ''माँ मैं बाहल नहीं जाऊँगा। मुझे उल लगता है.....ऊँ–ऽ..... ऊँ– ऊँ..ऽऽ..ऊँ–ऽ''[6] फिर ''पालो माँ मेली पूछी को उठा लो, घल पहुँचा दो!''[7] मार्कण्डेय की कहानियों के पाठक यह सहज तरीके से महसूस करेगें कि जीवन अथवा जगत के इन प्रसंगों से वे परिचित हैं। मार्कण्डेय इन्हीं प्रसंगों से जो अर्थ निकालते हैं। उससे पाठकों की चेतना निःसन्देह समृद्ध होगी।

मार्कण्डेय की कथा में कलात्मकता इस बात से भी है कि हर कथा में चाहे वहकहानी हो या उपन्यास सभी में बड़ा गहरा अर्थ संकेत होता है। जो पाठकों को प्रत्यक्ष या यथार्थ की तुलना में अधिक समृद्ध करती है। उनकी कहानियों 'गुलरा के बाबा', 'मन के मोड़', 'प्रलय और मनुष्य', 'माई', 'भूदान,' 'दौने की पत्तियाँ', 'चाँद का टुकड़ा' आदि कहानियों में उनकी कलात्मकता अधिक जीवन्त और प्रभावकारी है।

मार्कण्डेय ने लोक संस्कृति में भी अपनी कलात्मकता का परिचय दिया है। वे, लोकगीतों को ग्रामीण जीवन की आत्मा मानते हैं। ग्रामीण संस्कृति में अन्तर्रात्मा से निकली हुई मधुर ध्वनि को लोकगीत की संज्ञा दी जाती है। कथाकार विवेकीराय का मानना है कि– ''लोकगीत गाँव के प्राणों का स्पंदन है।'' यह स्पंदन मार्कण्डेय की कहानी 'हंसा जाई अकेला' में सुनाई देती है।हंसा को जब भी प्रसन्नता होती है या वह बच्चों के साथ नाचता है तक यह गीत गुनगुनाता है–

हंसा' जाई अकेला, ई देहिया ना रहीं।
मल ले, धो ले, नहा ले, खा ले
करना हो सो कर ले,
ई देहिया. . . . .
जग बेल्हमौलू जुलुम कइलू ननदी जग
बरम्हा के मोहलू, बिसुनू के मोहलू
सिव जी के नचिया नचौलू मोरी ननदी जग.....

डॉ0 ज्ञानचन्द गुप्त का मानना है कि लोकगीत ग्रामीण जनता की भावना उनके संवेगों, अनुभूतियों एवं उनकी सौन्दर्य भावना का प्रतिनिधित्व करते हैं।''[8]अस्तु, मार्कण्डेय स्वातंत्र्योत्तर भारत के कहानी क्षेत्र के सर्वश्रेष्ठ कथाकार है। उनके ग्राम जीवन के मानवीय एवं सामाजिक यथार्थ को अच्छी तरह से देखा जा सकता है। अनुभूति और संवेदना उनकी कलात्मकता का महत्वपूर्ण आधार रहा है। वे सुनी सुनाई बातों पर बल देने के बजाय, कथ्य और शिल्प के अनुरूप भोगे हुए यथार्थ को प्रस्तुत करते हैं।

भाषा भावों विचारों का सशक्त माध्यम है। दो व्यक्ति जिन ध्वनि संकेतों में परस्पर विचार विनिमय करते है। उसे समग्ररूप में भाषा कहते है। कोई कवि या कथाकार अपनी रचना या कृति में

जो कुछ भी व्यक्त करना चाहता है, वह भाषा के माध्यम से ही करता है। इसी को ध्यान में रखकर कवि या कथाकार पाठक से अपना सम्बन्ध जोड़ता है। भाषा से ही किसी कवि या कथाकार के मन्तव्य को समझा जा सकता है। ''भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा है और अभिव्यक्ति का ढंग ही शैली है। डॉ0 एन0 रवीन्द्रनाथ कहते है शैली भाषा से अलग वस्तु नहीं है। वह भाषा की चाल एवं गति ही है। शैली भाषा को भावानुकूल रूप प्रदान कर उसकी अभिव्यंजक शक्ति को महत्ता प्रदान करती है। कहा जा सकता है कि भाषा एक स्वाभाविक वस्तु है, लेकिन शैली कलाकार का रचना चातुर्य है। लेखक अपने भावों को अधिक मूर्तिमत्ता प्रदान करने के लिए भावानुकूल भाषा का प्रयोग करता है और शैली उसमें सौंदर्य लाती है।''[9]

आंचलिक साहित्य की भाषा सीधे जनता या अंचलवासियों से ली जाती है। इसमें कथाकार इस तरह से शब्दों का चयन करता है मानो वह उस क्षेत्र की वीडियोग्राफी (चलचित्र) कर रहा हो। अंचल के क्षेत्र की बोली–भाषा, रहन–सहन, खान–पान, तिथि–त्यौहार, संस्कृति आचार–विचार की भाषा ग्रहण करते है। वह पात्रों के अनुकूल परिस्थितियों से उत्पन्न भाषा का प्रयोग करता है। यहाँ भाषा में अमिधा, लक्षणा, व्यंजना शब्द शक्ति का प्रयोग नहीं है। सीधे–सीधे परिस्थितियों के अनुकूल भाषा है। उसका कोई अलग–अलग अर्थ नहीं निकाला जा सकता है। डॉ0 सुरेन्द्र प्रसाद लिखते हैं कि– ''उनकी भाषा साधारण बोलचाल की भाषा है। सहज सरल और जनजीवन के बीच की भाषा होने के कारण ही इनकी भाषा को प्रेमचन्द के नजदीक की भाषा मानी गई है। मार्क्सवादी विचारकों का यह विश्वास है कि जनता की भाषा हीवह अखंड स्रोत है जिससे साहित्यिक भाषा पोषित और बलवती होती है। लोकभाषा से नितान्त विलग होकर कोई भाषा अधिक दिन तक न साहित्य में टिक सकती है और न ही अपना अस्तित्व बनाये रखने में सफल हो सकती है।''[10] भाषा प्रयोग की दृष्टि से मार्कण्डेय का कथा साहित्य में विशिष्ट महत्व है। वे मूलतः ग्रामीण जीवन के कथाकार है। उनके कथा साहित्य में भाषिक संरचना में स्थानीय या आंचलिक शब्दों एवं ध्वनियों की प्रधानता है। जैसे– ओड़ान, मोंट, पौदर, बखरी, गउखे, कउड़े, सीवान, बरवाह, लाठी–गोजी, गगरा, मरकिनौना, गोफे, बौर, सरफत, फगुनहट, भौजी, मेहरारु, बबुआ, लिट्टी, छदाम, सतुआ, बोरसी इत्यादि।

वस्तुतः इन शब्दों के माध्यम से कथाकार ने आंचलिकता की अनुभूति को और अधिक घनीभूत करने का प्रयास किया है। सार्थक शब्दों के साथ निरर्थक शब्दों की भी बहुलता मिलती है। जैसे– खर्च–वर्च, खेत–ओत, लेकिन–वेकिन, कपड़ा–लत्ता, साबुन–बाबुन, तेल–वेल, सरकार–वोरकार, नमक–वमक, दही–वही, दूध–ऊध, जो पात्र ग्रामीण और अनपढ़ है उनके यहाँ भी व्यंजन–विकृति शब्दों में मिलती है, जैसे– चिनमी (चिनगारी), मुलुक (मुल्क), भउजी (भौजी), जुलुम (जुल्म), पियास (प्यास), तिलिक (तिलक), गोखली (गोखले), मौलवी (मालवीय), उज्जर (उज्ज्वल), महात्मा गन्ही (महात्मा गांधी), अन्दोलन (आंदोलन), सत्त (सत्य), जौहिन्न (जय हिंद), सुहास (सुभाष), विस्सास (विश्वास), अंजुरी (अंजली), अकिलि (अक्ल), चन्ना (चंदा), सींधूर (सिंदूर), सुराजी पाल्टी (स्वराज पार्टी), जवाहिर लाल (जवाहर लाल), रजिंदर बाबू (राजेंद्र बाबू), सिघानत (सिद्धांत), राजनेत (राजनीति), ओट (वोट), न्याव (न्याय), जरिमाना (जुर्माना), मउत (मौत) इत्यादि।

''मार्कण्डेय ने अपनी कहानियों तथा उपन्यासों में ध्वनि पकड़ने की अद्‌भुत क्षमता का परिचय दिया है। उनके कथा साहित्य में आये तमाम ध्वन्यात्मक शब्द अपने परिवेश को पूरी सजगता के साथ उभारते है। इसके साथ ही साथ पात्रों के मनोजगत एवं प्रकृति के विभिन्न तेवरों एवं पशु–पक्षियों की अनुभूतियों को ही प्रकट करते है।

हा–आ–आँम्.....हा–आ.....आँम्.....पानी का बहाव,
भरम–भायँ.....भरम....भाँय्.....पेड़ों का टूट कर पानी में गिरना,
टिह्–टिह्–टिह्–जल पक्षी की बोली,
हुआँ, हुआँ–सियारों की बोली,
भो भों–कुत्तों का भोंकना,
किड़िक्–किड़क् गुडुम.....किड़िक्–किड़क्–गुडुम..... नगाड़ों की धुन''[11]
शब्द प्रयोग में तत्सम, तद्‌भव, देशज, विदेशी सभी का प्रयोग है।

मार्कण्डेय ने अपने कथा साहित्य में रूप और शिल्प के संदर्भ में स्पष्ट है कि उन्होंने परिवेश और परिस्थितियों के अनुकूल चित्रण करते है। भाषा जहाँ जीवनानुभव को मुखरित करने का साधन है। वही मार्कण्डेय की संवेदना यथार्थ जीवनानुभवों को यथार्थ धरातल पर रख भाषा–शिल्प का विकास करती है। उनके कथा साहित्य में भाषा पात्रानुकूल, परिस्थितियों का चित्रण करने में सक्षम व्यावहारिक तथा स्वाभाविक है। ''जहाँ पर उन्होंने करुणा भरे प्रसंगों को लिया है, वहाँ सहानुभूति व संयम का साक्षात्कार भी कराया। जहाँ परिवेश की यथार्थ अभिव्यक्ति की वहाँ तथ्य और तर्कसंगत बौद्धिक भाषा का उपयोग किया। स्नेह और ममता को व्यक्त करने हेतु अत्यंत मनोहारी शब्दावली का प्रयोग किया; जहाँ चरित्र का विकास दर्शाया, वहाँ तटस्थ भाषा का प्रयोग किया, जहाँ शोषितों और शोषकों के बीच तकरार का चित्रण है वहाँ शोषितों के हृदयभावों को पूरी शक्ति से उभारने वाली भाषा प्रयोग की है।''[12]

मार्कण्डेय की शिल्प की विशेषता है कि उन्होंने शिक्षित तथा अशिक्षित पात्रों द्वारा क्षेत्रीय प्रभाव को दर्शाने वाली भाषा को अक्षरशः प्रस्तुत किया है। जिसे हम उनके द्वारा प्रयुक्त तत्सम, तद्भव, अंग्रेजी, अरबी–फारसी–उर्दू और देशज शब्दों में देख सकते है। उन्होंने आंचलिकता की कसौटी पर भी शिल्प विधान किया है। भोजपुरी, अवधी, मैथिली, मगही, बुन्देली का भी यदा–कदा मिश्रण किया है।

इनकी शैली वर्णनात्मक प्रधान है। यद्यपि अन्य शैलियों का प्रयोग भी यथा स्थान किया है; जो कथानक के विकास में सहायक हुई है। आत्म कथात्मक शैली में लेखक की खुद की अनुभूतियों, स्थितियों को कम ही सही परन्तु प्रतिबिंबित करती है। वर्णनात्मक शैली के साथ ही संवादात्मक शैली और चित्रात्मक शैली का प्रयोग पाठकों का ध्यान आकृष्ट करता है। इनकी कहानी 'हरामी के बच्चे' माही, प्रिया सैनी, उत्तराधिकार, में गीतात्मक शैली का प्रयोग हुआ है। ध्यातव्य है कि चित्रात्मक शैली में देश–काल परिस्थितियों का चित्रण प्रमुख होता है। संवादात्मक शैली में संवाद योजना का उत्कृष्टतम् प्रयोग होता है।

कथानक के निर्माण में कथोपकथन का सुगठित, संतुलित होना इस बात का प्रमाण है कि समाज को पूर्ण रूप से उद्घाटित करने में कथोपकथन कही शिथिल नहीं पड़ता और ना ही भाषा–शैली का कृत्रिम रचाव मालूम होता है। पात्रानुकूल, परिस्थितिजन्य भाषा के प्रयोग से यह अत्यन्त सजीव हो उठी है।

निष्कर्षतः मार्कण्डेय अपनी आंचलिकता के प्रयोग में भाषा और शिल्प निर्माण में कही भी अप्रासंगिक या कमजोर दिखाई नहीं पड़ते, अपितु उनकी भाषा की कसावट शिल्प में मजबूती, विधेयात्मक दृष्टिकोण लाती है।

संदर्भ–सूची :

1. डॉ0 सुजीत कुमार– कहानीकार मार्कण्डेय, पृ0 137
2. मार्कण्डेय, अग्निबीज, पृ0 9
3. डॉ0 सुजीत कुमार– कहानीकार मार्कण्डेय, पृ0 115
4. मार्कण्डेय–हिन्दी कहानी, यथार्थवादी नजरिया (सं. आनन्द प्रकाश), भूमिका से
5. कथा– मार्कण्डेय स्मृति अंक जून, 2011, पृ0 245–246
6. मार्कण्डेय– मार्कण्डेय की कहानियां, पृ0 27
7. वहीं, पृ0 28–29
8. डॉ0 सुजीत कुमार– कहानीकार मार्कण्डेय, पृ0 118
9. डॉ0 सुरेन्द्रप्रसाद, मार्कण्डेय का रचना संसार, पृ0 150
10. वही, पृ0 150
11. वही, पृ0 152
12. डॉ0 जयपाल, प्रगतिवादी कथा लेखन और मार्कण्डेय, पृ0 180, विभा प्रकाशन, इलाहाबाद

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

उत्तर–आधुनिकता और भारत (हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में)

डॉ0 वेदवती राठी
एसो0 प्रोफेसर, अध्यक्ष हिन्दी विभाग
धर्म समाज कॉलिज, अलीगढ़

आज भारत जिन सामाजिक–आर्थिक–राजनीतिक और सांस्कृतिक चिन्ताओं से ग्रस्त है, पहले उसके सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। आज वैश्विक आर्थिक मंदी का दौर चल रहा है और इसके लिए अमेरिका का कारपोरेट जगत् जिम्मेवार है। पूँजीवाद ने विकसित देशों (पश्चिमी देशों) के जो लुभावने सपने दिखाये थे, उनका अर्द्ध सत्य नंगा हो चुका है। आधुनिकता की जो आँधी यूरोप में आयी थी, उसके विरोध में अमेरिका में उत्तर–आधुनिकता का दौर चला। स्वाभाविक है कि नयी आधुनिकता का प्रवंचनापूर्ण सौन्दर्यशास्त्र रच गया, जो बेईमान साबित हो चुका है। मीडिया भी सेक्स, सनसनी और एक्सक्यूसिव परोसने में रुचि लेने लगा, जिसके पीछे यही साजिश प्रतीत होती है कि विचार–चिन्तन (बौद्धिकता) को खत्म कर दिया जाय। पत्रकारिता आज बाजार के आगे घुटने टेक चुकी है। साहित्य के पाठक निरन्तर घट रहे हैं। यही तो पूँजीवाद का लक्ष्य था, जो सफल होता दिखाई दे रहा है। साहित्यकार भी अपनी रचनाओं में पाठ के स्थान पर दृश्यों को परोस कर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ रहे हैं। कुल मिलाकर सर्व निषेधवादी दौर के मकड़ जाल में हम फँसते चले जा रहे हैं, जिसकी पहचान होना आवश्यक प्रतीत होता है। यह वैश्विक साजिश सर्वत्र सफल होती दिखाई दे रही हैं सत्ता भी समाज की कंडीशनिंग करके अपने दायित्व से पल्ला झाड़ रही है और नयी पीढ़ी के विचारों की कंडीशनिंग बाजार द्वारा की जा रही है। राजनीतिक दलों को पैसों की जिद से फुर्सत नहीं है। इसी कारण बाजारवाद का उत्सव पूरे शबाव पर है। उत्तर आधुनिक पेरेण्ट्स आज ब्यूटी पार्लर जाने की सलाह देकर अपने को सार्थक समझ रहे हैं। बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ भारत में अपने उत्पादों की खपत के लिए बाजार तलाशने में मशगूल हैं। वैश्वीकरण या भूमण्डीकरण की अर्थनीति मुक्त व्यापार प्रणाली के नाम पर घरेलू अर्थ व्यवस्था को तो चौपट कर ही रही है वरन् सिद्धान्तों, आस्थाओं और जीवन–मूल्यों को लीलती जा रही है। विश्व बैंक, और उनकी इच्छानुसार केन्द्र और राज्य सरकारें योजनाओं का पैसा उकारने में ही अपने को धन्य समझ रही है। अधिकारियों को समाज का माफिया रिश्वत से जेबें गरम करके और 15–16 वर्ष की छोकरियों के टाइट माल से रातें गरम करके अपना उल्लू सीधा करने में लगे हैं। इस पर कामुक और ललचाया बाजार अपनी घात लगाये बैठा है, जिससे सुरक्षा कर पाना सम्भव नहीं रह गया है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा साहित्य में हिंग्लिश विकसित की जा रही हैं। ऐसे में विचारों, सपनों और संवेदनाओं की अकाल मौत के बीच बाजार के अर्द्ध सत्य को उजागर करने की रचनात्मक पहल करना अनिवार्य प्रतीत हो रहा है।

यह सब उत्तर आधुनिकता के प्रबल–चपेट में आने के कारण भारत की दुर्दशा हो रही है। श्री कृष्णदत्त पालीवाल इस समय इसकी विश्वसनीय व्याख्या का संकट देख रहे हैं –

''माइंड, मनी, मसल इन तीनों मकारों की ताकत को मिलाकर उसने बहुराष्ट्रीय निगमों का रूप ले लिया है और अब यह यूरोपीय केन्द्रवाद को तोड़कर बहुकेन्द्रीय अवस्था का नाम है। इस भूमण्डलीय अवस्था ने 'सान की अवस्था' को गति और परिवर्तन में बदल कर मानव बोध के रूप को बदल दिया है. ..... न जाने कितने अन्तवादी कर्म कुकर्म हैं, पाठ–कुपाठ हैं। कहीं वह राष्ट्र, राज्य की सीमाओं का गलत नक्शा है, कहीं वह एक साथ स्थानीयता, भूमण्डलीय दोनों हैं। कहीं वह आस की वापसी है, कहीं उत्तर संरचना है, कहीं उत्तर–मिथक चेतना का जन्म है। **उसकी कोई विश्वसनीय व्याख्या नहीं है। उसमें सब चलता है। सबकी अनन्तता है।**××× विखण्डन का विखण्डन होने के कारण उत्तर–आधुनिकता की अवस्था ने सभ्यता, संस्कृति, प्रकृति, इतिहास–बोध के सभी प्रचलित मानदण्डों को

मरोड़कर मार दिया है।××× उत्तर आधुनिकतावादी हमारा लोकतंत्र उत्तर– अराजकतावादी हिंसा–सेक्स–अपराध और जातिवाद के चौधरी वाद को लेकर काली चट्टानों पर बैठ काले तेंदुओं–सा गुर्राने लगो है।''[1]

उत्तर–आधुनिकता को लेकर पिछले दिनों नया ज्ञानोदय ने एक बहस छेड़ी है (नया ज्ञानोदय, दिसम्बर 2009) में, जिसका बीज आलेख प्रो0 मैनेजर पाण्डेय से लिखाया गया। इसमें मैनेजर पाण्डेय ने यह स्थापना दी है कि भारत में आधुनिकता का ठीक तरह से विकास ही नहीं हो पाया–

''भारत में कभी भी सच्ची और पूरी आधुनिकता विकसित ही नहीं हुई। भारत में ज्ञान–विज्ञान का ऐसा विकास बहुत कम हुआ, जो मध्ययुगीन धार्मिकता के प्रभावों से जनमानस को मुक्त कर सके। भारतीय नवजागरण और स्वाधीनता आन्दोलन पर हिन्दूधर्म का गहरा असर था, इस्लाम का भी। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि भारत में आधुनिकता आजादी के बाद विकसित हुई। वह विज्ञान और अध्यात्म के बीच एकता की बात ज्यादा करती थी, इसीलिए स्वतंत्र भारत में निर्मित बड़े बाँध आधुनिकता के मन्दिर कहे गये, कल–कारखानों की नींव रखने के पहले भूमि–पूजन जरूरी हो गया।''[2]

उत्तर–आधुनिकता ने यूरोप में विकसित आधुनिकता की प्रवृत्तियों को निषेध करके पूँजीवादी ताकतों के षड़यंत्र के फलस्वरूप जो हमला बोला, उसकी बानगी देने के लिए हम आधुनिकता की सबसे महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति–बौद्धिकता का उल्लेख करेंगे, जिसके परिणामस्वरूप मानववाद का विकास हुआ था। काण्ट और फूको के हवाले से प्रो0 मैनेजर पाण्डेय ने 1979 में फूको द्वारा ईरान की इस्लामी क्रान्ति के समर्थन की चर्चा की है और यह स्थापना भी दी है कि स्त्रियों की स्वाधीनता के आन्दोलन पर उत्तर–आधुनिकता का बुरा प्रभाव पड़ा। उनकी यह स्थापना भी है कि उत्तर धर्म निरपेक्षता के कारण बुद्धिवाद (आधुनिकता की प्रमुख प्रवृत्ति) कमजोर हुआ और उसके बरक्स आस्था मजबूत हुई। प्रो0 मैनेजर पाण्डेय के ही शब्दों में –

''उत्तर–आधुनिकतावाद के एक गुरु फूको ने न केवल 1979 में ईरानी इस्लाम की क्रान्ति का उत्साह के साथ समर्थन किया था, बल्कि वे राजनीतिक अध्यात्म या आध्यात्मिक राजनीति भी करने लगे थे।

सारी दुनिया में इस उत्तर धर्म निरपेक्षता के परिणाम स्वरूप एक ओर धार्मिक अतिवाद का विस्तार हो रहा है तो दूसरी ओर राजनीति में रूढ़िवाद का प्रभाव भी बढ़ रहा है। उत्तर धर्म निरपेक्षता के कारण बुद्धिवाद कमजोर हुआ है और आस्था मजबूत हुई है। यह जग जाहिर बात है कि आस्था का अन्त रूढ़िवाद में होता है। इस स्थिति का सबसे बुरा असर दुनिया भर की स्त्रियों की स्वाधीनता के आन्दोलन पर पड़ा है। सभी धर्मों के अतिवादी अपने–अपने धर्मों और समाजों की स्त्रियों को मध्ययुगीन पराधीनता की परिस्थितियों में लौटाना चाहते हैं, वे पितृसत्ता, पारिवारिकता ब्रह्मचर्य और धार्मिक नैतिकता के पालन की वकालत कर रहे हैं।''[3]

मैनेजर पाण्डेय ने 'नया ज्ञानोदय' के दिसम्बर 2009 के अंक में जो बहस छेड़ी उसी के क्रम में सुभाष शर्मा ने 'नया ज्ञानोदय' के मई, 2010 के अंक में बहस को आगे बढ़ाया–'उत्तर आधुनिकता मध्ययुगीनता का पर्याय नहीं है' शीर्षक आलेख लिखकर। उनका निष्कर्ष था कि उत्तर आधुनिकता का भारत पर जो प्रभाव पड़ा, उसके कारण सामाजिक–राजनीतिक–आर्थिक और सांस्कृतिक पतन ही हुआ है–''मध्यवर्ग एक साथ मध्ययुगीन मानसिकता, आधुनिक सुविधा और उत्तर–आधुनिकता आकांक्षा के साथ जीता है।..... अशिक्षा, कुपोषण, गरीबी, बेरोजगारी और विषमता का दंश झेल रहा भारत का ग्रामीण समाज निश्चित तौर पर आदिम या मध्ययुगीन मानसिकता में जीने को अभिशप्त है।×××

अशिक्षित रखकर वोट–बैंक तैयार करना, साम्प्रदायिकता भड़का कर राजनीति की रोटी सेंकना, परिवारवाद को बढ़ावा देना, राजनीति में टिके रहने और परिवार के लिए समृद्ध वैभवशाली विरासत छोड़ने के लिए बड़े–बड़े घोटाले–भ्रष्टाचार करना, जातिगत आधार पर सुविधा देकर समाज को विभाजित करना, राजनीति का अपराधीकरण और अपराध का राजनीतिकरण करना, विकास के नाम पर दिखावटी चीजें (स्मारक–पार्क) बनवाना और जन भागीदारी न होने देना। इस सामाजिक–राजनैतिक–

आर्थिक–सांस्कृतिक पतन में 'पहचान' की भी अहम् भूमिका रही है, जो समाज को जोड़ने के बजाय तोड़ने का काम करती है।''[4]

उन्होंने उत्तर–आधुनिकता के नये अर्थों में भारत के गायब हो जाने का उत्तरदायित्व मढ़ते हुए यह स्थापना दी है यह पश्चिम की सांस्कृतिक–ऐतिहासिक अन्तर्यात्रा पहले है –

'' उत्तर आधुनिकता एक विश्वस्थिति बाद में है, उससे पहले वह समाज की एक सांस्कृतिक–ऐतिहासिक अन्तर्यात्रा है। लेकिन आज हालत यह है कि नव उदारवाद और वृहद पूँजीवाद से जुड़े उत्तर–आधुनिकता के सूत्रों को समझे बिना हम अपने समाज को नहीं समझ सकते।××× मीडिया नव–साम्राज्यवाद, तकनीक का वर्चस्ववाद और भूमण्डलीय पूँजीवाद ने संसार को उसकी मूल धुरियों से हिला दिया है।××× इसलिए उत्तर–आधुनिकता आधुनिकता का विस्तार नहीं है, जैसा कि बहुत–से भोले लोग मानते हैं, उसका अन्तिम निर्णायक बिन्दु है××× सूचना–संचार–क्रान्ति ने हमारे बोध में एक ऐसा उपद्रव खड़ा कर दिया है कि हम एक साथ स्थानीय भी हैं और भूमण्डलीय भी।''[5]

उत्तर–आधुनिक युग में श्री कृष्ण दत्त पालीवाल नारी भोग के विद्रूप की भी चर्चा करते हैं –

''मोटे रूप में यह है कि ग्लोबल कल्चर 'ग्लोबल मार्केट थॉट'', 'ग्लोबल विलेज', 'ग्लोबल लव' के चक्र में हर व्यक्ति स्थानीय भी है और विश्व नागरिक भी है। यहाँ टॉलस्टाय की अन्ना कैरिनिना नहीं है, जो अपराध–बोध से घुट कर आत्महत्या कर लेती है, यहाँ मनोहर श्याम जोशी की वे नायिकाएँ हैं, जो संडास में प्रेमी का दाँत से नाड़ा खोलकर उसे भोग लेती हैं और ग्रन्थि–मुक्त रहती है। सेक्स के नाम पर कोई वर्जना नहीं है।.... क्षण है केवल–केवल इन्द्रियों की उत्तेजना का ताप–शमन है। यह उदात्त प्रेम नायक की मध्ययुगीनता से भरी लीला नहीं है। यहाँ तो सामान्य, तुच्छ लम्पट की लघुमानववादी दृष्टि का दर्शन है कि 'भोगो और भूल जाओ' जिस नारी को भोगा है, उसे याद ही मत करो ताकि कोई टेंशन हो..... यही लोकतंत्र है, यही 'पॉपुलर कल्चर' है... किसी के एक हजार रूपये पर एक रात सोने को राजी है। पवित्रतावादी सीता, सावित्रीवादी नैतिकता उसमें से गायब है।''[6]

श्री पालीवाल 'वृद्ध पूँजीवाद के सांस्कृतिक तर्क'' को पूँजीवाद बताते हैं।''[7] और उत्तर–आधुनिकता को सभी प्रकार की महानता, अन्यता, उदात्तता को विदाई देने का जिम्मेदार ठहराते हैं–

''यह उत्तर–आधुनिकता का ब्रह्मराक्षस ही है, जो राष्ट्रवाद को केन्द्र बनाकर उत्तर–उपनिवेशवाद को अघोर साधना में धकेल देता है क्योंकि यह बेलगाम स्थिति है और उपस्थित की अनुपस्थिति तथा अनपुस्थित की उपस्थिति। इसलिए हर तरह की महानता, भव्यता, उदात्तता को उत्तर–आधुनिकता विदाई देती है और एक सामान्यता का, साधारणता को सम्भव बनाने का नारा उछालती है। देह हो या रचना, धर्म हो या दर्शन सबको विज्ञापन बनाती है। दिलचस्प स्थिति यह है कि आधुनिक तमाम महान् लक्ष्य यहाँ आकर दीन और अनाथ हो जाते हैं।.... आधुनिकता के तर्क और विज्ञान की ऐसी–तैसी कर देते हैं... भूमण्डलीय समय है, जिसमें अनेक सत्ता–केन्द्र निरन्तर अनेकान्तता की ओर उन्मुख हैं।''[8]

नया ज्ञानोदय के इसी अंक (फरवरी 2010) अंक में श्री अजय तिवारी का आलेख भी प्रकाशित हुआ है, जिसका शीर्षक है– 'उत्तर–आधुनिक विश्व और प्राक्–आधुनिक विश्वबोध' कुछ अव्यवस्थित टिप्पणियाँ आलेख में श्री अजय तिवारी बाजारवादी भूमण्डलीकरण और उत्तर–आधुनिकता को सहचर मानते हुए बहुत मार्क की बात यह कहते हैं कि अमेरिका में उत्तर–आधुनिकता पर बहस खत्म कर दी गयी है, तब भारत में इसका पिष्ट–पेषण करने की क्या आवश्यकता है –

''उत्तर–आधुनिकता पर बहस हम तब कर रहे हैं, जब पश्चिम में वह समाप्त हो चुकी है। फ्रेडरिक जेनेसन ने उत्तर–आधुनिकता को 'वृद्ध पूँजीवाद का सांस्कृतिक तर्क' कहा था। यह परिभाषा लगभग सर्वमान्य हो चुकी है। वृद्ध पूँजीवाद का आर्थिक तंत्र भूमण्डलीकरण है। इसलिए हम कह सकते हैं कि बाजारवादी भूमण्डलीकरण और उत्तर–आधुनिकता एक–दूसरे के सहचर हैं।''[9]

और अब भूमण्डलीकरण की भारतीय विडम्बना पर एक संक्षिप्त टिप्पणी श्री खगेन्द्र ठाकुर की, जिसमें आज अमेरिका की दादागीरी के प्रति सावधान किया गया है। ये विचार श्री खगेन्द्र ठाकुर ने 'परिकथा' पत्रिका के जुलाई–अगस्त 2009 के अंक में 'भूमण्डलीकरण, विचारधारा और संस्कृति' शीर्षक से दिये आलेख में की है–

''पन्द्रह अगस्त 1947 के पहले हमारे देश के बारे में लंदन में फैसले होते थे और उन्हें लागू करने के लिए भारत में ब्रिटिश सरकार थी। यह था उपनिवेशवाद। आज हमारे देश में स्वतंत्रता है, और जनतंत्र भी है, फिर भी कैसी विडम्बना है कि फैसला होता है अमेरिका की राजधानी वाशिंटन में और भारत की स्वतंत्र जनतांत्रिक सरकार उन्हें लागू करने पर तत्पर है। यह है नवउपनिवेशवाद। यह है साम्राज्यवाद की नयी अवस्था। इस अवस्था में किसी देश में जाकर शासन करना जरूरी नहीं है। आज विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व–व्यापार–संगठन इतने शक्तिशाली संगठन हैं कि उनके निर्देश की उपेक्षा या अवज्ञा करना सम्भव नहीं है।''[10]

नया ज्ञानोदय (दिसम्बर 2010) के अंक में श्री शंभुनाथ ने 'विमर्श की जमीन' शीर्षक आलेख में उदय प्रकाश की कहानी 'वारेन हेस्टिंग्स का सांड' का हवाला देकर यह टिप्पणी की है कि 'एक विविधता से भरा देश जब साम्राज्य से बाहर निकल कर राष्ट्र बनता है, वह महज एक कल्पना नहीं होता, उस देश की आम जनता की असमाप्त आकांक्षा होता है। भारत में वैश्वीकरण के आगमन से क्या परिवर्तन हुआ, इसके विषय में श्री शंभुनाथ की धारणा है –

''भारत अभी राष्ट्र के रूप में पूरी तरह विकसित नहीं हुआ था कि वैश्वीकरण की घटना सिर पर आ गयी । अब आर्थिक और काफी हद तक सांस्कृतिक दृष्टि से राष्ट्र की सीमाओं का कोई अर्थ नहीं रह गया है। दुनिया भारत के लिए कितनी खुली या भारत दुनिया के लिए कितना खुला, यह अलग से विचार का विषय है। फिलहाल यह स्पष्ट है कि बहुराष्ट्रीय सौदागरों के जाल के बाहर बहुत कम चीजें बची हैं।''[11]

इस प्रसंग में इतना और स्पष्ट हो जाना चाहिए कि उत्तर आधुनिकता के इस समय में आधुनिकता के प्रति सन्देह ही इसकी वास्तविक पहचान है। डा0 परमानन्द श्रीवास्तव ने उत्तर–आधुनिकता और उत्तर औपनिवेशिकता को एक ही सिक्के के दो पहलू बताते हुए इस काल–खण्ड में 'संस्कृति' पर आये संकट का उल्लेख किया है–

''पृथकतावाद या अलगाव उत्तर औपनिवेशिक समय और समाज का प्रमुख लक्षण है। क्या हम 'ज्ञानकाण्ड' को लेकर संदिग्ध हैं! क्या सोवियत संघ के पतन के बाद सचमुच विधागत विचारधारा इतिहास का अन्त हो गया है। उत्पादन की संस्कृति से विमुख होकर उपभोगवाद में डूबना–उतरना क्या कोई संकेत देता है।××× क्या भविष्य केवल अमानवीयता या अजनबीपन के नाम है××× उत्तर–पूँजीवाद क्या संस्कृति को मीडिया–बाजार बनाने पर तुला है। व्यक्ति आज महज ग्राहक या उपभोक्ता या खरीददार है तो क्या वह संस्कृति और साहित्य को उत्पाद या माल समझ रहा है। ये कुछ सवाल संस्कृति–चिन्तकों को बैचेन करने वाले हैं।''[12]

अब अन्त में भूमण्डलीकरण का जो साहित्य पर कुप्रभाव पड़ा है, उसका आकलन श्री प्रणय कृष्ण के इस कथन द्वारा प्रस्तुत करके प्रस्तुत विषय का समापन किया जा रहा है–

''साहित्य के ही क्षेत्र को लें। आजकल यह कहने का चलन हो गया है कि साहित्य प्रतिरोध का क्षेत्र है, मानो कि यह कोई स्वयं सिद्ध बात हो। लेकिन यदि हम प्रकाशन जगत्, सरकारी खरीद, साहित्य–संस्कृति की सरकारी–संस्थाओं, कारपोरेट घरानों के साहित्यिक ट्रस्टों के जाल पर नजर दौड़ायें तो साहित्य की वर्तमान दशा–दिशा पर उनके प्रभाव को अनदेखा नहीं किया जा सकता।''[13]

सन्दर्भ–संकेत

1. नया ज्ञानोदय, फरवरी 2010, पृ0–85 ('पश्चिमवाद की तर्क दृष्टि में मध्ययुगीनता की वापसी का घपला' शीर्षक आलेख)

2. नया ज्ञानोदय, दिसम्बर, 2009, पृ0–23 ('उत्तर आधुनिक समय में मध्ययुगीनता की वापसी' शीर्षक आलेख)
3. वही, पृ0–21
4. नया ज्ञानोदय (मई, 2010) पृ0–51 ('उत्तर आधुनिकता, मध्ययुगीनता का पर्याय नहीं है' शीर्षक आलेख)
5. नया ज्ञानोदय (फरवरी, 2010) पृ0–83
6. वही, पृ0–84
7. वही, पृ0–84
8. वही, पृ0–83–84
9. वही, पृ0–77
10. परिकथा (जुलाई–अगस्त, 2009) पृ0–17
11. नया ज्ञानोदय (दिसम्बर, 2010) पृ0–125
12. नया ज्ञानोदय (फरवरी, 2008) पृ0–59
13. कथादेश (फरवरी, 2009) पृ0–26 (साम्राज्यवाद के खिलाफ, लोकतंत्र के लिए' शीर्षक आलेख से)

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

गद्दी कौन हैं

(हिमाचल प्रदेश की गद्दी जनजाति के सन्दर्भ में)

भरत सिंह
शोधार्थी हिन्दी विभाग
हिमाचल प्रदेश केन्द्रीय विश्वविद्यालय, धर्मशाला (हि.प्र.)

शोध-सारांश

भौगोलिक दृष्टि से हिमाचल-प्रदेश भारत का दुर्गम एवं प्राकृतिक सुषमा-सम्पन्न प्रदेश है। हिमाचल-प्रदेश के जिला चम्बा में अवस्थित हिमखंडों व प्राकृतिक सौन्दर्यता से परिपूर्ण 'भरमौर'(ब्रह्मपुर) जनपद गद्दी समुदाय का मूल निवास स्थान रहा है। 'गद्दी' शब्द का सीधा अर्थ- सिंहासन अथवा राजसिंहासन से है। पुरातन काल से शासन, धार्मिक या किसी अन्य प्रकार का संघ हो, प्रत्येक के लिए 'गद्दी' शब्द पूरे उत्तर-पश्चिमी भारत के हर प्रांत में प्रचलित था। जो जन जिस शासन और धार्मिक संस्था या मतों से जुड़ा होता था उसका सम्बोधन भी उस मत की गद्दी शब्द से होता था। यदि बात शासन संघ की गद्दी से करें, तो संघ शासन की व्यवस्था का अधिकार जिस क्षत्रिय कुलों में था, वह कुल अपना-अपना प्रतीक चिन्ह भी धारण करते थे। जिस क्षत्रिय कुल के मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय को संघ शासन का संचालक या राजा चुना जाता था, राज गद्दी पर उसी क्षत्रिय कुल का प्रतीक चिन्ह भी सिंहासन या राजगद्दी पर अंकित होता था। जो क्षत्रिय मूर्धाभिषिक्त थे, और संघ की राजगद्दी के हकदार थे, वह ही अपना प्रतीकात्मक चिन्ह धारण करने के अधिकारी थे, उन्हें संघ की गद्दी का अधिकार स्वतः ही प्राप्त था। जिस कारण उसका सम्बोधन गद्दीदार या गद्दी शब्द से लोक में प्रचलित था। चूँकि ब्रह्मपुर(भरमौर) में 'गद्दी' की स्थापना का श्रेय राजा मारू (550 ई.) तथा राज्याभिषेक में सम्मिलित एवं बराबरी के हकदार स्थानीय पांच-छः क्षत्रिय (सूर्य, चन्द्र, सोम) कबीलों के वंशज को दिया जाता है। पांचवी-छठी शताब्दी में भरमौर रियासत के संस्थापक राजा मारू और पांच-छः आर्य जाति के क्षत्रिय कबीलों ने मिलकर ब्रह्मपुर (चम्बा) में शासन व्यवस्था की स्थापना की, तो इस जनपद का नाम उन क्षत्रिय कबीलों की जातिगत उपाधि 'गद्दी' के नाम से 'गद्देरण' (गद्दियों का साम्राज्य या जनपद) भी कहलाने लगा। ब्रह्मपुर में संघ की गद्दी अथवा राजसिंहासन स्थापित होने और इनकी स्थापना में सम्मिलित क्षत्रिय वर्ण के लोगों को 'गद्दी' शब्द से अलंकृत किया जाने लगा, जिन्हें कालान्तर में 'गद्दी' की संज्ञा दी जाने लगी। 'गद्दी' शब्द राजा के तुल्य सम्मानजनक या राजा का ही पर्यायवाची होने से सम्माननीय था जो कालान्तर में राजनीतिक, भौगोलिक व सामाजिक कारणों के उलटफेर में केवल 'भेड़पालक' समुदाय के रूप अपनी प्रतिष्ठा खो बैठा। श्री अमरसिंह रणपतिया ने स्पष्ट शब्दों में गद्दियों को क्षत्रिय वर्ण से सम्बन्धित माना है। अपनी पुस्तक हिमाचली

लोक-साहित्य में वह लिखते हैं- "व्यापक अर्थ में यह प्रजाति विभिन्न वर्ग का समूहमात्र है जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, शुद्रादि वर्ग सम्मिलित हैं। सीमित अर्थ में 'गद्दी' एक विशेष वर्ग है जो इन वर्णों से अलग है। यह वर्ग व्यवसायिक दृष्टि से भेड़पालक है परन्तु वर्ण-व्यवस्था के आधार पर क्षत्रिय वर्ण के समीप है। भरमौर का ब्राह्मण वर्ग स्वयं को गद्दी न कहकर, ब्राह्मण कहना श्रेयस्कर समझता है। इसी प्रकार निम्न वर्ग के लोक अपने आपको 'शिप्पी' और 'हाली' ही कहते हैं।"[1] यहाँ यह जान लेना अतिआवश्यक है कि 'गद्दी' और 'तंतीपाल'(मेषपालक या गडरिया) में भेद है। भूलवश अनेक लोग मेषपालकों को ही 'गद्दी' समझते हैं जो तर्कसंगत नहीं है। वास्तव में 'गद्दी' शब्द राजसिंहासन से जुड़ा हुआ है जबकि भेड़-बकरियों को चराने वाले को 'तंतीपाल' या पुहाल की संज्ञा दी जाती है।

बीजशब्द:

ब्रह्मपुर, गद्दी, गद्देरण, तंतीपाल, राजसिंहासन, मूर्धाभिषिक्त, गब्दिका, औदुम्बर, ओहरू, द्रुबियाल, जनश्रुतियां, परम्पराएँ।

मूलआलेख :

सामान्यतः किसी भी व्यक्ति, स्थान अथवा समुदाय विशेष के नामकरण के पीछे कोई-न-कोई सामाजिक, ऐतिहासिक, धार्मिक अथवा पौराणिक घटना जुड़ी रहती है। चूँकि ब्रह्मपुर अथवा भरमौर एक ऐतिहासिक एवं धार्मिक स्थल है, इसलिए इस क्षेत्र और यहाँ पर निवास करने वाले जनसमुदाय के नामकरण सम्बन्धी अवधारणाओं में ऐतिहासिक, धार्मिक घटना का होना स्वाभाविक है। ऊँचे-ऊँचे रजतधवल पर्वत-श्रृंखलाओं से रक्षित शैव-सम्प्रदाय के अनुयायी होने के कारणवश यहाँ के लोकमानस में अब भी प्रागैतिहासिक-कालीन मान्यताओं के दिग्दर्शन होते हैं। किन्तु ऐतिहासिक साहित्य और अन्य प्रामाणिक सामग्री के अभाव में किसी जाति अथवा समुदाय विशेष की उत्पत्ति, क्रमिक विकास एवं उसके ग्रामीण अंचल की विभिन्न ऐतिहासिक-धार्मिक घटनाओं को तथ्यात्मक ढंग से उसका प्रस्तुतिकरण करना कठिन हो जाता है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु प्राचीन इतिहास की कड़ियों को क्रमबद्ध करने के लिए जन-श्रुतियों, प्रथा-परम्पराओं, मान्यताओं और लोकसाहित्य का सहारा लेना पड़ता है। संयोगवश यही स्थिति जनजातीय क्षेत्र भरमौर तथा सम्बन्धित गद्दी समुदाय की है।

सीधे शब्दों में 'गद्दी' शब्द से अभिप्राय- सिंहासन (आसन), राजवंश अथवा राजगद्दी से है। चूँकि गद्दी समुदाय शैव-उपासक हैं, इनका रहन-सहन, खानपान, वैवाहिक-पद्धति, संस्कार, वेशभूषा तथा लोकसंस्कृति भगवान शिव के अनुरूप है। इस समुदाय में प्रचलित मान्यता के अनुसार पौराणिक काल से ही ब्रह्मपुर नगरी में भगवान शिव की 'गद्दी'(सीट अथवा सिहासन) थी। भगवान शिव की गद्दी के समीप निवास करने और कालान्तर में 550ई. में राजा मारू द्वारा स्थानीय क्षत्रिय(गद्दी) कबीलों के सहयोग से भरमौर में आधिकारिक तौर पर 'गद्दी' की स्थापना करके 'ब्रह्मपुर' रियासत की स्थापना की। भरमौर के गद्दी समुदाय में बोली जाने वाली गद्दियाली जनभाषा में गद्दी शब्द का अर्थ है-आसन अथवा सिंहासन है। लेकिन ब्रह्मपुर रियासत की राजगद्दी पर यहाँ के क्षत्रिय कबीलों का बराबरी का हकदार होने के कारणवश इस वर्ग को सीधे तौर पर 'गद्दी' शब्द से सम्बोधित किया जाता है अन्य वर्णों को गद्दी ब्राह्मण, गद्दी सिप्पी, गद्दी बाढ़ी इत्यादि की संज्ञा दी जाती है, लेकिन गद्दियार क्षेत्र में निवास

करने के कारणवश सभी वर्ण 'गद्दी' समुदाय में आते हैं। मोहनलाल गुप्ता के विचारों में "प्राचीन काल से ही भारत की विभिन्न रियासतों की राजधानियों को 'गद्दी' कहकर सम्बोधित किया जाता रहा है। चूँकि भरमौर भी किसी-न-किसी रूप में गद्दी बनी रही। गद्दी से सम्बन्धित रहने के कारण यहाँ के निवासी अपने को 'गद्दी वाले' कहकर सम्बोधित करते रहे होंगे जो कालांतर में गद्दी ही बनकर रह गया।"[2] अतः प्रागैतिहासिक काल से ब्रह्मपुर में भगवान शिव की गद्दी अथवा आसन होने तथा 5-6वीं शताब्दी में राजा मारू ने इसी 'गद्दी' को अपने राज्य का प्रतीक मानकर यहाँ के समस्त लोगों को संगठित करके एक संघ की स्थापना कर, इस रियासत में समस्त लोगों के 'गद्दी' शब्द लोक में प्रसिद्ध हुआ जिसका सम्बोधन आज हम गद्दी-समुदाय के रूप में करते हैं। लेकिनसम्प्रतिकालमें भूलवश भेड़-बकरी (धण) के पालक जिसे स्थानीय भाषा में 'पाहल या पुहाल' की संज्ञा दी जाती है, उन्हें ही गद्दी समझा जाता है। विभिन्न विद्वानों ने इसी दिशा में अपने-अपने मतों का प्रतिवादन करके 'गद्दी' शब्द के अर्थ सम्बन्धी अनेक अवधारणाएं दी हैं, जिनका सम्यक अनुशीलन करके किसी निश्चित अर्थ तक पहुँचा जा सकता है।

'गद्दी' शब्द सम्प्रतिकाल तक अनसुलझा रहा है। ब्रह्मपुर जैसे पहाड़ी और बर्फीले क्षेत्र में 'गद्दी' शब्द का प्रयोग कब और किस अर्थ हेतु प्रयुक्त किया जाता है, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतैव्य हैं। विभिन्न विद्वानों ने इस विषय में तर्कसंगत तथ्यों के आधार पर अपने-अपने अनुमान प्रस्तुत किए हैं।

बहुत से विद्वान लेखकों ने 'गाडर' से गडरिया या 'गाडरी' शब्द का अपभ्रंश रूप गद्दी सिद्ध किया है। अमर सिंह रणपतिया इस विषय के सम्बन्ध में लिखते हैं- "गद्दी शब्द की व्युत्पत्ति 'गाडर' शब्द से उपयुक्त जंचती है। 'गाडर' शब्द संस्कृत शब्द है और इसका अर्थ 'भेड़' है। 'गाडर से फिर 'गाडरी' और फिर 'गद्दी' हो गया।"[3] वंशीराम शर्मा कृत- 'हिमाचल की पौराणिक जन-जातियाँ' में उद्धृत विदेशी इतिहासकारों हच्चिसन और वोगल के मतानुसार वह यहाँ तक नहीं रुके उन्होंने जैसे-तैसे 'गाडर' शब्द को 'गड्डर' तथा 'गड़रिक' तक पहुँचाकर 'भेड़ चराने वाला' सिद्ध कर दिया- "गादेरन शब्द संस्कृत के 'गड्डर' शब्द से बना है। संस्कृत में 'गड्डर' का अर्थ –भेड़ और 'गडरिक' का अर्थ है– भेड़ो की पंक्ति। भेड़ो को चराने वाले व्यक्ति को गडरिया अभी तक कहा जाता है। 'गडरिक' शब्द 'इक' प्रत्यय लगाने से बना है। उसी से गद्दी शब्द बना है।"[4] यदि एक समय के लिए मान भी लिया जाएँ की गाडरी, गड्डर का अपभ्रंश रूप गद्दी है, तो पुरात्तन काल से ही भारतवर्ष के राजसिंहासन (राजगद्दी) को 'गद्दी' शब्द से सम्बोधित किया जा रहा है, ऐसी स्थिति में राजसिंहासन से जुड़ा शब्द 'गद्दी' भी 'भेड़पालक' हुआ जो पूर्णतः अतार्किक और हास्यास्पद है। बहुत से भारतीय विद्वानों ने बिना कुछ सोचे समझे इन विदेशी इतिहासकारों का अनुसरण करते हुए 'गाडरी' या 'गड्डुलिका' से 'गद्दी' शब्द की व्युत्पति गढ़ दी, जो तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती। गद्दियाली लोकभाषा में भेड़पालक को 'तंतीपाळ' अथवा पुहाल' शब्द से सम्बोधित किया जाता है। समझ में नहीं आता लेखक महोदय सिद्ध क्या करना चाहते हैं ? कुछ समय के लिए मान भी लिया जाए कि 'गाडर' या 'गड्डर' से गद्दी शब्द की व्युत्पत्ति हुई है, तो भरमौर के सीमांत क्षेत्रों-पांगी, चुराह सहित हिमाचल-प्रदेश, राजस्थान, पंजाब, उत्तराखंड

आदि प्रान्तों में भेड़-बकरी का व्यवसाय करने वाले व्यक्ति भी गद्दी कहलाएंगे जबकि ऐसा नहीं है। जबकि संस्कृत में भेड़ को 'अबी' तथा मेष कहा जाता है। गद्दी समुदाय का भेड़-बकरी पालने का व्यवसाय अवश्य रहा है क्योंकि अपने प्रारम्भिक काल में मानव-जाति पशु-पालन और खेतीवाड़ी करके अपना निर्वाह करता था। बिना कुछ जाने समझे विद्वान लेखकों ने 'भेड़' को 'गद्दी' शब्द से जोड़ दिया जो पूर्णतः अतार्किक है।

उपर्युक्त विद्वान लेखकों द्वारा 'गाडरी' शब्द से 'गद्दी' होने के सम्बन्ध में श्री रत्न चंद वर्मा जी ने इनकी कटु आलोचना करते हुए लिखा हैं- "लेखक महोदय फिर भी नहीं रुके और गाडर से गाडरी और गाडरी शब्द का अपभ्रंश रूप देकर गद्दी बना दिया। इतने तक भी मन नहीं माना तो गद्देरण शब्द की व्युत्पत्ति घट डाली। उसको अपभ्रंश कर गडेरन कर दिया। यहाँ तक भी बात न बनी देख, किसी पुराण/महाभारत का सहारा लेकर लेकर गंधारण शब्द की उत्पत्ति कर दी, जिसका वर्णन किसी पुराण अथवा महाभारत में कहीं जिक्र ही नहीं हुआ है। हाँ महाभारत में गंधारी शब्द अवश्य प्रयोग हुआ है जो गंधार देश की युवतियों के लिए प्रयोग हुआ है।"[5] अतः 'गाडर' से 'गाडरी' और 'गाडरी' का अपभ्रंशित गद्दी कहलाना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता।

पाणिनि कृत अष्टाध्यायी में 'गब्दिका' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका सम्बन्ध पूर्ववर्ती विद्वानों ने 'गद्दी-प्रदेश अथवा चम्बा वादी के लिए माना है। श्री नंद कुमार इसी मत को अपने शब्दों में प्रस्तुत करते हुए लिखते है – "इसी क्षेत्र के लिए 'गब्दिका' शब्द का प्रचलन भी पाणिनी-काल में था, जो आज गद्दी का पर्यायवाची समझा जाता है। पाणिनि ने यहाँ के लोगों को 'गब्दिक' तथा इनके देश को 'गब्दिका' लिखा है। संस्कृत भाषा में 'गडर' शब्द भेड़ के लिए प्रयुक्त किया है और सम्भवतः 'गधेरन' तथा 'गद्दी' शब्द भी इसी 'गडर' शब्द से ही बने हों।"[6] महान व्याकरणाचार्य पाणिनि ने कही नहीं कहा है कि 'गब्दिका' ब्रह्मपुर अथवा भरमौर का गद्दी प्रदेश है या होगा। यह बात कालान्तर में 1950 ई० के आसपास प्रबुद्ध विद्वान इतिहासकार वासुदेवशरण अग्रवाल कृत 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' में केवल शब्दों के मेल से मात्र शंका व्यक्त की थी, कि हो सकता है 'गब्दिका' शब्द चम्बा वादी के लिए प्रयुक्त हुआ हो। हाँ इतना अवश्य हो सकता है कि संस्कृत साहित्य में जनपदों के नाम के आधार पर उस क्षेत्र का नामकरण होता था। जिस प्रकार पाणिनि कृत अष्टाध्यायी में 'गब्दिका' शब्द आया है वह किसी जनपद के रूप में प्रयुक्त हुआ है। तो ऐसा हो सकता है कि पुरातन काल में भरमौर जनपद के लिए 'गब्दिका' शब्द का प्रयोग होता होगा लेकिन अभी तक मिले ऐतिहासिक प्रमाणों में कहीं भी भरमौर का पौराणिक नाम 'गब्दिका' आया है। अभी तक भरमौर जनपद का पौराणिक नाम ब्रह्मपुर आया है।

महान व्याकरणाचार्य पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी'(4/3/93) में 'गब्दिका' शब्द का प्रयोग पर्वताश्रयी जनपद के रूप में उल्लेखित किया हैं। जिन्होंने 'गब्दिका' को त्रिगर्त, युगन्धर, कालकूट भारद्वाज आदि जनपदों के ऊपरी भूभाग अर्थात ब्रह्मपुर(गद्देरण)-चम्बा वादी के अर्थ में माना है, जबकि इस समय तक चम्बा का अस्तित्व था ही नहीं। इस सम्बन्ध में वासुदेवशरण अग्रवाल अपनी पुस्तक 'पाणिनिकाल भारतवर्ष' में लिखा है- "पतंजलि ने गब्दिका को तत्कालीन आर्यवर्त के बाहर रखा है। धौलाधार के ऊपर चम्बा राज्य में गद्दियों का गद्देरन प्रदेश प्राचीन गब्दिका ज्ञात होता है।"[7] इस

हो सकने को ही आधार मानकर कुछ इतिहासकारों ने भरमौर को 'गब्दिका' बना दिया जो संदिग्ध है। भरमौर में पुरातात्विक विभाग द्वारा अभी तक जितने भी ताम्र-पत्र, शिलालेख, सिक्के एवं अन्य प्रमाण मिले हैं उनमें कही भी 'गब्दिका' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। फिर भी 'गब्दिक' शब्द का अपभ्रंश अथवा पर्यायवाची 'गद्दी' होना स्वाभाविक प्रतीत तो होता है किन्तु तद्पि 'गब्दिक' शब्द अपनी व्युत्पत्ति के विषय में पुनः एक समाधान की अपेक्षा करता है।

' गद्दी' शब्द को जातीय विधान से जोड़कर विद्वान लेखक वर्तमान परिप्रेक्ष्य लक्षित कर इस शब्द को विदेशी आक्रमण की अनघटित घटना से जोड़कर एक बार पुनः इनके ऐतिहासिक व सांस्कृतिक परिदृश्य को नष्ट किया। इस श्रेणी के विद्वान लेखकों ने गद्दी समुदाय को मुस्लिम आक्रांताओं के भय से लाहौर तथा दिल्ली के आसपास क्षेत्रों भागकर ब्रह्मपुर आने का तर्क देते हैं। लेकिन यह तथ्य पूर्णतः अप्रामाणिक और असंगत है क्योंकि भारतवर्ष में इस्लाम धर्म के आने से 400-500 वर्ष पर्व भरमौर में 'गद्दी' की स्थापना हो चुकी थी और भरमौर की 'गद्दी' पर विराजित प्रतापी एवं बलवान शासक मेरु वर्मन के संरक्षण में 680 ई. में 'गद्दी-सेना' ने कुल्लूत की रियासत के साथ युद्ध लड़ा था। इससे यह बात परिलक्षित होती है कि तथाकथित स्वयंघोषित बुद्धिजीवी इतिहासकारों के हिमालय के आदिवासी 'गद्दी' समुदाय के सम्बन्ध में निराधार मनगढंत घटनाएँ लिखी हैं, जो वर्तमान परिप्रेक्ष्य पर ही आधारित हैं, उन्होंने अतीत में जाकर इनके वास्तविक इतिहास की पड़ताल नहीं की है।

गद्दी समुदाय को 'उजड़िया लाहौर तै बसिया भरमौर' कहावत से भी काफी हानि उठानी पड़ी है। यह कहावत न जाने किस मानसिकता के साथ किन लोगों ने गढ़ी है। यह कहावत कहने में जितनी सरल परिलक्षित होती है,उसके पीछे भौगोलिक हकीकत उतना ही दुःखदायी और अव्यवस्थित सिद्ध होता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि लाहौर और भरमौर के भौगोलिक परिवेश को देखते हुए किसी भी प्रकार से कोई भी प्रवासी दुर्गम पर्वतीय चोटियों को लांघकर सीधे ब्रह्मपुर नहीं पहुँच सकता। अतः लाहौर से भरमौर पहुँचने के लिए उन्हें मैदानी रास्तों यथा- अमृतसर, गुरदासपुर, पठानकोट, नूरपुर, त्रिगर्त से होकर ही पहुँचा जा सकता है। लेकिन उस समय उक्त क्षेत्रों में अपना स्वतंत्र साम्राज्य था। इसीलिए किसी भी राज्य की सीमा में अपनी स्वेच्छा से नहीं आया जा सकता। वस्तुस्थिति इसके विपरीत है इस समुदाय के लोग औदुम्बर-काल के समय से ही इन मैदानी इलाकों में अपने रेवड के साथ विचरण करते रहते थे। गद्दी समुदाय की सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में औदुम्बरकालीन गणराज्य की प्रतिछवि झलकती है। यह समुदाय पूर्वकाल से लेकर वर्तमानकाल तक गुरदासपुर, अमृतसर, जालंधर और धौलाधार की तलहटी में विचरण करता आया है। यह समुदाय कहीं से, किसी भी परिस्थितियों में मुस्लिम आक्रान्ताओं द्वारा निर्वासित नहीं हुआ, अगर किसी क्षेत्र से निर्वासित हुए भी होंगे तो वह अपनी इच्छानुसार हुए होंगे, किसी के भय या दमन में आकर नहीं।

गद्दी समुदाय को हिमालय के आदि निवासियों में से एक हैं जिनकी सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि औदुम्बर वंशीय के सामीप्य प्रतीत होती है, जिन्हें हिमाचल-प्रदेश की सबसे प्राचीन जनजातियों में से एक माना जाता है। वस्तुतः औदुम्बर साम्राज्य के लोग भी शिव के परम उपासकों में से एक थे और उनका पारम्परिक व्यवसाय भी भेड़-बकरी पालन था। जब औदुम्बरों का पतन हुआ और

वह अपने पर्वतीय भूभाग की ओर चले गए वहाँ पर उचित अवसर पाकर मारू ने भगवान शिव की अनुकम्पा से स्थानीय क्षत्रिय कबीलों को सगंठित करके एक संघ में स्थापना की। भगवान शिव की 'गद्दी' को राज्य का प्रतीक मानकर ब्रह्मपुर साम्राज्य की नींव रखी। जिसके परिणामतः ब्रह्मपुर में संघ की 'गद्दी' पर क्षत्रिय कबीलों का बराबरी का हक होने के कारणवश कालान्तर में उनकी समस्त संतति 'गद्दी' के नाम से लोक में प्रसिद्ध हुए। जब भी कोई नया राजा संघ की 'गद्दी' पर विराजमान होता था तो उन्हें 'गद्दियों की वेशभूषा' अर्थात चोला, ड़ोरा, सिर पर कैलाश पर्वत के शिखर जैसा टोप धारण करना पड़ता था जो गद्दीपन का स्मरण करवाता है। इसकी पुष्टि श्री रत्न चंद वर्मा में अपनी पुस्तक में किया है– "20वी. शती के शुरू में चम्बा के राजा भूरी सिंह ने, अंग्रेज इतिहासकार जे. पी. ऐच. वोगल के प्रयत्नों से चम्बा में भूरी सिंह संग्रहालय के नाम से एक ऐतिहासिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक पुरातन अवशेषों को संग्रहित किया गया था, जिसमें इस समुदाय सम्बन्धी गद्दी पहरावा भी था, जिसको अपने राज्यारोहण के अवसर पर प्रत्येक राजा को अपने गद्दीपन की याद को ताजा करने के उद्देश्य से पहनना आवश्यक होता तह। इससे ज्ञात होता है कि गद्दी समुदाय का इतिहास कितना गौरवशाली था, कि राजा को प्रजा का राजा होने की मान्यता तभी मिलती थी जब वह गद्दी पहनावे को पहन लेता था।"[8] इस प्रसंग में एक छायाचित्र की खोज की गई है जो ब्रह्मपुर के इतिहास को उजागर करती है।

यह छायाचित्र 1904 में लिया गया था, जिसमें चम्बा रियासत के भरमौर विज़ारत के रियासत कर्मी हैं। चित्र के केंद्र में आसन पर विराजमान भरमौर के 'चाड़' हैं जिन्होंने अपनी कमर में बांधे काले रंग के डोरे में भरमौर रियासत की सील बाँध रखी है। चाड़ के दाहिने और अंत में बाएँ जिन्होंने अपने डोरे में चकमक बाँध रखा है यह रियासत के बटवाल हैं। चाड़ के बिलकुल साथ बायीं ओर विज़ारत का चौंकीदार खड़ा है। साथ ही चाड़ के समीप ओहरू (प्रजा से दूध, घी एकत्रित करने वाला कर्मी) और द्रुबियाल (प्रजा से कर एकत्रित करने वाला) बैठे हैं। भरमौर चौरासी में रियासत का शानदार महल था

जो 1905 ई. में आए भूकंप से क्षतिग्रस्त हो गयी थी। बाद में इस महल का मुरम्मत की गयी और आजादी के पश्चात इस महल को उखाड़कर यहाँ पर विद्यालय की स्थापना की गई थी। स्थानीय जनमानस के अनुसार भरमौर रियासत के राजमहल में अनेक बहुमूल्य वस्तुएं एवं ऐतिहासिक-धार्मिक पुस्तकें थी, जिनको किसी षडयंत्र के तहत चोरी और किताबों को जला दिया गया ताकि ब्रह्मपुर का गौरवपूर्ण इतिहास हमेशा के लिए नष्ट हो जाएँ। लेकिन सत्य को छुपाया नहीं जा सकता वे किसी-न-किसी रूप में उद्घाटित अवश्य होगा। आज आवश्यकता है कि ब्रह्मपुर के इतिहास की पुनः खोज की जाएँ ताकि सभी लोग यहाँ की वास्तविकता को जान सके।

अन्ततोगत्वा कहा जा सकता है कि 'गद्दी' समुदाय हिमालय के स्थायी निवासी हैं इनके गौरवशाली इतिहास को देखते हुए इन्हें 'भरमौर-चम्बा के वीर संस्थापक' कहा जा सकता है। चम्बा गैजटियर में विदेशी विद्वान इतिहासकारों डॉ. जे. हच्चिसन और वोगल ने इनके गौरवशाली इतिहास का अवलोकन करते इन्हें सदियों से ब्रह्मपुर का स्थायी निवासी सिद्ध करते हुए लाहौर या किसी अन्य क्षेत्रों से आने वाले भगौड़े नहीं मानते हुए लिखते हैं- "These traditions are not irreconcilable with the story that Bharmour, the ancient Brahmpura, is the home of the gaddis ; for doubtless the nucleus of their confederation had it seats in the Dhauladhar in with range Hindus have from time to time sought an asylum from war and persecution in the plains."[9]

' गद्दी' शब्द और उसके इतिहासपरक तथ्यों को सबूतों-प्रकरणों का रूप देकर श्री रत्न चंद वर्मा ने अपना मत स्पष्ट करते हुए लिखा है- "गद्दी शब्द की व्युत्पत्ति जाति एवं समाज के लिए नहीं, अपितु अलंकरण के रूप में उस विशेष वर्ण के लोगों के लिए थी जिन्होंने गद्दी की स्थापना की थी। जिसका सम्बोधन आज हम गद्दी जाति के रूप में करते हैं ।"[10] उक्त परिभाषा कहीं-न-कहीं 'गद्दी' शब्द के वास्तविक अर्थ की प्रतीति करवाती हैं। क्योंकि इन्होंने गद्दी और भेड़पालक पुहाल में तात्विक भेद करते हुए सम्पूर्ण समुदाय को शिव और राजवंशावली के साथ जोड़कर शोधपरक-भगीरथ प्रयास किया है जो हर दृष्टि से सराहनीय है। 'भरमौर-चम्बा के वीर संस्थापक गद्दी' पुस्तक के प्राक्कथन में डॉ. गौतम शर्मा व्यथित लिखते हैं- "शब्द की वास्तविकता व इतिहास तलाश करने की सतत प्रयास में जो तर्क किसी-पक्ष विपक्ष में दिया है उसे सन्दर्भ सहित यथोचित स्थान पर प्रमाणित भी किया है। गद्दी शब्द को सिंहासन, राजवंश से जोड़ना और उसके इतिहासपरक तथ्यों को सबूतों-प्रकरणों का रूप देकर अपना मत स्पष्ट करना एक समर्पित शोध छात्र की चारित्रिक इमानदारी कहा जा सकता है।"[11]

विवेच्य समुदाय से सम्बन्धित लोगों से लिए गए मौखिक साक्षात्कारों के अनुसार इनके लोकमानस में प्रचलित जनश्रुतियों और मान्यताओं के आधार पर पता चला कि यह लोग 'गद्दी' शब्द का अर्थ- "ब्रह्मपुर में शिव की गद्दी(सिंहासन) तथा राजसिंहासन के अर्थों में बताते हैं।"[12] डॉ. गौत्तम शर्मा व्यथित ने भी ब्रह्मपुर में 'गद्दी' (सिंहासन, आसन अथवा राजसिंहासन) के होने और इसी से इस समुदाय के नामकरण और यहाँ के निवासियों को गद्देरण(गद्दियों का निवास स्थान) का सूचक मानते हैं- "भरमौर या 'ब्रह्मपुर' चम्बा रियासत की प्राचीन राजधानी थी जहाँ भरमौर के राजा साहिल वर्मा

(920 ई०) के समय नौ नाथों ने धूनी रमाई थी। बाद में चम्बा को राजधानी बनाया। कुछ विद्वानों का मत है कि भरमौर के लोग जब चम्बा में आते थे तो राजा की ओर से आदर-खातिर पाते। तब ऐसा महसूस होता मानों भरमौर की गद्दी ही उठकर आ गई हो। अतः भरमौर के लोगों को आदर से 'गद्दी' कहा जाने लगा जो बाद में वहाँ के निवासियों का सूचक बन गया।"[13]

निष्कर्ष :

उपर्यक्त समस्त विद्वानों और विवेच्य समुदाय के जनमानस में प्रचलित ' गद्दी' शब्द सम्बन्धी विभिन्न अवधारणाओं के सम्यक अवलोकन करने के उपरांत निष्कर्षतः कहा जा सकता है- गद्दी शब्द सिंहासन अथवा राजसिंहासन से जुड़ा हुआ प्रतीकात्मक शब्द है जो इस क्षेत्र के क्षत्रिय वर्ण के लोगों को अलंकरण के रूप में प्रयुक्त हुआ, जिसे सम्प्रतिकाल में गद्दी जाति से सम्बोधित करते हैं। विशेषयतः इस समुदाय के पूर्वजों ने ही ब्रह्मपुर अर्थात भरमौर रियासत की स्थापना की थी और संघ की राजगद्दी पर विराजित होने के कारणवश इन्हें लोक में 'गद्दी' की उपाधि से अलंकृत किया जाने लगा। किन्तु कालान्तर ने गद्दी शब्द व्यक्तिवाचक और जातिवाचक संज्ञा रूप में रूढ़ होता गया।

ध्यातव्य है कि गद्दी और पाहल(चरवाहे) दो अलग-अलग शब्द हैं। व्यवहारिकता एवं व्युत्पत्तिपरक लोक व्यवहार में भी ये दोनों शब्दों का अर्थ भिन्न-भिन्न है। गद्दी शब्द के सम्बन्ध में पूर्व में चर्चा हो चुकी है । लेकिन भेड़-बकरियों के साथ विचरण करने वाले चरवाहे को स्थानीय लोक-भाषा में 'पाहल' अथवा पुहाल की संज्ञा दी जाती है जो अक्सर पर्वतीय चारागाहों के आंचलिक सौन्दर्य में विचरण करता जीवन भर आनन्द लेता निश्चिंत-निर्भीक जीवन जीता है। भूलवश प्रायः कई विद्वान इतिहासकार, साहित्यकार एवं अन्य लोग गद्दी पहचानते, कहते हैं। इस मत का समर्थन करते हुए महापंडित राहुल सांकृत्यायन लिखते हैं – "गद्दी का नाम बाहर सुनकर लोग यह समझते हैं कि यह मेषपालों की कोई जाति है, पर वस्तुतः यह एक इलाके के लोगों का नाम है, जिनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय (राजपूत) खत्री आदि जातियाँ हैं।"[14] व्यापक अर्थों में इन वर्णों में केवल क्षत्रिय वर्ग के लोगों को ही गद्दीदार या 'गद्दी' कहा जा सकता हैं। जबकि सिमित अर्थ में ब्रह्मपुर की गद्दी रियासत में निवास करने वाले समूचे क्षेत्र को 'गद्देरण' तथा यहाँ पर निवास करने वाले समस्त जनमानस को गद्दी समुदाय से अभिहित किया जा सकता है।

सदियों से ब्रह्मपुर क्षेत्र में निवास करने के फलस्वरूप गद्दी समुदाय का जनजीवन, आचार-विचार, रहन-सहन, खान-पान, धार्मिक आस्थाएं , लोक-संस्कार एवं मान्यताएं सभी शिवानुरूप, शिवानुकूल, शिव के इर्द-गिर्द घूमी हुई शिव-केन्द्रित हैं। शिव ऊँचे पर्वतों, वर्फ(हिम) से लदे व ढके कैलाश में सपरिवार रहते हैं,उन्हीं के अनुरूप 'गद्दी' समुदाय भी ऊँचे हिमाच्छादित पर्वतीय क्षेत्रों में निवास करते हैं। शरद ऋतु के आरम्भ होने पर शिवजी कैलाश से पाताल की ओर प्रस्थान करते हैं। गद्दी समुदाय भी उनका अनुकरण, अनुसरण करते हुए शरद ऋतु में जांधर अर्थात समतलीय भूभाग की ओर जाते हैं। गद्दी समुदाय की पारम्परिक वेशभूषा भी शिवपरक है। सिर पर सजी सफेद ऊनी टोपी पूर्व रूपेण कैलाश पर्वत के आकार पर बनी है। बर्फ समान सफेद ऊनी-चोले को काले रंग के ऊनी लम्बे डोरे से लपेटते हैं जो शिवजी के श्रीविग्रह पर लिपटे नागदेव का प्रतीक है। शिवजी एक घुमन्तु, तपस्वी,

विनोद प्रिय, भोले-भाले देव हैं। ये समस्त गुण गद्दी समुदाय ने भी अपने लोक-जीवन में ग्रहण कर रखे है। 'गद्दी समुदाय' एकमात्र ऐसा समुदाय है जो शिव-विवाह करता है। इस प्रकार इन्हें शिव के गण अथवा अनुयायी कहना अन्योचित नहीं होगा।

सन्दर्भ :

१. रणपतिया, अमर सिंह;(१९८६), हिमाचली लोक-साहित्य,सन्मार्ग प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० ११

२. .गुप्ता,मोहनलाल, (१९७८), गद्दियार क्षेत्र का इतिहास, सोमसी पत्रिका, पृ०५७

३. रणपतिया,अमर सिंह; हिमाचली इतिहास और संस्कृति के अंश, पृ० १२०

४. शर्मा, वंशीराम हिमाचल की पौराणिक जन-जातियाँ, पृ०९०

५. वर्मा, रत्न चंद; (२०१५), भरमौर-चम्बा के संस्थापक वीर गद्दी,सावित्री ऐतिहासिक शोध केंद्र, उपरली दाड़ी धर्मशाला हि.प्र.,पृ०४

६. कुमार, नंद, गद्दी जनजीवन एवं सामाजिक परम्परा, पृ०७४

७. अग्रवाल,वासुदेवशरण पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ०७६

८. वर्मा, रत्न चंद; (२०१५), भरमौर-चम्बा के संस्थापक वीर गद्दी,सावित्री ऐतिहासिक शोध केंद्र, उपरली दाड़ी धर्मशाला हि.प्र., पृ०४

९. गजटीयर ऑफ़ चंबा स्टेट; (१९०४), पृ०१३७

१०. वर्मा, रत्न चंद; २०१५)भरमौर-चम्बा के संस्थापक वीर गद्दी,सावित्री ऐतिहासिक शोध केंद्र, उपरली दाड़ी धर्मशाला हि.प्र.,पृ००२

११. वर्मा, रत्न चंद; (२०१५), भरमौर-चम्बा के संस्थापक वीर गद्दी,सावित्री ऐतिहासिक शोध केंद्र, उपरली दाड़ी धर्मशाला हि.प्र., पृ००१

१२. साक्षात्कार- शर्मा, केशव; (२०१९), बाड़ी भरमौर, जिला चम्बा, हिमाचल प्रदेश |

१३. व्यथित,गौत्तम शर्मा हिमाचल की जनजाति गद्दी देव परम्परा और संस्कृति, साहित्य रत्न,दिल्ली, पृ.- १३

१४. सांकृत्यायन, राहुल; (२००९), हिमाचल, वाणी प्रकाशन, पृ०२८७

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

''उद्यमिता व उसकी आर्थिक विकास में भूमिका''

डा0 सुधा राजपूत
असि0 प्रोफे0–बी0एड0 विभाग
श्री वार्ष्णेय कॉलेज, अलीगढ़

Abstract

विकास के किसी भी सुदृढ कार्यक्रम में औद्यौगिक विकास को अनिवार्यतः एवं अंततः एक व्यापक भूमिका का निर्वाह करना होता है। अर्थात औद्योगिक विकास आर्थिक विकास की एक ऐसी प्रक्रिया है जो किसी परम्परागत अर्थव्यवस्था में व्याप्त अवरोध को समाप्त करके किसी राष्ट्र की आर्थिक एवं सामाजिक प्रगति को नयी दिशायें प्रदान करती है। अतः स्पष्ट है कि तीव्र आर्थिक विकास के लिए आधारभूत संरचना के निर्माण के साथ–साथ देश में उद्यमिता तथा उद्यमियों का विकास किया जाना आवश्यक है। प्रत्येक प्रकार की अर्थव्यस्था में "उद्यमिता" आर्थिक क्रान्ति का एक मुख्य आधार बन गया है। इसलिए आज प्रत्येक देश की सरकार उद्यमियों के विकास हेतु अनेक नीतियों, कार्यक्रमों एवं योजनाओं का निर्माण कर रही हैं। अमेरिका, जर्मनी , जापान, रूस व फ्रांस आदि विकसित देशों के विकास की कहानी उद्यमियों के विकास से ही प्रारम्भ होती है। आज अर्थव्यस्था के विकास में उद्यमी समाज का उदय आर्थिक विकास की कड़ी का एक भाग बन गया है। तभी तो कहा गया है कि साहसिक समाज का उदय इतिहास में एक मुख्य संक्रांतिकाल सिद्व हो सकता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि किसी भी देश के आर्थिक प्रगति के लिए जितना आवश्यक ओद्योगीकरण है, उससे कहीं अधिक आवश्यक है–उद्यमी समाज का विकास, उद्यमियों का विकास तथा उद्यमियों का निर्माण अथवा उद्यमिता का विकास।

अतः उद्यमिता या उद्यमी का अध्ययन आज के औद्योगीकरण का, आर्थिक विकास का केन्द्र बिन्दु है।

परिचय–

उद्यमिता का अर्थ (Meaning of Entrepreneurship)–

'उद्यमी' शब्द अंग्रेजी में प्रयुक्त Entrepreneurशब्द का हिन्दी रूपान्तर है। वास्तव में अंग्रेजी में भी Entrepreneurशब्द फ्रांसीसी भाषा से लिया गया है वहां इस शब्द का मूल अर्थ था – किसी संगीतात्मक अथवा अन्य मनोविनोदों के आयोजक का नियुक्त करना। अर्थशास्त्र में उद्यमी का अर्थ है ऐसा आर्थिक नेता जो नई वस्तुओं, नई तकनीकों तथा पूर्ति के नये स्त्रोतों को सफलतापूर्वक प्रचलित करने के सुअवसर पहचानने की योग्यता रखता हो और जो आवश्यक संयत्र तथा साधन प्रबंध और श्रम शक्ति को एकत्रित करने और उन्हें संगठित कर कारोबार चलाने की क्षमता रखता हो।

सामान्य अर्थ में (In Ceneral sence) :– उद्यमी उस व्यक्ति को कहा जाता है जो नया उपक्रम प्रारम्भ करता है, तथा आवश्यक संसाधनों को जुटाता है तथा व्यवसाय की क्रियाओं का प्रबंध एवं नियंत्रण करता है। वह व्यवसाय की विभिन्न जोखिमों को झेलता है तथा व्यवसायिक चुनौतियों का सामना करता है। जोखिम वहन करना उद्यमी का प्रमुख कार्य है।

आधुनिक अर्थ में (In Modern Sence) :–उद्यमिता नये उपक्रम की स्थापना, नियन्त्रण एवं निर्देशन करने की योग्यता के साथ–साथ उपक्रम में नये–नये सुधार एवं परिवर्तन करने की साहसिक क्षमता भी है।

इस अर्थ में उद्यमिता नेतृत्व एवं नव प्रवर्तन का गुण है, जिसके द्वारा व्यवसाय में उच्च उपलब्धियों एवं लाभों को प्राप्त किया जा सकता है। यह गतिशील वातावरण के साथ समायोजन करने तथा व्यवसाय में सृजनात्मक एवं नवप्रवर्तनकारी (**Innovative**) विचारों और योजनाओं को क्रियान्वित करने की योग्यता है।

आर्थिक विकास में उद्यमिता की भूमिका (The Role of Entrepreneurship in Economic Development):– ''आर्थिक विकास, अस्तित्व एवं प्रगति की आवश्यकताओं के अनुरूप व्यक्तियों की पूर्ति के अधिक कुशल एवं विशिष्ट तरीकों की प्रणाली है। यह वह प्रक्रिया है जिसमें एक दीर्घकालीन मध्यावधि के बाद राष्ट्र की प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि हो जाती है। आर्थिक विकास सम्पूर्ण सामाजिक प्रणाली में उर्ध्वगामी परिवर्तन (Upward Movement of theEntire Social System) की प्रक्रिया है। यह उत्पादकता, सामाजिक–आर्थिक समानता, आय व रोजगार विनियोग पूँजी निर्माण आदि में वृद्धि को दर्शाता है। अतः इस आर्थिक विकास में उद्यमिता की क्या भूमिका है, उद्यमियों की क्या भूमिका है? एक लंबे समय से विवाद का विषय बना हुआ है।

(प) **प्राचीन मत (Cllassical Ideology)** :– प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री **एडम स्मिथ** ने अपनी पुस्तक ''An Enquiry in to the Nature and causes of the wealth of Nations 1776" में पूँजी निर्माण को आर्थिक विकास का प्रमुख निर्धारक तत्व माना है। उन्होंने उद्यमिता को कोई महत्व नहीं दिया है। उनके अनुसार आर्थिक विकास व्यक्तियों की बचत एवं विनियोग करने की योग्यता पर निर्भर करता है।

डेविड रिकोर्डो ने अपनी आर्थिक विकास की विचारधारा में उत्पादन के केवल 3 घटकों को महत्वपूर्ण माना था, वे हैं – यंत्र, पूँजी और श्रम।

प्राचीन अर्थशास्त्रियों में **जे0बी0 से (J.B. Say)** ही प्रथम थे जिन्होंने आर्थिक विकास की प्रक्रिया में उद्यमी को एक निश्चित स्थान प्रदान किया था। उनके अनुसार उद्यमी ही उत्पादन के साधनों को एक उत्पादक इकाई के रूप में संयोजित करता है तथा अर्थव्यवस्था में आर्थिक संसाधनों को निम्न उत्पादकता वाले क्षेत्र से उच्च उत्पादकता एवं अधिक लाभ वाले क्षेत्रों की ओर हस्तान्तरित करता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक विकास की प्रक्रिया में उद्यमिता को कोई विशेष स्थान प्रदान नहीं किया तथा आर्थिक विकास की प्रक्रिया स्वचालित एवं स्वनियन्त्रित थी, माना। इसलिए बोल्डिंग ने कहा है कि ''प्राचीन विचारकों के अनुसार फर्म एक असत्य इकाई तथा उद्यमी अवास्तविक नहीं तो कम से कम कुत्सित (Shady) अवश्य है।

(ii) **आधुनिक मत (Modern Ideology)** :– पिछले कुछ दशकों से यह स्वीकार किया जाने लगा है कि प्रत्येक देश की औद्योगिक प्रगति तथा आर्थिक विकास में उद्यमिता तथा उद्यमियों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। अमेरिका, जापान, जर्मनी, रूस जैसे देशों के उद्यमियों की उपलब्धियों के कारण ही अविकसित देशों में भी अब उद्यमिता के विकास पर सजगता से ध्यान दिया जाने लगा है। अब यह स्पष्ट हो गया है कि उद्यमी ही राष्ट्र में उपलब्ध साधनों–श्रम, पूँजी, तकनीकी, प्रौद्योगिकी आदि का अधिकतम् सदुपयोग करके आर्थिक विकास के स्तर को आगे बढ़ा सकते हैं। अनेक आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने उद्यमिता को आर्थिक विकास का मूल आधार माना है।

शुम्पीटर (Schumpeter) ने नव प्रवर्तन की भूमिका के कारण उद्यमी को आर्थिक विकास का एक मुख्य पात्र माना है। नव प्रवर्तक उद्यमी विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी का आर्थिक उपयोग करता है। वह औद्योगीकरण की मुख्य आधारशिला होता है।

पार्सन तथा स्मेलसर (Person & Smelser) ने आर्थिक विकास की दो आवश्यक शर्त बताई हैं – साहस तथा पूँजी।

हॉरबिसन (Horbison) उद्यमियों को नव प्रतर्वन की मुख्य चालक शक्ति के रूप में देखते हैं। **सेइघ (Sayigh)** उद्यमिता को आर्थिक विकास की एक आवश्यक गत्यात्मक शक्ति मानते हैं।

मायर एवं बाल्डविन (Meir and Baldwin) लिखते हैं कि ''आर्थिक विकास स्वाभाविक परिणाम की भांति, अपने आप घटित नहीं होता है। जब आर्थिक दशाएँ एक फर्म में ठीक होती है तो एक उत्प्रेरक तत्व (Calalyst) आवश्यक होता है जो साहसिक क्रिया कर सके।

रेल्फ हॉरबिज (Ralph Horwitz) का यह कथन अत्यंत महत्वपूर्ण है कि ''जिस प्रकार बिना विचारशीलता के व्यक्ति नष्ट हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार उद्यमिता के बिना भी अर्थव्यवस्था एवं व्यवसाय जड़ हो जाता है।

अतः स्पष्ट है कि किसी राष्ट्र के आर्थिक विकास में अनेक घटकों जैसे–प्राकृतिक संसाधन, बचत, पूँजी निर्माण, आय, प्रौद्योगिकी, सामाजिक दशाएँ आदि का महत्वपूर्ण योगदान हो सकता है किन्तु उद्यमिता के अभाव में उत्पादन के अन्य सभी घटक निष्प्राण एवं अनुत्पादक ही बने रहते हैं। तभी तो **पीटर एफ.ड्रकर** ने लिखा है कि ''उद्यमिता ही व्यवसाय की समस्त सामग्रियों (Material) को संसाधनों (Resourcè) में परिवर्तित करती है तथा इस संसाधनों को एक नये एंव उपादक रूप (Configuration) में संयोजित करती है।'' इस प्रकार उद्यमिता न केवल उत्पादन काएक महत्वपूर्ण स्वतंत्र साधन है बल्कि आर्थिक विकास की जननी भी है।

अंततः **आर.टी. एली (R.T.ELY)** का कथन सही बैठता है कि ''आधुनिक आर्थिक समाज में उद्यमी का कार्य अत्यंत महत्वपूर्ण हो गया है। 'उद्योग का कप्तान ठीक ही कहा जाता है, क्योंकि वह औद्योगिक शक्तियों को नियंत्रित करता है तथा उद्योग की सफलता या असफलता का उत्तरदायित्व अन्य किसी की अपेक्षा इस पर ही अधिक होता है।

संदर्भ

1. जोशी डी एम. एण्ड एसोसिएट्स केन्द्र एवं उद्यमिता विकास केन्द्र, भोपाल

2. उद्यमिता की अवधारणा जी.एस. सुधा

3. आर्थिक विकास में उद्यम वृति : एस.एल. झिंगन कोणार्क पब्लिशर्स प्रा0लि0 1992 पेज 308

4. व्यवसायिक उद्यमिता का विकास : जी.एस. सुधा पेज 32 रमेश बुक डिपो 1995

5. सिंह, आर.एन. एवं श्रीवास्तव, जे.पी. व्यष्टि अर्थशास्त्र, पेज 313 रमेश बुक डिपो जयपुर 1970

6- Say, J.B. : Catheism of Political economy Sherwood, London 1815, P-28-29

7- "The Entrepreneur is a Person who shifts economics resources out of on area of lower and in to an area of higher productivity and greater yield." – J.B. Say

8- "Entrepreneurship is an innovative function, It is a leadership rather than an ownership." Joseph A. Schumpeter.

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

Performance of women self-help group in Bihar

Neelam Kumari
Research scholar, Univ Deptt of commerce & Business
adm T.M.B.U. Bhagalpur

Women Empowerment is the progression of women and, accepting and including them in the decision-making process. It also means providing them with equal opportunities for growth and development in society, and disapproving gender bias.

Article 15(3) mentions the welfare of women and children and can be stated as "Nothing in this article shall prevent the State from making any special provision for women and children."

Ministry for women and child development has collaborated with Facebook on November 19, 2019, to enhance digital literacy and online safety for women and children in India. The campaign categorized under the Global Literacy Program is named "We Think Digital".

Women and children are a vital part of Indian society. Also, these are the most vulnerable sections of India.

This article provides a list of women empowerment schemes in India as listed under the Ministry of Women and Child Development.

DEFINING WOMEN'S EMPOWERMENT.

United Nations Population Information Network (POPIN) has defined women's empowerment based on five components, which are as follows:

Women's sense of self-worth.

- Their right to have access to opportunities and resources.
- Their right to have the power to control their own lives, both within and outside the home.
- Their right to have and to determine choices.
- Their ability to influence the direction of social changes to create a better social and
- economic order, nationally and internationally.

SELF-HELP GROUPS

Self-help groups have been studied as a way to increase effectiveness of woman-owned businesses. They are thought to increase mutual trust, a spirit of thrift, group cohesiveness, among other attributes. Self-help groups have been empirically found to increase socioeconomic status in rural India (Amutha, 2011). Sanyal (2009) found economic ties among members, the structure of the group network, and women's participation in group meetings contributed to collective action in promoting social capital and normative influence. Self-help groups were found to be especially important in developing communication skills

for poor women in India. Improving communication skills was related to better access to banks, to become successful micro-entrepreneurs and self-reliant successful women in all respects (Pangannavar, 2012).

REVIEW OF LITERATURE

"Millions of women in our hamlets know what unemployment means. Give them access to economic activities and they will have access to power and self-confidence to which they hitherto have been strangers" **- Mahatma Gandhi**

Selvakumar (2015) studied women empowerment through self-help groups in **Banka** district of **Bihar**. The information required for the study has been collected from both the primary and secondary sources A multistage random sampling method has been followed. Average and percentage analysis was carried out to draw meaningful interpretation of the results. Garret ranking technique was used to find the reasons for joining the Self-help group. Factor analysis was used to measure and determine the relationship between the observed variables. The results of the study revealed that the SHGs have had greater impact on both economic and social aspects of the beneficiaries.

Kondal's (2014) paper confines itself to study women empowerment through SHGs in **Bihar**. In the study simple statistical tools are adopted. Based on the analysis of women empowerment through SHGs in Gaya, the major finding of the study is that there is a positive impact of SHGs on women empowerment in **Bihar**.

Dhaiya et al. (2014) in their study attempt to evaluate the level of women's economic empowerment through SHG i.e., income, expenditure and saving of the member after joining SHG. The study was conducted in **Bhagalpur**. The study is based mainly on primary data collected through well-structured scheduled and pre tested survey. For analysis of the study average and percentage method was used. The study revealed that SHGs positively improved the economic empowerment of women because of in both blocks the SHGs member's income has increased after joining the SHGs and the family expenditure of SHGs members has also increased in both blocks due to positive change in the SHG member's income.

Mishra (2014) examines the pre-SHG and post-SHG status of rural SHG members in Kahalgow district of Bihar. On the basis of primary data analysis, the study finds that SHGs have not only produced tangible assets and improved the living conditions of the members, but has also helped in changing much of their social outlook and attitudes. In the study area, SHGs have served the cause of women empowerment, social solidarity and socio-economic betterment of the rural poor.

SIGNIFICANCE OF THE STUDY.

Why India is still called as a Developing Country? – Poverty, illiteracy, malnutrition, unemployment, lack of awareness in women have been the major reasons. In the recent times, the woman has contributed to a great extent towards the development of the economy but not many are aware of this that they have the potential. The recent development has been in the entrepreneurial activities undertaken by them. In the light of the above observation, the study focuses on the awareness of functioning of registered Self-Help Groups among women in rural areas of Karnataka and such programmes being Stree Shakti and Swashakti Programme funded by the State Government of Karnataka. The proposed project is to study the proportion of women population in rural areas who have the potential to become entrepreneurs but not aware of the financial assistance provided by the Government of Karnataka through registered Self-Help Groups.

OBJECTIVES OF THE STUDY.

The following are the objectives which the study seeks to fulfil.

1. To find the level of awareness of functioning of registered Self-Help Groups among women in rural areas of **Bihar**.

2. To find out the rate of employment generated through registered Self-Help Groups in the rural areas of **Bihar.**

3. To find out the contribution of the women entrepreneurs towards the growth of the rural areas of **Bihar**.

HYPOTHESIS OF THE STUDY.

H0: There is no significant increase in income of women after joining SHGs.¬

H1: There is significant increase in income of women after joining SHGs.

H0: Women are not aware of the functioning and existence of self – help groups in their¬ districts.

H1: Women are aware of the functioning and existence of self – help groups in their districts. H0: There was no significant increase in the rate of employment of women even after¬ joining SHGs.

H1: There was a significant increase in the rate of employment of women after joining SHGs. H0: There is no significant relationship between number of members of SHGs and¬ Financial aid taken by them.

H1: There is a significant relationship between number of members of SHGs and Financial aid taken by them.

References

1. Acharya, S., E. Yoshino, M. Jimba, and S. Wakai. 2007. "Empowering Rural Women Through a Community Development Approach in Nepal." *Community Development Journal* 42 (1): 34–46. doi: 10.1093/cdj/bsi064 [Crossref], [Google Scholar]

2. Agarwal, B. 2000. "Conceptualising Environmental Collective Action: Why Gender Matters." *Cambridge Journal of Economics* 24 (3): 283–310. doi: 10.1093/cje/24.3.283 [Crossref], [Web of Science ®], [Google Scholar]

3. Alemu, S. H., L. van Kempen, and R. Ruben. 2017. "Explaining Technical Inefficiency and the Variation in Income from Apple Adoption in Highland Ethiopia: The Role of Unequal Endowments and Knowledge Asymmetries.

4. " *Journal of Agriculture and Rural Development in the Tropics and Subtropics* 118 (1): 31–43. [Google Scholar]

5. Alemu, S. H., L. van Kempen, and R. Ruben. forthcoming. "The Long Shadow of Faith-Based Social Networks on Agricultural Performance: Evidence from Ethiopian Apple Growers." *European Journal of Development Research*. https://doi.org/10.1057/s41287-017-0094-3 [Google Scholar]

6. Alesina, A., B. Brioschi, and E. Le Ferrara. 2016. "Violence Against Women: A Cross-Cultural Analysis for Africa." Working Paper no. 21901. National Bureau of Economic Research. [Google Scholar]

7. Bantilan, M. C. S., and R. Padmaja. 2008. "Empowerment Through Social Capital Build-up: Gender Dimensions in Technology Uptake." *Experimental Agriculture* 44 (1): 61–80. doi: 10.1017/S0014479707005947 [Crossref], [Web of Science ®], [Google Scholar]

8. Batliwala, S. 2007. "Taking the Power Out of Empowerment – An Experiential Account." *Development in Practice* 17 (4–5): 557–565. doi: 10.1080/ 09614520701469559 [Taylor & Francis Online], [Google Scholar]

9. Bayissa, F. W., J. Smits, and R. Ruben. forthcoming. "The Multidimensional Nature of Women's Empowerment: Beyond the Economic Approach." *Journal of International Development*. https://doi.org/10.1002/jid.3268 [Web of Science ®], [Google Scholar]

10. Bayu, T. Y. 2015. "Socio-Cultural and Policy Related Constraints to Women's Land Right: A Case Study from Gamo Highland, SW Ethiopia." *Humanities and Social Sciences* 3 (4): 149–154. [Google Scholar]

11. BenYishay, A., M. Jones, F. Kondylis, and A. M. Mobarak. 2016. "Are Gender Differences in Performance Innate or Socially Mediated?" Policy Research Working Paper no. 7689. Washington, DC: The World Bank. [Google Scholar]

12. Bhattacharyya, M., A. S. Bedi, and A. Chhachhi. 2011. "Marital Violence and Women's Employment and Property Status: Evidence from North Indian Villages." *World Development* 39 (9): 1676–1689. doi: 10.1016/j.worlddev.2011.02.001 [Crossref], [Web of Science ®], [Google Scholar]

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

हिन्दी पत्रकारिता में 'सरस्वती' और आचार्य द्विवेदी का प्रदेय

@ प्रो. अशोक सिंह

@ कुलपति- संत गहिरा गुरु विश्वविद्यालय सरगुजा, अंबिकापुर (छ.ग.)

* डॉ. राजकुमार उपाध्याय 'मणि'

*विभागाध्यक्ष - प्रयोजनमूलक हिन्दी, संत गहिरा गुरु विश्वविद्यालय सरगुजा, अंबिकापुर (छ. ग.)

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी सरस्वती पत्रिका और हिन्दी पत्रकारिता के पर्याय बन चुके थे, उनकी संपादन कला अद्वितीय और कालजयी थी। इस यथार्थ सत्य को सुश्री उषा शर्मा सुरभि ने लिखा है- "आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी सम्पादन इतिहास में रचना-शुद्धि का एक कीर्तिमान स्थापित किया, इसी के फलस्वरूप साहित्य सृजन की उच्छृन्खलता का नियमन किया।"[1] हिन्दी साहित्य में आधुनिक काल का नाम लेते ही भारतेन्दु का स्मरण स्वतः आ जाता है, किन्तु भारतेन्दु युगके उपरान्त सहसा द्विवेदी युग में पूर्ण व प्रभावशाली आधुनिकता का बोध होने लगता है जिसे डॉ. रामविलास शर्मा ने हिन्दी नवजागरण का तृतीय चरण बताया है। विशेषतः उन्होंने अपनी कृति 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण' के द्वारा प्रबल रूप से स्थापित किया कि भारतीय स्वाधीनता के संघर्ष में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी नवजागरण के उन्नायक थे।अपने समय में ही आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' पत्रिका और पत्रकारिता के प्रतिमान बन गये। समूचा उत्तर भारत उनकी मेधा से परिचित हुआ ही, देश-देशान्तर में 'सरस्वती' पत्रिका के चल जाने से अधिक ख्याति बढ़ने लगी । 'सरस्वती' पत्रिकाके अपने सत्रह वर्षों के प्रकाशन काल में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी जगत के पितामह बन गये थे। सरस्वती में छपना आचार्य द्विवेदी का वरद्हस्त माना जाता था । साहित्यिक अनुशासन की कसौटी पर उन्होंने अनेक साहित्यकारों को सँवारा-निखारा तो अनेक लोगों से उन्हें प्रतिरोध भी सहना पड़ा था।

हिन्दी की 'सरस्वती' पत्रिका और पत्रकारिता की पहचान बन चुके आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी (1864-1938 ई.) का जन्म जिला रायबरेली के दौलतपुर नामक ग्राम में हुआथा। [2] सम्पूर्ण गाँव में वैसे तो साहित्यिक परिवेश था किन्तु वहां शिक्षा-अध्ययन का कोई केन्द्र नहीं था। महावीरप्रसाद द्विवेदी के परिवार का वातावरण संस्कृतमय था। ननिहाल में नाना-मामा भी पांडित्य-परम्परा की कड़ी थे। यही कारण रहा कि महावीरप्रसाद द्विवेदी को जहाँ ग्रामीण परिवेश के उक्ति-सवैयों ने हिन्दी साहित्य की ओर प्रेरित किया,वहीं उनके ननिहाल ने उन्हें संस्कृत साहित्य में गहन अध्ययन की ओर उन्मुख किया। परिणामतः शब्दकोश , अमरकोश, दुर्गासप्तशती और कालिदास साहित्य का अध्ययन घर पर ही होने लगा। आगे की उनकी शिक्षा मदरसे से प्रारम्भ हुई, जहाँ कुछ दिन पढ़ने के बाद ही उन्हें पढाई छोड़नी पड़ी और यहाँ के प्रमाण पत्र में भूलवशउनका नाम 'महावीर सहाय' से 'महावीरप्रसाद' हो गया। जिस नाम को सम्पूर्ण हिन्दी जगत आज 'आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी' के नाम से जानता है। अंग्रेज कालीन भारत में प्रारंभिक शिक्षा के अध्ययन की बड़ी कठिनाई थी,क्योंकि विद्यालय अत्यन्त दूर होते थे। परिणामस्वरूप उन्हें दौलतपुर गाँव में उर्दू सीखने के

बाद अंग्रेजी पढ़ने के लिए रायबरेली जाना पड़ताथा, किन्तु यहाँ संस्कृत न पढ़ाये जाने के कारण उन्हें सहभाषा के रूप में फारसी पढ़ना पड़ा। दूरी और गरीबी से त्रस्त रायबरेली का विद्यालय भी उन्हें छोड़ना पड़ा व इस तरह फतेहपुर में उनकी औपचारिक शिक्षा का अंत हुआ।

तत्कालीन भारत अंग्रेजी कुशासन से पीड़ित था। इनके पिता भी अंग्रेजी शासन के गुलाम सिपाही थे , जिनकी पलटन अट्ठारह सौ सत्तावन की स्वतंत्रता आदोलन में विद्रोही हो गया था। विद्रोह के समय द्विवेदी जी बम्बई में बल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होकर रहने लगे थे। आजीविका का साधन न होने के कारण, पढ़ाई छूटने के बाद उन्होंनेअजमेर रेलवे में पन्द्रह रुपये की मासिक नौकरी का कार्य शुरू किया , किन्तु यहाँ नहीं जमा तो पिता जी के पास दस रुपये मासिक की नौकरी शुरू कर की। कर्मनिष्ठ द्विवेदी जी ने ईमानदारी पूर्वक यहीं पर तार विभाग और रेलवे विभाग में नौकरी करके अपने व्यक्तित्व का अच्छा परिचय दिया , तत्पश्चात टेलीग्राफ इंस्पेक्टर के रूप में झांसी चले गये।

बम्बई-झांसी के स्थानान्तरण-प्रत्यन्तरण से ऊबे महावीरप्रसाद द्विवेदी जी को अंग्रेजी अफसरों की खुशामद करना अच्छा नहीं लगा, यही कारण थाकि कार्य के भार और तानाशाही अधिकारियों के कारण उन्होंने नौकरी से इस्तीफा दे दिया। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी नौकरी करते समय झांसी में ही 'सरस्वती' मासिक पत्रिकाके संपर्क में आए। बाबू चिंतामणि घोष से इनकी एक पाठ्य पुस्तक के संशोधनोपरान्त द्विवेदी जी का संपर्क हुआ। इसी समय 'सरस्वती' मासिक पत्रिका के सम्पादकों द्वारा सम्पादन कार्य छोड़ देने के उपरांत द्विवदी जी ने झांसी की नौकरी के दौरान 'सरस्वती' का कार्यभार संभाल लिया था, कालांतर में 1903 ई. में विधिवत नौकरी छोड़कर पत्रिका का संपादन करने लगे। यहीं झाँसी में ही नवोदित कवि मैथिलीशरण गुप्त से परिचय हुआ था। सन् 1905 ई. से अविरल-नियमित ढ़ंग से 'सरस्वती' के प्रकाशन से लोगों ने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का लोहा मान लिया। सरस्वती पत्रिका को लेकर डॉ. रामविलास शर्मा का मत है कि "सरस्वती सबसे पहले ज्ञान की पत्रिका थी, वह हिन्दी नवजागरण का मुख पत्र थी और हिन्दी-भाषी जनता की सर्वमान्य जातीय पत्रिका थी। ज्ञान की रीतिवादी रूढ़ियों का नाश करके नवीन सामाजिक-सांस्कृतिक बाहर व्यापक स्तर पर भारतीय साहित्य में वह प्रतिष्ठा प्राप्त की, जो बीसवीं सदी में अन्य किसी पत्रिका को प्राप्त न हुई।"[3] अब सरस्वती का सम्पादन झाँसी से न करके कानपुर के जुहीकलाँ गाँव से शुरू किया गया। इसी वर्ष से 'सरस्वती' पर 'सभाकी छाया' (अनुमोदन शब्द) नागरी प्रचारिणी सभा,काशी से इसका विवाद उठा। फरवरी,1905 ई. में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'अनुमोदन का अंत' नामक सम्पादकीय के अंत में 'अनीस कवि' की कविता छापी थी,जिसकी पंक्ति की अंतिम अर्द्धावली अत्यन्त मार्मिक थी-

सुनिए विटप प्रभु, पुहुप तिहारे हम, रखिहो तो सोभा हम, रावरी बढायेंगे।

तजिहो हरिष के तो, विलग न मानौ कछु, जहाँ-जहाँ जैहैं, तहाँ दूनो जस गायेंगे।।

सुरन चढ़ेंगे नर, सिरन चढ़ेंगे फेरि, सुकवि अनीस हाथ, हाथन बिकायेंगे।

देस में रहेंगे, परदेस में रहेंगे, काहू- भेस में रहेंगे तऊ, रावरे कहायेंगे।।

कुछ समय में ही आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' पत्रिका और पत्रकारिता के प्रतिमान बन गये। समूचा उत्तर भारत उनकी मेधा से परिचित हुआ ही, देश-देशान्तर में 'सरस्वती' पत्रिका के चल जाने से अधिक ख्याति बढ़ने लगी। इस सन्दर्भ में डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं - "सन् 1903 ई. में ये 'सरस्वती' के संपादक बने और 1920 ई. तक बड़े परिश्रम और लगन से यह कार्य करते रहे। 'सरस्वती' के संपादक के रूप में इन्होंने हिन्दी भाषा और साहित्य के उत्थान के लिए जो कार्य किया, वह चिरस्मरणीय रहेगा।" [4] कहने का अभिप्राय यह है कि 'सरस्वती' औरद्विवेदी जी एक-दूसरे के पूरक बन गये थे। आचार्य द्विवेदी की सम्पादकीय-अनुशासन ने सरस्वती का विस्तार ही नहीं किया,अपितु अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध वैचारिक आन्दोलन से जन-जागरण को

जागृत कर समाज में आधुनिकता का उन्मेष किया। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी की संपादन-कला की समस्त विशेषताओं को लक्षित करते हुए डॉ. उदयभानु सिंह लिखते हैं- "जनवरी 1903 ई. से द्विवेदीजी ने संपादन का आरंभ किया. पत्रिका के अंग-अंग में उनकी प्रतिभा की झलक दिखलाई पड़ी। विषयों की अनेकरूपता, वस्तुयोजना, सम्पादकीय टिप्पणियों, पुस्तक-परीक्षा, चित्रों, चित्र-परिचय, साहित्य-समाचार के व्यंग्यचित्रों, मनोरंजक सामग्री, बाल-वनितोपयोगी रचनाओं, प्रारंभिक विषय-सूची, प्रूफ-संशोधन और पर्यवेक्षण में सर्वत्र ही सम्पादन-कला-विशारद द्विवेदी का व्यक्तित्व चमक उठा।"[5]

द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' पत्रिका को नयी साहित्यिक विधाओं के परिमार्जन के साथ-साथ भाषा के परिष्कार एवं साहित्यकारों के निर्माण की फैक्टरी बना डाली। इस सन्दर्भ में डॉ. रामचंद्र तिवारी अपनी पुस्तक 'हिन्दी का गद्य-साहित्य' में लिखते हैं- "सरस्वती का महत्त्व तीन दृष्टियों से है। एक तो इसके माध्यम से हिन्दी-भाषा का परिष्कार हुआ और हिन्दी की वाक्य-रचना एवं पदविन्यास में एकरूपता लाने की चेष्टा की गयी; दूसरे, इसकी प्रेरणा से हिन्दी में अनेक लेखक और कवि प्रतिष्ठित हुए। तीसरे, इसी के माध्यम से हिन्दी की नवीन गद्य विधाओं के विकास का पथ प्रशस्त हुआ।" [6] इस प्रकार कवियों व गद्य लेखकों की पाठशाला 'सरस्वती' बन गयी थी, जिसमें रचना छप जाना स्वयं के साहित्यकार बन जाने का प्रमाणपत्र था। 'सरस्वती' के प्रयोगशाला में जहाँ 'कहानी' विधा का जन्म हुआ,वहीं अनेक साहित्यकारों का निर्माण हुआ।

सात वर्ष तक कठोर परिश्रम करते हुएद्विवेदी जी ने 'सरस्वती' को साहित्यिक शिखर पर स्थापित कर दिया था। उनके संपादन और अथक लेखन ने उन्हें रुग्ण बना दिया। यही कारण था कि उन्हें सन् 1910 ई. में उन्निद्र-रोग से पीड़ित काल में अपने मित्र पं० देवी प्रसाद शुक्ल को 'सरस्वती' पत्रिका का संपादन कार्य सौपना पड़ा। अगले वर्ष उन्होंने सन् 1911 ई. में संपादन कार्य शुरू किया तो सन् 1918 ई. तक चलता रहा , किन्तु इसी वर्ष स्नायु-रोग हो जाने से दो वर्ष के लिए अवकाश लेना पड़ा। परिणामतः पुनः पं. देवी प्रसाद शुक्ल ने संपादन कार्य सम्भाला, परन्तु आचार्य द्विवेदी जैसा समर्पण न होने के कारण सरस्वती का प्रचार-प्रसार कम होने लगा और लोकप्रियता की रेखा नीचे जाने लगी ।तब पत्रिका के मालिक बाबू चिंतामणि घोष के आग्रह पर सन्1920 ई. में उन्होंने पुनः संपादन कार्य संभाला, परन्तु उस प्रखर प्रतिभा ने शारीरिक शिथिलता के कारण कुछ महीने तक संपादन-कार्य करने के बाद पुनः हमेशा के लिए संपादन कार्य से अवकाश ले लिया , किन्तु वे दो लेख 1928 ई. तक नियमित लिखते रहे। अपने गाँव निवास करते हुएद्विवेदी जी सरस्वती से जुड़े रहे, जिसका संपादन पं. देवी प्रसाद शुक्ल कर रहे थे। द्विवेदी जी के काल में हरिभाऊ उपाध्याय 'सरस्वती' में सहयोगी संपादक के रूप में कार्य कर चुके थे , पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी 'सरस्वती' पत्रिका के नये संपादक चुने गये, यद्यपि द्विवेदी जी ने कुछ समय तक उनका सहयोग किया। सरस्वती पत्रिका के विषय में लक्ष्मी शंकर व्यास ने 'उत्तर प्रदेश की हिन्दी पत्रकारिता' आलेख में लिखा है- "सरस्वती के प्रकाशन का उद्देश्य था- हिन्दी रसिकों के मनोरंजन के साथ भाषा के सरस्वती भंडार की अंगपुष्टि वृद्धि और पूर्ति। इसके प्रथम अंक में उन विषयों का भी उल्लेख है जिसका पत्रिका में समावेश रहेगा। ये हैं –गद्य, पद्य, काव्य, नाटक, उपन्यास, चंपू, इतिहास, जीवन-चरित्र, पत्र, हास्य, परिहास, कौतुक, पुरा-वृत्त, विज्ञान, शिल्प, कला-कौशल आदि, साहित्य ग्रंथों की समालोचना भी की जायगी। यह भी कहा गया कि भाषा में यह पत्रिका अपने ढंग की प्रथम होगी और यह भी लक्ष्य था कि सुलेखकों की लेखनी स्फुरित हो जिससे हिन्दी की अंगपुष्टि और उन्नति हो। इसमें लेखकों को पुरस्कार देने की भी चर्चा की गयी है और कहा गया है कि पत्रिका संबंधी व्यय देकर कुछ भी लाभ हुआ तो इसके लेखकों की हम लोग उचित सेवा करेंगे।"[7]

'सरस्वती' पत्रिकाके अपने सत्रह वर्षों के प्रकाशन काल में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी जगत के पितामह बन गये थे। सरस्वती में छपना आचार्य द्विवेदी का वरद्हस्त माना जाता था। साहित्यिक अनुशासन की कसौटी पर उन्होंने अनेक साहित्यकारों को सँवारा-निखारा तो अनेक लोगों से उन्हें प्रतिरोध भी सहना पड़ा था। 'सरस्वती' पत्रिका की ख्याति और महावीरप्रसाद द्विवेदी की लोकप्रियता का प्रमुख कारण

तद्युगीन साहित्यिक-युद्ध अर्थात् पत्रकारिता का वाद-विवाद-संवाद की प्रधानता है। 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित 'अनुमोदन का अंत ' सम्पादकीय से 'सरस्वती' का साहित्यिक विवाद नागरी प्रचारिणी सभा से ही प्रारम्भ हो जाता है, जो संस्था मूल रूप से 'सरस्वती' पत्रिका की जन्मदात्री थी। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी ने अपने स्वाभिमानी प्रवृत्ति से न तो कभी झुके और न ही साहित्यिक अनुशासन हीनता को स्वीकार किया। परिणामतः अपनी सशक्त आलोच्य-लेखनी से प्रत्येक दिशा में सभी को मानने के लिए विवश किया और सभी विरोधियों को पराभूत भी किया। बड़े-बड़े साहित्यिक महारथी को अपनी लेखनी का निशाना बनाया ।सभा के संस्थापक बाबू श्यामसुन्दरदास जी से जोविवाद 'अनुमोदन' के लिए हुआ था , वह उनके लिखित क्षमा याचना भारतमित्र सन् 1906 ई. में समाप्त हुआ। यही नहीं, सभा के खोजकार्य में सहयोगी पं. केदारनाथ पाठक (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साहित्यिक आदर्श) से विवाद छिड़ा,किन्तु आचार्य द्विवेदी की विनम्रता से मुग्ध पाठक जी भी क्षमायाचना माँग लिये। उनका सभा के लोगों से विवाद चलता रहा किन्तु आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की तेजस्विता की पहचान कर सभा ने उन्हें सम्मानित करके अपने प्रगाढ़ सम्बन्ध का परिचय दिया।

यही कारण था कि सभा ने सबसे पहले सन् 1931 ई. में उन्हें सम्मानित ही नहीं किया, अपितु सन् 1933 ई. में एक भव्य समारोह में उन्हें एक अभिनन्दन ग्रंथ भेंट किया था ,जिसके द्वय-संपादक बाबू श्यामसुन्दरदास और रायकृष्णदास जी थे। सर्वाधिक लोकप्रिय विवाद सन् 1905 ई. में 'सरस्वती' के नवम्बर अंक का है , जिसमें आचार्य द्विवेदी ने 'भाषा और व्याकरण ' नामक लेख में बाबू बालमुकुन्द गुप्त के बंगला भाषा में 'अनस्थिरता' शब्द पर विस्तार से चर्चा की। इसे हिन्दी के विकास में बाधक बताया। इस महत्त्वपूर्ण लेख से हिन्दी जग त् अधिक प्रभावित तो हुआ , किन्तु गुप्त जी इसे अपनी आलोचना समझते हुए 'भाषा की अनस्थिरता' शीर्षक से अपने 'भारत मित्र' में एक लेखमाला 'आत्माराम' नाम से प्रकाशित किए जिसमें द्विवेदी जी पर बुरे ढ़ंग से प्रहार किया गया था। परिणामस्वरूप इस विवाद ने द्विवेदी जी को अधिक मर्माहत किया । अतः इसके प्रत्युत्तर में 'हिन्दी बंगवासी' पत्रिका में पंडित गोविन्द नारायण मिश्र ने 'आत्माराम की टें-टें' शीर्षक लेख लिखा। अच्छे लेखकों ने द्विवेदी जी का साथ दिया , किन्तु द्विवेदी जी अपने 'सरस्वती' में दूसरे ढ़ंग से इसका उत्तर दिया। परन्तु गुप्त जी ने 'हम पॉचन के ट्वाला माँ' नाम से एक व्यंग्य लेख लिखा। अतः द्विवेदी जी इसके प्रत्युत्तर में आल्हाछंद के द्वारा 'लगे नरक ठिकान्न नाँहिं ' लिखा। अंततः प्रतिवाद धीरे-धीरे स्थिर हुआ। और कुछ समय बाद जब बाबू बालमुकुन्द गुप्त जी इनसे मिलने जुहीकला गये तो क्षमा माँग ली। यह दोनों क्षम्य-क्षमा की सदाशयता थी।

गाँव की साहित्यिक उर्वरता के परिवेश ने उनमें कवि-गुण का बीज उत्पन्न कर दिया था। उनका हिन्दी अनुरागहिन्दी के साहित्य को समृद्ध करने के लिए था। क्योंकि वे बम्बई रहते हुए मराठी साहित्य की समृद्धि से प्रभावित हो चुके थे, इसलिए हिन्दी को भी आगे बढ़ाना चाहते थे। सरकारी नौकरी को त्यागकर सरस्वती का संपादन कार्य करना उनके हिन्दी अनुराग और हिन्दी की निष्ठा का ही परिचायक है। उनका प्रारंभिक साहित्यक कार्य अनुवादक के रूप में दिखाई देता है। इसकी पुष्टि करते हुए डॉ. रामचंद्र तिवारी लिखते हैं - "आचार्य द्विवेदी ने मुख्य रूप से अंग्रेजी और संस्कृत रचनाओं के अनुवाद किये हैं। अंग्रेजी रचनाओं में उन्होंने लार्ड बेकन के 'निबंधों', हर्बर्ट स्पेंसर की शिक्षा विषयक पुस्तक 'एजुकेशन' तथा जान स्टुअर्ट गिल की प्रसिद्ध कृति 'ऑन लिबर्टी' के अनुवाद क्रमशः 'बेकन विचाररत्नावली', 'शिक्षा' और 'स्वाधीनता' के नाम से प्रस्तुत किये हैं। संस्कृत से उन्होंने कालिदास के 'रघुवंश', 'कुमारसंभव' और 'मेघदूत' ; भट्टनारायण के 'वेणीसंहार' तथा भारवि के 'किरातार्जुनीयं' के गद्यानुवाद किये हैं। अनुवादक के रूप में भी द्विवेदी जी को कम सफलता नहीं मिली।"[8] अपने एक दशक के अनुवाद कार्य द्वारा विविध विषयों से संबंधित कविताएँ,विविध पत्रिकाओं में प्रकाशित संस्कृत, ब्रजभाषा खड़ीबोली के काव्य का संकलन सन्1903ई. में 'काव्य-मंजूषा' नाम से प्रकाशित कराया। इसमें 1898 ई. में हिन्दी बंगवासी में प्रकाशित 'गर्दभ काव्य ' भी संग्रहीत है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की फुटकल कविताएँ, टिप्पणी, आलोचना और गम्भीर-विस्तृत संपादकीय उनकी सर्जना का विशाल भण्डारण हैं।

उनका प्रथम गद्य लेखन इन्हीं रूपों में प्रस्तुत हुआ है। उन्होंने 'सरस्वती' के कुशल सम्पादकत्व में भी अनेक अनुदित कार्य किये।

आचार्य द्विवेदी की प्रारम्भिक मौलिक कविताएं प्राय: प्रकृति वर्णन व समाज की दीनदशा से अधिक प्रेरित है। 'प्रभात वर्णन,' 'बसन्त', 'कोकिल काव्य' उनके प्रकृति-प्रेम को ही दर्शाता है , जो आगे भी यत्किंचित् प्रकृति समन्वित काव्य की फुटकल सर्जना किये, वे सभी खड़ीबोली में थे। राजा रवि वर्मा के चित्रों पर आधारित अनेक स्फुट कवितायें भी मिलती हैं। उनमें स्वछंदतावादी प्रकृति प्रेम देखने को मिलता है , साथ ही वे भारतेन्दु युगीन हास्य व्यंग्य विनोदपूर्ण कविता भी लिखते थे। सन् 1898 ई. का संदर्भ-काव्य, विधि विडम्बना, ग्रंथकार लक्षण आदि काव्य उनके हृदय की पीड़ा और भावना को ही अभिव्यक्त करता है। **वे राष्ट्रीयकाव्यधारा के प्रवर्तक भी थे, जिसे उन्होंने अपनी पत्रिका 'सरस्वती' के माध्यम से खूब प्रचारित किया। इस दिशा में वे 'भारत वर्ष', 'वन्दे मातरम्', स्वदेशी वस्त्र का 'स्वीकार'और 'कवि और स्वतंत्रता ' जैसी कविताएं लिखकर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन को गति प्रदान कर रहे थे। समरसता और एकता आजादी का मूलमंत्र था। उन्होंने अपनी कविता- 'मेरे प्यारे हिन्दुस्तान' शीर्षक में इसी मूलमंत्र को प्रकट किया।** कालन्तर में इसे गाँधी जी अपनाते हुए हिन्दू-मुस्लिम आदि धर्म के लोगों के लिए आह्वान करते हैं -हिन्दू मुसलमान ईसाई, यश गावें सब भाई-भाई।

वस्तुत: आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के अनेक विचार ऐसे हैं,जो भारतेन्दु हरिश्चद्र से अधिक प्रभावित हैं । एकता समन्वय की बात करने वाले भारतेन्दु ने सामाजिक उत्थान के लिए नारी-जागृति को अंगभूत माना था, उस परम्परा को इन्होंने आगे बढ़ाया है। भारतेन्दु के 'बुध तजहिं मत्सर नारि नर सम होंहि, सब जग सुख लहैं' का विचार द्विवेदीजी में इस रूप में दिखता है-

पढ़ती थी वेद तक जहाँ महिला सदैव ही

नारी समूह है वहीं अज्ञान हमारा।।

नारियों को केन्द्र-बिन्दु में रखकर आचार्य द्विवेदी ने 'काव्यकुञ्ज, अबला विलाप, उहरौनी जैसी अनेक स्त्री-चेतना की कविताएँ लिखी हैं। 'सरस्वती' पत्रिका निकालने का उनका दो उद्देश्य ज्ञात होता है- **प्रथम- भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन को सहयोग देते हुए देश की स्वाधीनता और पूर्वकालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों को मोड़कर नैतिक एवं सामाजिक धर्म पर खड़ीबोली के रूप में स्थापित करना।** द्विवेदी जी ने सरस्वती पत्रिका के माध्यम से साहित्य एवं कविता के लिए एक मानक बनाने का प्रयास किया तो दूस री ओर रीतिकालीन प्रवृत्तियों एवं भाषा पर प्रहार किया। 'कवि-कर्त्तव्य' लेख में मानों उद्घोष ही किया है- 'यमुना के किनारे के लिए कौतूहल का अद्भुत-अद्भुत वर्णन बहुत हो चुका। न परकीयाओं पर प्रबंध लिखने की अब कोई आवश्यकता है और न स्वकीयाओं के 'गतागत' की पहेली बुझाने की। 'पंडित जी युगीन परिस्थितियों को लक्ष्य करके भले ही रीतिकालीन प्रवृत्तियों को साहित्य से त्यागने का आह्वान किया हो किन्तु वे श्रृंगारिक पदों के विशेष अनुरागी थे, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण उनके जीवन और साहित्य से लिया जा सकता है। स्नेहमाला , विहार वाटिका व कालिदास की प्रियता, पत्नी जीवन, पत्नी के मृत्योपरांत उनके कथन एवं निराशा , कामवृत्तियाँ आदेश रूप में समाहित हो गया थी। इन प्रवृत्तियों के परित्याग के साथ-साथ उन्होंने काव्यभाषा के लिए खड़ीबोली पर जोर दिया, क्योंकि उनका मानना था कि खड़ीबोली अपने स्वरूप को विकसित करेगी और मानक भाषा के रूप में खड़ी हो जायेगी। काव्य भाषा के लिए हिन्दी जग त् में उनके द्वारा वृह त् आन्दोलन चलाया गया। उन्होंने ब्रजभाषा को छोड़ खड़ीबोली अपनाने की सलाह दी। उन्होने लिखा है- "ब्रजभाषा बहुतकाल से कविता में प्रयुक्त होती आई है। पर एक अथवा दो जिले की भाषा पर देश भर के निवासियों का प्रेम बहुत दिनों तक नहीं रह सकता।"[9] आगे उन्होंने स्पष्ट उद्घोष कर दिया था कि "यह निश्चित है कि किसी समय बोलचाल की हिन्दीभाषा, ब्रजभाषा की कविता के स्थान को अवश्य छीन लेगी।"[10] वस्तुतः 'सरस्वती' में द्विवेदी जी ने अनेक ऐसे लेख लिखे जो भावी रचनाकारों के लिए पाथेय बना। उन्होंने विषय वस्तु , साहित्य रचना की भाषा के लिए

कविता के छन्दों पर गंभीर चर्चा की। छप्पय, सवैया,घनाक्षरी, दोहा, चौपाई को त्यागकर संस्कृत, उर्दू, बंगला के छन्दों को अपनाने पर जोर दिया, क्योंकि अग्रलिखित छन्द हिन्दी साहित्य में बहुत लिखे जा चुके थे। उनका आग्रह था- वंशस्थ, मालिनी, द्रुतविलम्बित और वसंत -तिलका में रचना की जायें जिसमें लेखक की स्वयं की व्यक्तिगत विशेषता दृष्टिगोचर हो सके।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की भाषा , विषयवस्तु, प्रवृत्ति, रीतिकाल, छायावाद, नाटक, रस, छन्द और अलंकारों के प्रति विचार आदि में द्विवेदी की छाप परिलक्षित होती है ।महाकवि कालिदास द्विवेदी जी के प्रिय कवि थे, अत: उनके विषय में किसी के द्वारा वर्णित दोष उन्हें असह्य था। ' हिन्दी कालिदास की समालोचना' उनकी आलोच्यकृति है। उनके मौलिक निबंध , आलेख-टिप्पणी और संपादकीय- रसज्ञरंजन , साहित्य संदर्भ , साहित्यालाप, आलोचनांजलि,समालोचना, साहित्य-सीकर, संकलन, विचार विमर्श, वनिता-विलास में श्रेणीबद्ध है। आचार्य द्विवेदी अच्छे जीवनी लेखक भी थे, यही कारण है कि उनकी जीवनी -मूलक रचनाएं- सुकवि- संकीर्तन, कोविद-कीर्तन, चरितचर्या और चरित्र -चित्रण में विद्यमान है। ऐसी बहुमुखी प्रतिभा से अनुप्राणित महान आलोचक के मूल्यांकन एवं पुनर्मूल्यांकन की अर्थवक्ता होनी चाहिए , जिसकी गुणवक्ता साहित्य में दिखाई दे सके। द्विवेदी युग साहित्य में अमर है। आधुनिक साहित्य के तीन युगों में अवस्थित ऐसा साहित्य - प्रचेताभारतेन्दु युग से शुरू होकर अपने युग को स्थापित करते हुए प्रगतिवाद युग के प्रारम्भिक काल में 21 दिसम्बर, 1938 ई. को अनंताकाश में विलीन हुआ।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी कवि की अपेक्षा एक अच्छे लेखक थे और लेखक से भी अधिक कुशल सम्पादक; किन्तु सुन्दरतम् रूपों में वे एक प्रखर समालोचक थे। वे व्यावहारिक आलोचना के शिखर महापुरुष थे। आलोचना उनका हथियार था, तोसरस्वती उनकी ढ़ाल थी। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने जिस पथ का प्रदर्शन किया, कालान्तर में वह आलोचकों के लिए वरेण्य था। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य की वह धुरी हैं, जहाँ से आधुनिक साहित्य परिचालित होता है। उनका अवदान साहित्य में मील का पत्थर है , समाज में अक्षय है और पत्रकारिता में सदा ही प्रकाशमान है। उनके विषय में सुश्री उषा शर्मा सुरभि ने लिखा है कि- वस्तुतः आचार्य द्विवेदी एक यशस्वी संपादक , न्यायप्रिय समालोचक, कर्तव्यपरायण सुधारक तथा परिश्रमी निबंध लेखक थे। उनका विचारवान संपादक उनके भावुक साहित्यकार पर हावी रहा। यद्यपि उनके अधिकांश निबंध संपादकीय आवश्यकताओं , तत्कालीन समस्याओं, सामान्य पाठकों के ज्ञान-वर्धन , मनोरंजन तथा हिन्दी की रिक्तिपूर्ति के लिए लिखे गये, किंतु फिर भी ऐसे निबंधों की भी कमी नहीं , जो शाश्वत महत्व रखते हैं। उन्हीं से प्रेरणा पाकर तत्कालीन विद्वानों ने अपनी लेखन-कला तथा शैली निर्माण में वैशिष्ट्य प्राप्त किया है। वे शैलीकार ही नहीं , शैलीकारों के प्रेरणा-स्रोत तथा निर्माता भी थे। उन्हीं के प्रयत्नों के फलस्वरूप आज की हिन्दी का स्वरूप स्थित एवं समर्थ हो पाया है। जिस भाषा को एक राष्ट्रभाषा एवं राजभाषा का गौरव प्राप्त है, उसके परिनिष्ठित तथा स्तरीय रूप के निर्धारण में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का योगदान अविस्मरणीय है ।"[11]

सन्दर्भ सूची -

1. डॉ. वेद प्रताप वैदिक- हिन्दी पत्रकारिता विविध आयाम भाग - दो, सुश्री उषा शर्मा सुरभि - पुराने पत्रकारों की गद्य शैली, हिन्दी बुक सेंटर, नई दिल्ली, 2006, पृष्ठ -310
2. डॉ. नगेन्द्र, (सं.) हिन्दी साहित्य का इतिहास, मयूर पेपरबैक्स, 2001, पृष्ठ- 496
3. डॉ. रामविलास शर्मा, महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018 पृष्ठ- 360
4. डॉ. नगेन्द्र, (सं.) हिन्दी साहित्य का इतिहास, मयूर पेपरबैक्स, 2015, पृष्ठ- 497

5. डॉ. उदयभानु सिंह, महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, लखनऊ विश्वविद्यालय, 2000, पृष्ठ- 162
6. डॉ. रामचंद्र तिवारी, हिन्दी का गद्य-साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2015 वाराणसी, पृष्ठ- 628
7. डॉ. वेद प्रताप वैदिक- हिन्दी पत्रकारिता विविध आयाम भाग- एक, लक्ष्मी शंकर व्यास -उत्तर प्रदेश की हिन्दी पत्रकारिता, हिन्दी बुक सेंटर, नई दिल्ली, 2006, पृष्ठ 125
8. डॉ. रामचंद्र तिवारी, हिन्दी का गद्य-साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2015 वाराणसी, पृष्ठ- 630
9. डॉ. रामविलास शर्मा, महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018 पृष्ठ- 227
10. वही, पृष्ठ- 228
11. डॉ. वेद प्रताप वैदिक- हिन्दी पत्रकारिता विविध आयाम भाग - दो, सुश्री
12. उषा शर्मा सुरभि - पुराने पत्रकारों की गद्य शैली, हिन्दी बुक सेंटर, नई दिल्ली, 2006, पृष्ठ -315

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

शिक्षाशास्त्री के रूप में डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी

ऋतु कोहली
एसोसिएट प्रोफेसर,
महाराजा अग्रसेन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

शिक्षा वह अमृत धारा है जो कि जीवन नैया को पार करने का महत्वपूर्ण साधन है। सभी कष्टों के निवारण का मूल आधार यही शिक्षा है जो मानवतावदी दृष्टिकोण प्रदान करता है। जीवन को बेहतरी की ओर ले जाने का कार्य और उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति शिक्षा के बिना अधूरी है। भारत की धरती पर अनेक शिक्षा शास्त्रियों ने जन्म लिया और शिक्षा को न सिर्फ व्याख्यायित किया बल्कि उसे धरती पर व्यवस्थिति करने का भी मुश्किल काम अपने हाथों में लिया। इस शिक्षा शास्त्रियों की प्रतिभाओं को शब्दों में उकेरना आसान नहीं है। इन शिक्षा शास्त्रियों मे हम विवेकानंद, रविन्द्रनाथ टैगोर और गांधी का नाम सबसे पहले शामिल करते हैं। शुरूआत से ही भारत देश की एक विशेष शिक्षा पद्धति रही हैं जिसपर चलकर हमारे देश में लोग शिक्षा ग्रहण करते रहे हैं। अंग्रेजों के आने के बाद देश में शिक्षा का स्वरूप काफी प्रभावित हुआ। अंग्रेजी भाषा आज जीवन का हिस्सा बनती जा रही है। भारत का नौजवान आज अंग्रेजी माध्यम स्कूलों से शिक्षा ग्रहण कर रोजगार की तलाश कर रहा है।

शिक्षा शास्त्रियों ने शिक्षा को अपने अपने तरीके से विश्लेषित और व्याख्यायित किया है। बिट्रिश काल में अंग्रेजी भाषा और उसकी शिक्षा पद्धति का प्रचार प्रसार भारत में तीव्रता से हुआ। विदेश की तमाम भाषाओं का अस्तित्व देश में हुआ जिससे आधुनिक साहित्य से लेकर विज्ञान और नयी तकनीक यहां की शिक्षा व्यवस्था का हिस्सा बना। 7 मार्च 1905 को कलकत्ता अधिवेशन में सबने सहमति से चार बातों को सामने प्रस्तुत किया। जो इस प्रकार है– स्वराज की प्राप्ति, स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा की मांग। अंग्रेजी शासन में अंग्रेजी न जानने वाला व्यक्ति अपने को हीन महसूस करने लगा था। उसके रोजगार के अवसर लगभग न के बराबर होने लगे थे। उसी समस्या का विस्तृत रूप आज हमारे सामने दिखलायी पड़ रहा है। अंग्रेजी समस्या खुद नहीं बनी बल्कि इसका बनाने का अपना एक मार्किट है। आज परम्परागत शिक्षा प्रणाली पूरी तरह से गायब हो चुकी है। ''परम्परागत शिक्षत वर्ग भी परम्परागत पाठशालाओं, मदरसों व अन्य शिक्षा संस्थानों के बंद हो जाने से परेशान थे। अंततः परम्परावादी प्रबुद्ध वर्ग ने राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लेते हुए राष्ट्रीय शिक्षा को प्रोत्साहन दिया।''[1]

बंगाल विभाजन के साथ ही आंदोलन की भी मृत्यु

आजादी का संघर्ष करते हुए अनेक युवाओं ने अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था का बहिष्कार किया और देश में क्षेत्रीय विश्वविद्यालयों की स्थापना की। बंगाल उस समय देश की राजधानी थी। आंदोलन की गूंज इसी कारण बंगाल से शुरू होकर संपूर्ण देश को एक सूत्र में पिरो लेती थी। बंगाल से गुरूदास बनर्जी की अध्यक्षता में राष्ट्रीय शिक्षा प्रसार समिति का गठन हुआ और समिति ने देश भर में अनेक स्कूलों की इसके उपरांत स्थापना की। इसके साथ ही एक कॉलेज की भी इसके उपरांत स्थापना हुई। बंगाल की ही तरह देश के अन्य भाग ने इसे रोल मॉडन बनाने हुए कई शिक्षा संस्थानों की स्थापना की। कई राज्यों में गुरूकुल की स्थापना की गयी। 1910 के अधिवेशन में निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा का प्रस्ताव भी रखा गया। राष्ट्रीय शिक्षा का यह आंदोलन बहुत समय तक नहीं चला। जल्द ही यह उत्साह ठंडा पड़ गया और अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था अपना रूप धारण करने लगी। बंगाल विभाजन के बाद तो यह आंदोलन मृत्यु को प्राप्त हो गयी। ''सन् 1911 में बंगाल विभाजन की समाप्ति के साथ ही वह भी लगभग मृतप्राय हो गया। बाद में सन् 1920 में महात्मा गांधी के असहयोग आंदोलन के प्रारंभ होने पर इसे पुनर्जीवन मिला।''[2] शिक्षा की मांग इस घटना के बाद भी बंद बिलकुल नहीं हुई। भारत सरकार ने

1913ई में शिक्षा से संबंधित नीति को पारित किया जिसमें मुफ्त शिक्षा को तो स्वीकार नहीं किया गया लेकिन यह स्वीकार किया कि देश से निरक्षरता दूर करने से संबंधित नीति पर अवश्य कार्य होगा। एक सहमति से सभी ने यह माना कि प्राथमिक शिक्षा पर धन खर्च करना आवश्यक है। प्रथम महायुद्ध के समय इन तमाम नीतियों पर लगभग ताला लग गया। कलकत्ता विश्वविद्यालय में इसी के उपरांत 1916ई में इसके उपकुलपति ने विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम का प्रारंभ किया। पहले महायुद्ध के बाद सन् 1917 में कलकत्ता आयोग की स्थापना की गयी।

आयोग के अध्यक्ष डॉ माइकल सैडलर थे। इससे पहले वह लीड्स विश्वविद्यालय के कुलपति रह चुके थे। आयोग का काम था कि विश्वविद्यालय की दिशा और इसकी दशा की जांच करना। इसमें जो भी समस्याएं आएं उन पर विचार करना और हल निकालना। ''कमीशन का कहना था कि सामान्यतः शिक्षित बंगाली द्वैभाषिक होना चाहेगा। इसलिए एक ओर देश–भाषा का अध्यापन अधिक वैज्ञानिक बनाया जाए तो दूसरी ओर अंग्रेजी के अध्ययन में भी कुछ परिवर्तन किये जायें। हाईस्कूलों में सर्वत्र देश–भाषा का ही प्रयोग होना चाहिए। अंतिम चार वर्षों में अंग्रेजी और गणित अंग्रेजी के माध्यम से पढ़ायें जायें। मैट्रिक की परीक्षा में अतः इन दो विषयों के सिवाय उत्तरों का माध्यम इच्छानुसार अंग्रेजी या देश–भाषा रह सकता है। मैट्रिक के बाद शिक्षा का माध्यम इच्छानुसार अंग्रेजी या देश–भाषा रह सकता है। मैट्रिक के बाद शिक्षा का माध्यम देश–भाषाओं को छोड़ अंग्रेजी ही रहेगा। अंग्रेजी में मौखिक परीक्षा रखी जाये। साहित्यिक और व्यवहारिक प्रयोग में आने वाली अंग्रेजी का भेद तो रखा जाए परन्तु सब विद्यार्थियों के लिये अंग्रेजी साहित्य का कोर्स अनिवार्य न हो तथा देश–भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहन दिया जाये।''[3]

राष्ट्रीय अखण्डता और भारतीय भाषाएं

लोकसभा में हिंदी भाषा पर आयोजित संसदीय वाद विवाद पर सन् 1950 में डॉ. श्यामा प्रसाद मुकर्जी ने कहा था कि ''भारत में कई भाषाएं रही हैं। यदि हम विगत वर्षों को देखे तो हम पायेंगे कि इस देश में सभी लोगों के लिए एक भाषा लागू करना संभव नहीं हो पाया है। मेरे कुछ मित्रों ने कहा है कि एक ऐसा दिन आयेगा जबकि भारत की केवल एक भाषा होगी। ईमानदारी से कहूं तो मैं इस विचार से सहमत नहीं हूं। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि भारत की राष्ट्रीय अखंडता के निर्माण के लिए इस बात की उपेक्षा की जा सकती है। यह हमारे भविष्य के पुनर्निर्माण की आधारशिला है। देशी राष्ट्रीय अखण्डता की प्राप्ति के लिये उन तत्वों का सहयोग भी जरूरी है जो गरिमा सौहार्द और आत्मसम्मान से कार्य करने के लिए महत्वपूर्ण है। भारत को इस पर गर्व है कि हमारी उत्तर से दक्षिण, पूर्व से पश्चिम तक अनेक भाषायें है और प्रत्येक भाषा ने अपने–अपने तरीके से भारत के उन जीवन दर्शन और सभ्यता में योगदान किया है जो आज हमारे समक्ष है।''[4]

पिता से प्राप्त शैक्षिक गतिविधियों में सक्रियता

मुकर्जी जी अपने पिता के साथ उनके शैक्षिक गतिविधियों में हमेशा ही सक्रिय रहे थे इसी कारण जब मुकर्जी जी को हम शिक्षाशास्त्री के रूप में देखते हैं तो वह अपने पिता की छवि ही बनाते दिखते हैं। उनका प्रशिक्षण पिता के कारण इस क्षेत्र में पहले से ही बनना प्रारंभ हो गया था। शिक्षा के क्षेत्र में मुकर्जी की इस प्रतिभा को जल्द ही 23 वर्ष की उम्र में स्थान मिला और कलकत्ता विश्वविद्यालय की सीनेट के सदस्य के रूप में इनकी नियुक्ति हुई। इसके कुछ समय बाद सनफ 1924 में इसी विश्वविद्यालय में अध्येता के रूप में इनकी नियुक्ति हुई। आजादी मिलने तक मुकर्जी जी इस पद पर बने रहें। सन् 1929 में बंगाल विधान परिषद् के लिए यह निर्वाचित हुए और सिर्फ 33वर्ष की आयु में सन् 1934 में कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलपति नियुक्त हुए। ''शिक्षा के क्षेत्र के स्वरूप का समर्थन डॉ श्यामा प्रसाद मुकर्जी की डायरी में मिलता है। वह यह सहन नहीं कर सकते थे कि शिक्षा क्षेत्र की पार्टी और साम्प्रदायिक राजनीति के हाथ का खिलौना बना दिया जाये। उन्होंने लीगी सरकार की शिक्षा के सम्प्रदायीकरण की नीति के विरूद्ध जनमत जगाने का निर्णय लिया।''[5]

मुस्लिम लीग का ढहना

मुकर्जी जी और उनके पिता ने 1935ई में बंगाल प्रांत में अपनी सरकार बनाते हुए मुस्लिम लीग के बनाएं शैक्षिक ढांचे पर प्रहार करने का निर्णय लिया। मुस्लिम लीग के साथ समझौता करने की नीति राष्ट्रवादी भावना के प्रतिकूल थी इसी कारण इसका विरोध करना तय किया गया। कांग्रेस नेताओं को जब मुकर्जी असफल हो गये तो उन्होंने अकेले ही मुस्लिम लीग सरकार को गिराने का निर्णय लिया। विधान मंडल में गैर कांग्रेस हिंदूओं को एकत्र किया, कृषक प्रजा पार्टी के साथ फजलूल–हक के नेतृत्व में प्रगतिशील संयुक्त सरकार का निर्माण किया जिसमें वह स्वयं वित्तमंत्री बनें। इस प्रयास से उन्हें दूरदर्शी नेता के रूप में स्वीकार किया गया। सन् 1938 तक वह दो बार अपना कुलपति कार्यकाल को पूर्ण कर चुके थे। इस समय तक यह भ्रम लोगों के भीतर डालने का प्रयास हुआ कि अंग्रेजी संस्कृति को फैलाकर वे शिक्षित भारतीयों में शासन करने में सफल हो जायेंगे। भारतीयों को मजबूर किया जाता था अंग्रेजी आने पर उन्हें नौकरी मिलेगी। इसका परिणाम यह हुआ कि शिक्षा अमीर और केवल शहर में रहने वालों तक ही सिमट कर रह गयी।

लॉर्ड बैंटिक के शासनकाल में सन् 1835 में स्कूलों में अंग्रेजी शिक्षा देने का विधान रखा गया। अंग्रेजी साहित्य राष्ट्रीयता की भावना से मिश्रित था जिसने भारतीय जनमानस में राष्ट्र प्रेम और अपनी भाषा की महत्ता को दर्शाया। जिससे परिणामस्वरूप गुलामी की बेड़ियों को खत्म करने के लिए बड़े जन समूह में राष्ट्रीय आंदोलन हुए। डॉ. श्यामा प्रसाद मुकर्जी ने अपनी भाषा और स्थानीय शिक्षा पद्धति को प्रोत्साहन किया जिससे भारतवासियों का बेहतर मानसिक विकास हो सके।

संस्कृति और धर्म का वैज्ञानिक विश्लेषण

अपने कुलपति के कार्यकाल में मुकर्जी ने माध्यमिक शिक्षा को पुनः गठित किया। बंगाल की स्थानीय भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने की ओर सफल कार्य किया। उन्होंने ललित कला दीर्घा, शिक्षक प्रशिक्षण विभाग, भारतीय कला संग्रहालय, विशाल केन्द्रीय पुस्तकालय और सैन्य प्रशिक्षण पाठ्यक्रम की नींव स्थापित की। कुशाग्र बुद्धि के धनी डॉ श्यामा प्रसाद मुकर्जी ने लगभग सभी परीक्षाओं में प्रथम स्थान प्राप्त किया। कलकत्ता के प्रसीडेंसी कॉलेज से अंग्रेजी विशेष में सन् 1921 में स्नातक की परीक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त किया। इसके पश्चात् सन् 1923 में कलकत्ता विश्वविद्यालय से बंगाली भाषा और उसके साहित्य में स्नात्कोत्तर की उपाधि धारण करने के उपरांत बीएल की परीक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त किया। आगे की पढ़ाई उच्च शिक्षा में इन्होंने इंग्लैंड से प्राप्त की और सन् 1927 में लिंकन इन्न से बैरिस्टर की उपाधि इन्होंने प्राप्त की। शिक्षा, साहित्य और संस्कृति का इन्होंने मात्र अध्ययन ही नहीं किया अपितु उसे अपने शिक्षण और राजनीति जगत में आत्मसात भी किया। इसी कारण संस्कृति और धर्म का वैज्ञानिक विश्लेषण करने के विषय में लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ।

अपने कलकत्ता आवास के दौरान मुकर्जी जी ने देश के तमाम विद्वानों को भाषण माला में आमंत्रित किया इसी कड़ी में रवींद्र नाथ ठाकुर को भी आमंत्रित किया गया। डॉ मुकर्जी की पहली मुलाकात रवींद्र नाथ ठाकुर से मात्र बीस वर्ष की आयु में ही हो गयी थी उस समय मुकर्जी केवल यह जानना चाहते थे कि आखिर नोबल पुरस्कार प्राप्त करने का समाचार किस तिथि को मिला। इसके उत्तर में डॉ मुकर्जी को यह जानकारी प्राप्त हुई कि ठीक तिथि का तो ज्ञान नहीं पता पर इसकी औपचारिक सूचना 1913 मध्य नवंबर में मिली। इस घटना के बाद रवींद्रनाथ ठाकुर और डॉ मुकर्जी के बीच संपर्क बना रहा। ''उनकी इच्छा थी कि कवींद्र 1936 में विश्वविद्यालय के वार्षिक दीक्षांत समारोह को सम्बोधित करें तथा इसके लिए सहमति प्राप्त करने के लिए रवीन्द्रनाथ ठाकुर को व्यक्तिगत तौर पर पत्र लिखा किन्तु कवि ने अपनी पूर्व निर्धारित व्यस्तताओं के कारणवश अपनी असमर्थता व्यक्त की।''[6] इसके बाद डॉ मुकर्जी को निराशा हुई लेकिन उन्होंने इस आशा को नहीं छोड़ा। अगले मौके पर उन्होंने पुनः ठाकुर जी को आमंत्रित किया मौका था दीक्षांत समारोह का। इस बार उन्होंने आशा के अनुकूल ही कार्य किया और दीक्षांत समारोह में उपस्थित हुए। इस समारोह में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने यह शर्त रखी कि वह अपना अभिभाषण बंगाली भाषा में ही देंगे। बंगाली भाषा में यह पहला अभिभाषण था।

कलकत्ता के विश्वविद्यालय में यह पहला मौका था जब किसी विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की उपस्थिति रही हो वह भी बंगाली अभिभाषण के साथ।

देशीय भाषा में वैज्ञानिक शब्दों के समतुल्य शब्दों की तलाश

उच्च शिक्षा को लेकर इस समय विश्वविद्यालय संख्या मे ंतो काफी बढ़े परन्तु गुणवत्ता को लेकर इसमें खासी निराशा थी। उच्च शिक्षा का स्तर दिन प्रतिदिन गिर रहा था। डॉ मुकर्जी का योगदान केवल शिक्षा तक ही सीमित नहीं रहा था बल्कि अपने देश के लिए उन्होंने भारतीय राजनीति में भी बढ़चढ़कर भाग लिया। ''डॉ श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने तीन भाषाओं बांग्ला, हिन्दू और उर्दू को समान स्तर पर रखा। उनके निर्देश पर वैज्ञानिक शब्दों के बांग्ला समतुल्य शब्द विशेषज्ञ तैयार किए। मैट्रिक स्तर पर मातृभाषा को शिक्षा एवं परीक्षा की भाषा बनाने हेतु अकेले ही संघर्ष किया और विजयी हुए। कलकत्ता विश्वविद्यालय में मातृभाषा के संरक्षण का प्रयास प्रभावी किया।''[7] आजादी के बाद यह महसूस हुआ कि उच्च शिक्षा को दुरूस्त कर के राष्ट्र के लिए उपयोगी शिक्षा की व्यवस्था बनानी होगी। जिसके बाद 1945ई में डॉ सर्वपल्ली राधाकृष्णन् की अध्यक्षता में विश्वविद्यालय आयोग का गठन हुआ। इस आयोग में यह बात शामिल हुई कि अंग्रेजी भाषा से आए शब्दों को तो जस का तस स्वीकार किया जाना जाना चाहिए और अंग्रेजी के स्थान पर भारत की आधुनिक भाषा को उच्च शिक्षा में माध्यम के रूप में स्वीकार करना होगा। बाद में त्रिभाषा के अन्तर्गत प्रादेशिक भाषा, संघीय भाषा और अंग्रेजी का अध्ययन उच्च शिक्षा में होने लगा। धीरे धीरे अंग्रेजी का प्रभाव ऐसा बढ़ा कि सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक जीवन का यह अभिन्न हिस्सा बन गया।

हिंदी भाषा पर 7अगस्त 1952 में संसदीय वाद विवाद पर कहा था ''हिंदी एक सार्वजनिक भाषा हो सकती है तथा हम सभी को यह सीखनी चाहिए। किन्तु मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ है कि अभी अन्त में बोलने वाले माननीय सदस्य ने यह कहा कि देश में आज कोई कठिनाई नहीं है क्योंकि हिंदी को भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। यहां तक कि संविधान में भी यह व्यवस्था है कि हिंदी क्षेत्रीय भाषाओं की कीमत पर नहीं फले–फूलेगी। भारत के लिए वह एक दुःखद दिन होगा जिस दिन ये महान भारतीय भाषाएं, जिन्होंने समग्र रूप में भारतीय संस्कृति का विकास करने में अपना योगदान दिया है तथा जिनमें से कुछ ने तो विश्व संस्कृति का विकास करने में अपना योगदान दिया है तथा जिनमें से कुछ ने तो विश्व संस्कृति तथा सभ्यता में बहुत ही सार्थक योगदान दिया है। स्वतंत्र भारत से लुप्त हो जायेंगे।''[8]

वयस्कों के लिए सैनिक शिक्षा आवश्यक

डॉ श्यामा प्रसाद मुकर्जी ने शिक्षाशास्त्री के रूप में रचनात्मक विश्लेषण कर आजादी के बाद वर्तमान परिस्थितियों के अनुसार शिक्षा व्यवस्था पुर्नगठन पर बल दिया। इन्होंने शिक्षाशास्त्री के रूप में शिक्षा नीतियों और सिद्धांतो का प्रतिपादन किया। डॉ मुकर्जी ने उच्चतम वैज्ञानिक शिक्षा के लिए सुविधाओं के प्रबंध पर बल दिया। उनका मानना था कि सभी वयस्कों के लिए सैनिक शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए। उनका मानना था कि धनी और निर्धन दोनों को सामान शिक्षा उपलब्ध हो। जिस भी व्यक्ति में प्रतिभा हो उसे शिक्षा उपलब्ध करायी जाये। गरीब और अमीर के बीच की खाई को पाटने का यहीं सबसे बेहतर रास्ता है। गरीब और अमीर सभी के बीच सामाजिक और आर्थिक भेदभाग मिटाने का प्रयत्न करना, विशेषकर पिछड़े वर्ग के व्यक्तियों को समाज में समानता दिलाना समाज और मानवता दोनों के लिए उपयोगी है।

जीवन के कुल 52वर्ष में से 14वर्ष राजनीति में बिताकर कम उम्र जीकर इतिहास में अमर हो चुके एक देश भक्त, शिक्षाशास्त्री, कुशल वक्ता और भारत के सुपुत्र डॉ श्यामा प्रसाद मुकर्जी को आने वाली पीढ़ियां हमेशा याद रखेंगी। अपने पिता की मृत्यु का आघात उन्हें बहुत सालता रहा जिसपर अपनी डायरी में उन्होंने लिखा भी हे। 1924ई में पिता की मृत्यु ने जीवन को नया मोड़ दिया। कलकत्ता विश्वविद्यालय की पिता से मिली गतिविधियों ने उन्हें लम्बे समय तक जोड़े रखा। ''पिता स्व श्री आशुतोष मुखर्जी बंगाल के वकालत, शिक्षा और राजनीति तीनों क्षेत्रों के प्रतिष्ठित लोगों में से एक थे। वे कलकत्ता विश्वविद्यालय के उप–कुलपति तथा कलकत्ता उच्च न्यायालय के न्यायाधीश थे। डॉ

श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने अपने पिता डॉ आशुतोष मुखर्जी की मृत्यु से होने वाले आघात को अपनी डायरी में प्रस्तुत किया है। पिता की मृत्यु 1924 का वर्ष उनके जीवन में एक मोड़ सिद्ध हुआ। पिता की मृत्यु के बाद वे कलकत्ता विश्वविद्यालय की गतिविधियों से जुड़े और तब से लेकर अपने उप कुलपति काल के दौरान और बाद में 1947 तक वे किसी न किसी रूप में विश्वविद्यालय की सेवा करते रहे। 1924 का वर्ष उनके सक्रिय सार्वजनिक जीवन में उतरने का वर्ष है।''[9] डॉ श्यामाप्रसाद मुकर्जी के भाषण हमेशा ही दिल को छू लेने वाले होते थे। वे महान वक्ता थे और उनकी संयमित भाषा कभी भी विषय से इतर जाकर बात नहीं करती थी। कुशल शोधार्थी के सभी गुण उनमें दिखलायी पड़ते थे। बिना शोध के उनकी बात नहीं होती थी। इसी पर संसद में मौजूद उनके भाषणों पर अमिताभ घोष अपन एक संस्मरण में कहते हैं कि ''मेरी मां कहा करती थी कि जब डॉ श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने बोलना शुरू किया तो एक खास बिंदु पर जवाहरलाल नेहरू उठ खड़े हुए और टोका। फिर क्या था? उन्होंने बोलना बंद कर दिया और चुपचाप खड़े रहकर नेहरू जी को बोलने का अवसर दिया किवे जो कुछ कहना चाहते हैं, कहें। नेहरू कुछ बोलकर बैठ गए और जैसे जी बैठे, उनके समर्थक एम पी क्योंकि संसद में उनका प्रचंड बहुमत था, तालियां पीटने लगे। तर्क दिया गया कि चूंकि उनके नेता बोल चुके हैं, वे तालियां बजाने के लिए प्रतिबद्ध हैं। फिर तालिया बजनी बंद हो गई परन्तु डॉ मुखर्जी ने अपना स्पीच दुबारा शुरू नहीं किया। उन्होंने क्या कि तालियों के जवाब में मेजें थपथपानी शुरू की और दो मिनट तक थपथपाते रहे। फिर एक जोर का ठहारा लगाया और इस तरह एक कुशल सांसद के रूप में अपनी पटफता का परिचय दिया जो काबिले तारीफ था।''[10] यह शिक्षा है और यही उनका शिक्षाशास्त्र जिसमें देशप्रेम और मानवप्रेम साफ दिखायी देता है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची :

1. गुप्ता, एस.पी. एवं अलका गुप्त, भारतीय शिक्षा का इतिहास, विकास एवं समस्यायें, इलाहाबाद, 2009, पृ 67
2. गुप्ता, एस.पी. एवं अलका गुप्त, भारतीय शिक्षा का इतिहास, विकास एवं समस्यायें, इलाहाबाद, 2009, पृ 68
3. शर्मा, एस.आर, अंग्रेजी शिक्षा, इतिहास एवं समस्याएं, अर्जुन पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 2014, पृ 112
4. संसदीय, वाद विवाद, 6दिसंबर 1950, स्तम्भ,1279–1286, आफिशियल रिपोर्ट 1950–51, पार्लियामेंट्री सेक्रेटिरेयट, नयी दिल्ली।
5. डायरी, 2जनवरी 1944, एसपीएम डायरी न. 1436, नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय, नयी दिल्ली।
6. श्यामा प्रसाद मुखर्जी का पत्र ठाकुर को, दिनांक 16जनवरी 1936, एसपीमुखर्जी पेपर, नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय, नयी दिल्ली।
7. सिन्हा, दिनेश चंद्र, अमेय मैत्री, डॉ श्यामा प्रसाद मुखर्जी शोध अधिष्ठान, नयी दिल्ली, पृ 14
8. संसदीय, वाद विवाद, 7अगस्त 1952, स्तम्भ,5885–5899, आफिशियल रिपोर्ट 1952–53, पार्लियामेंट्री सेक्रेटिरेयट, नयी दिल्ली।
9. डायरी, 1 फरवरी 1939, एसपीएम डायरी न. 1436, नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय, नयी दिल्ली।
10. पद्मिनी, हरीशचन्द्र, डॉ श्यामाप्रसाद मुखर्जी समकालीन दृष्टि में, नोएडा न्यूज प्रा लिमिटेड, दिल्ली 1997, पृ 48

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

प्रेमचंद की स्वराज्य संबंधी परिकल्पना

डॉ0 धर्मेन्द्र कुमार अग्रहरि
असिस्टेन्ट प्रोफेसर
भवन्स मेहता महाविद्यालय, भरवारी, कौशाम्बी

शोषणविहीन जन स्वातंत्र्य में प्रेमचंद की गहरी आस्था थी, इसीलिए वे युगीन जनान्दोलनों से तटस्थता धारण नहीं कर सके। उन्होंने साहित्यकार की समाजनिरपेक्ष स्वतंत्रता का विरोध करते हुए उसे जनआंदोलन का भागीदार बताया और स्वयं गांधी जी के आह्वान पर सरकारी नौकरी छोड़कर तथा अपने साहित्य की संपूर्ण शक्ति को जन–स्वातंत्र्य की दिशा में उन्मुख करके एक अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया। जनान्दोलनों से तटस्थ रहने वाले साहित्यकारों को लक्ष्य करके उन्होंने कहा, ''यदि साहित्य ने अमीरों के याचक बनने को जीवन का सहारा बना लिया हो और उन आंदोलनों, हलचलों और क्रांतियों से बेखबर हों, जो समाज में हो रही हैं, अपनी ही दुनिया बनाकर उसमें रोता और हँसता हो, तो इस दुनिया में उसके लिए जगह न होने में कोई अन्याय नहीं है।''[1] सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति सजग रहने वाले जागरूक, संवेदनशील साहित्यकार का सामाजिक आंदोलनों से असंपृक्त रहना किसी प्रकार से संभव नहीं है। इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए प्रेमचंद ने कहा ''साहित्यकार बहुधा अपने देशकाल में प्रभावित होता है। जब कोई लहर देश में उठती है तो साहित्यकार के लिए उससे अविचल रहना असंभव हो जाता है और उसकी विशाल आत्मा अपने देशबंधुओं के कष्टों से विकल हो उठती है।''[2] कहने की बात नहीं है कि यह सब बातें प्रेमचंद के साहित्य पर पूर्णतः चरितार्थ हो जाती हैं। उनका संपूर्ण साहित्य जनवाद के समर्थन का साहित्य है, जिसमें भारतीय जनान्दोलनों का यथार्थपरक चित्र विद्यमान है।

प्रेमचंद के आरंभिक लेखन में स्वराज्य की कोई स्पष्ट रूपरेखा नहीं है। उन्होंने धार्मिक अंधविश्वासों, रूढ़ियों, महंत, पंडो, पुरोहितों, जनता को भ्रमित करने वाली धार्मिक संस्थाओं तथा नारी–मुक्ति जैसे विषयों को अपने लेखन का विषय बनाया। इसके साथ ही साथ प्रेमचंद ने अपने समकालीन लेखकों को अपने विशिष्टता का परिचय हमेशा दिया। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ तथा देश प्रेम की भावना उनके लेखन में आरंभ से ही रही है। साम्राज्यवाद के सक्रिय विरोध के कारण ही उनकी रचनाएं जब्त हुईं। 'आर्यसमाज' के सुधारवाद तथा स्वदेशी आंदोलन में 'आर्यसमाज' की सक्रिय भूमिका ने प्रेमचंद को प्रभावित किया। जून 1905 में ''जमाना'' के एक लेख में उन्होंने कहा, ''लाहौर के आर्य समाज मेम्बरों को सिर से पैर तक हिन्दुस्तान की बनी चीजों से सजे हुए देखना सचमुच बहुत दिलचस्प और याद रखने काबिल दृश्य है। हम अपने समाजी भाईयों के देश–प्रेम और कौमी जोश के हमेशा से प्रशंसक रहे हैं। यह लोग उसी सम्मान और धन्यवाद के अधिकारी होंगे, जिससे कि वह राष्ट्रीय और सामाजिक सुधारों के लिए हैं।''[3]

आर्य समाज की ऐतिहासिक भूमिका धीरे–2 समाप्त होती गयी और वह देश में प्रतिक्रियावादी और साम्प्रदायिक राजनीति का भाग बनता गया। जिस दलदल से वह भारतीय समाज को निकालने का दावा करता था, यह संगठन अंततः उसी दल–2 में फँसता गया। प्रेमचंद ने 1923 में आर्य समाज की बदली हुई प्रतिगामी भूमिका का खुलकर विरोध किया। मुंशी दयानारायण निगम को लिखे गए एक पत्र में उन्होंने स्पष्ट कहा, ''लेकिन मलकाना शुद्धि पर एक मुख्तसर–सा–मजमून लिख रहा हूँ। मुझे इस तहरीक से सख्त इख्तिलाफ है। तीन बार दिन में भेजूँगा। आर्य समाज वाले भन्नाएँगे। लेकिन उम्मीद है आप इस मजमून को ''जमाना'' में जगह देंगे।''[4]

प्रथम महायुद्ध तक भारतीय बुर्जुआ वर्ग की प्रगतिशील और साम्राज्यवाद विरोधी भूमिका का प्रेमचंद ने समर्थन किया। स्वदेशी आंदोलन भारतीय उद्योग धन्धों को प्रोत्साहन देने के लिए आरंभ किया

गया था। स्वदेशी को प्रेमचंद ने स्वराज्य की भावना से जोड़ा। 1905–1906 में प्रेमचंद को यह चिंता थी कि स्वदेशी वस्तुओं का देश में अधिक से अधिक प्रयोग होना चाहिए। विदेशी माल के बहिष्कार से राष्ट्रीयता को बल मिलेगा। इस संबंध में उन्होने ''ज़माना'' में कई लेख भी लिखे। उनका विचार था कि बिना स्वदेशी चीजों जैसे, कपड़ा, चीनी, रुई आदि के प्रसार के राष्ट्रीय मुक्ति नहीं है।

भारतीय बुर्जुआ वर्ग के सामने जनमानस के इस त्याग और बलिदान की भावना का केवल व्यापारिक महत्त्व है, यह बात प्रेमचंद के सामने आगे चलकर स्पष्ट हो गई। गाँधी तथा कांग्रेस के अन्य नेता जहाँ इस स्वदेशी आंदोलन को अंत तक अपना आधार बनाएं रखे, प्रेमचंद ने साफ–साफ देखा कि इस आंदोलन में भारतीय पूँजीपति वर्ग का मुनाफा कई गुना बढ़ गया है। साधारण जनता निरंतर आर्थिक मंदी, भुखमरी और बेकारी का शिकार बनाती जा रही थी। मजदूरी सस्ती हो गयी थी। कच्चा माल सस्ता हो गया था। पर कपड़ें के दाम ज्यों के त्यों थे। उन्होनें क्षोभ के साथ कहा ''कि वह मिल मालिक तो यही चाहते हैं कि भारत में कहीं का माल न आने पाए और वह अपनी चीज के मुँहमाँगे दाम खड़ें करें। लेकिन यह नीति बहुत दिनों तक नही चल सकती, न जनता को हमेशा मुगालते में रखा जा सकता हैं।''[5]

राष्ट्रीय आंदोलन मे कांग्रेस में नेतृत्व में विभिन्न विचार–धाराओं के लोग थे । कांग्रेस ही देश का सबसे बड़ा जनसंगठन था हांलाकि इसके नेतृत्व में अनेक अन्तर्विरोध थे। प्रेमचंद का साम्राज्यवाद विरोध ही उन्हें कांग्रेस के नजदीक ले गया। लेकिन कांग्रेस के नेतृत्त्व वर्ग में राजनीतिक और सामाजिक प्रश्नों पर गहरे मतभेद थे। प्रेमचंद राजनीतिक स्तर पर गर्म दल के साथ थे क्योंकि वह पूर्ण स्वराज्य की बात करते थे। समझौतावादी नरम दल की उन्होंने आलोचना की। उनके मित्र दयानारायण ने लिखा है, ''प्रेमचंद का राजनैतिक रूझान गर्म दल की ओर था। वे तिलक के हामी थे और मैं गोखले और फिरोजशाह मेहता का हामी था।[6]

प्रेमचंद नरम दलीय राजनीति के विरोधी रहे। असहयोग आंदोलन के दौरान उन्होंने इस राजनीति पर व्यंग्य करते हुए लिखा, ''अब ख्याल कीजिए। अभी दो साल पहले यहाँ की राजनीतिक हालत क्या थी। लोग बेजा खुशामद और लच्छेदार बातों को राजनीति का मुख्य अंग समझते थे। यहाँ तक कि मजहबी जलसों और मुशायरों में भी राजभक्ति पर प्रस्ताव करना एक मुख्य कर्त्तव्य हो गया था। सरकारी नौकरियों के लिए कितनी दौड़ धूप, कितनी छीनाझपटी और कितनी गुप्त कार्यवाहियाँ की जाती थीं।''[7]

यह दिलचस्प बात है कि राजनीतिक रूप से तिलक के पूर्ण स्वराज्य के हिमायती प्रेमचंद, उनके रूढ़िवादी और धार्मिक पुनरूत्थानवादी दृष्टिकोण के विरोधी थे। पूर्ण स्वराज्य की माँग करने वाले तिलक सामाजिक मूल्यों में विधवा–विवाह, स्त्री–शिक्षा आदि के समर्थक नहीं थे। प्रेमचंद ने उनकी इन सामाजिक प्रवृत्तियों का अपने लेख में सदैव विरोध किया। नारी–मुक्ति के लिए प्रेमचंद सदैव हिमायती रहे। 1907 में छपे उपन्यास ''प्रेमा'' में प्रेमचंद ने विधवा–विवाह का समर्थन किया है। इस प्रकार इन सामाजिक मूल्यों में वह गोखले की 'रिफार्म लीग' के समर्थक हैं। वे इस रूप में मूर्तिभंजक हैं, किसी के अंध भक्त कभी नहीं रहे।

समझौतावादी नरमदलियों के मुकाबले तथा अव्यवहारिक और अन्तर्विरोधी राजनीतिज्ञ तिलक के मुकाबले गाँधी जी प्रेमचंद को ही नहीं बल्कि देश की समस्त पीड़ित जनता को भी मुक्तिदान के रूप में दिखाई दिए। भारतीय राजनीति में गाँधी ने पहली बार समझौते के साथ संघर्ष की नीति को व्यापक रूप प्रदान किया। उन्होंने कांग्रेस के आंदोलन को उच्च–मध्यम वर्ग से निकालकर लाखों किसानों, मजदूरों और निम्न–मध्यम वर्ग से जोड़ दिया। राष्ट्रीय आंदोलन को व्यापक जनाधार प्रदान करने में गाँधी जी की ऐतिहासिक भूमिका से कोई इंकार नहीं कर सकता। प्रेमचंद संघर्षशील गांधी के साथ थे। किसानों की पीड़ा पर मरहम लगाने वाले साम्राज्यवादी विरोधी महात्माजी को वह श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि वे गाँधीवादी थे या गाँधी के स्वराज्य की कल्पना प्रेमचंद के स्वराज्य की कल्पना है। गाँधी के व्यक्तित्त्व से प्रभावित प्रेमचंद ने अपने उपन्यास 'प्रेमाश्रम' में प्रेमशंकर के चरित्र को प्रस्तुत किया है। वह पहला उपन्यास है जो जमींदारों के शोषण का संपूर्ण रूप

से चित्रण करता है तथा इस वर्ग द्वारा अन्याय और क्रूरता का कलात्मक विवरण भी देता है। उस समय अन्याय और क्रूरता का कलात्मक विवरण भी देता है। उस समय के किसान आंदोलन की प्रमुख माँगो जैसे– लगानबंदी, चारागाहों, तालाबों का समाजीकरण तथा बेगारी के विरोध का प्रेमचंद ने इस उपन्यास में पूरा समर्थन किया है। हालांकि गाँधीजी इस तरह के किसान आंदोलनों के कभी पक्षधर नहीं रहे। उन्हें संदेह है कि 'सत्याग्रह' में अन्याय का दमन करने की शक्ति है। यह सिद्धांत भ्रांतिपूर्ण सिद्ध हो गया है। यद्यपि उपन्यास का अंत 'प्रेमाश्रम' बनाकर करते हैं जो गाँधी के नैतिकतावादी आदर्श से प्रभावित है।

इसी उपन्यास में प्रेमचंद ने किसानों की मुक्ति के लिए सोवियत क्रांति की ओर आशापूर्ण दृष्टि डालते हैं। रूस और बुल्गारिया में हुई समाजवादी क्रांतियों की तरह वे भारत में भी किसान मजदूरों के राज्य की आशापूर्ण कल्पना करते हैं।[8] दूसरों की कमाई अर्थात् मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण पर आधारित व्यवस्था का विरोध प्रेमचंद ने 1920 में लिखे अपने इस पहले राजनैतिक उपन्यास ''प्रेमाश्रम'' में ही किया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि मेरा यह सिद्धांत है कि मनुष्य को अपनी कमाई खानी चाहिए। किसी को यह अधिकार नहीं है कि वह दूसरों की कमाई को अपनी जीवनवृत्ति का आधार बनाए।[9] यह ढूँढ़कर चयन हुए संदर्भ नहीं है। 'प्रेमाश्रम' के लेखन के दौरान ही प्रेमचंद ने ''नया जमाना–पुराना जमाना'' नामक अपना प्रसिद्ध लेख फरवरी 1919 में लिखा था। अपने स्वराज्य की भावी रूपरेखा बड़े स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करते हुए उन्होंने उस लेख में कहा ''स्वराज्य की बेकार और बेमतलब सदाओं पर तकिया करके बैठने का अब वक्त नहीं क्योंकि आने वाला समय अब जनता का है। वह लोग पछताएँगे जो जमाने के कदम से कदम मिलाकर न चलेंगे।''[10]

इसी लेख में एक अन्य जगह उन्होंने कहा, ''क्या यह शर्म की बात नहीं है, जिस देश में 90 फीसदी आबादी किसानों की हो उस देश में कोई किसान सभा, कोई किसान की भलाई के आंदोलन का व्यवस्थित प्रयत्न न हो।..... आने वाला जमाना अब किसानों और मजदूरों का है।''[11]

आने वाले जमाने में किसानों और मजदूरों की मुक्ति का यह स्वप्न प्रेमचंद का केवल सामयिक आवेश नहीं था, बल्कि यह उनका निरंतर विचार था, जो समय के साथ–2 और प्रगाढ़ और तर्कसंगत होता गया। मई 1934 में प्रेमचंद ने फिर अपनी इसी आकांक्षा को दुहराया। जब तक कोई काश्तकारों के बीच रहकर काम नहीं करेगा तब तक उनकी स्थिति सुधारी नहीं जा सकती। जरूरत है खुद उनके बीच रहकर उनके साथ काम करने की। लम्बी–लम्बी स्पीचों से किसानों की भलाई संभव नहीं। यह पढ़ने–लिखने का काम छोड़कर देहातों में भी काम करने की मेरी इच्छा है।[12]

दृष्टव्य है कि राष्ट्रीय आंदोलन का बुर्जुआ नेतृत्त्व मजदूरों और किसानों के लड़ाकू संगठनों का आरंभ से ही विरोध रहा था। गाँधी के निर्णायक रूप ले रहे मजदूरों के संघर्षों की निंदा तथा उनसे आंदोलन वापस लेने को कहा था। इसी प्रकार मालाबार के मोपला विद्रोह तथा संयुक्त प्रदेश के किसान विद्रोहों को भी निंदनीय बताया। चौरी–चौरा में दलित किसानों के संगठित विद्रोह की उन्होंने भर्त्सना की तथा नाराज होकर असहयोग आंदोलन वापस ले लिया। राजपुताना के भीतर आंदोलन के चरम विंदु पर उन्होंने हस्तक्षेप करके उसे खत्म करवा दिया। निश्चय ही प्रेमचंद का स्वराज्य, गाँधी के रामराज्य की कल्पना से बिल्कुल अलग था। अपने अवास्तविक रामराज्य की आकांक्षा करने वाले गाँधी ट्रस्टीशिप के सिद्धांत द्वारा एक ऐसे समाज की कल्पना कर रहे थे, जिसमें पूँजीपति और जमींदारों के वर्चस्व पर कोई आँच न आए शेर और बकरी एक घाट पर पानी पिएँ। किसी भी स्थिति में गाँधी पूँजीपतियों से उनकी संपत्ति छीनने के हामी नहीं थे। बल्कि उन्होंने तो यहाँ तक कहा कि यदि उन्हें (जमींदारों को) उनकी जायदाद से वंचित करने का प्रयत्न किया जायेगा तो वे उनकी ओर से संघर्ष करेंगे।[13]

प्रेमचंद ने ठीक इसके विपरीत किसानों और मजदूरों की मुक्ति का मार्ग पूँजीवाद और सामंतवाद के उन्मूलन में देखा। उन्होंने स्पष्ट कहा कि ''मैं कम्युनिस्ट हूँ किंतु मेरा कम्युनिज्म यही है कि मेरे देश में जमींदार, सेठ आदि जो कृषकों के शोषक हैं, न रहें।''[14]

प्रेमचंद सामंती व्यवस्था की समाप्ति में ही किसानों की मुक्ति देखते थे। विश्व पटल पर हो रही घटनाएँ उन्हें प्रभावित कर रही थीं। और उनकी आकांक्षा को आशा का संबल मिल रहा था। अपनी

पत्नी के साथ हुए वार्तालाप में उन्होंने कहा, ''हाँ, रूस है जहाँ कि बड़ों को मार–मारकर दुरुस्त कर दिया गया। अब वहाँ गरीबों को आनंद है। शायद यहाँ भी कुछ दिनों बाद रूस जैसा ही हो।''[15] यह वार्तालाप नवंबर 1928 में हुआ। इसी वार्तालाप के दौरान प्रेमचंद ने यह भी स्पष्ट किया कि वे हर स्थिति में मजदूरों और काश्तकारों का साथ देंगे।

गाँधी के नेतृत्त्व वाली कांग्रेस की समझौतावादी नीति के फलस्वरूप मिलने वाले स्वराज्य के भावी स्वरूप के प्रति प्रेमचंद को अब कोई गलतफहमी नहीं थी। विकसित हो रहे भारतीय बुर्जुआ वर्ग का रूप और उसकी आधारभूत प्रवृत्तियाँ अब स्पष्ट थीं। इसके अतिरिक्त मजदूर तथा किसान आंदोलनों के प्रति ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के ही समान इस बुर्जुआ वर्ग की दमनकारी नीति भी अब स्पष्ट हो चुकी थी। 'गबन' के प्रसिद्ध देशभक्त पात्र देवीदीन ने स्पष्ट रूप से एक बड़े कांग्रेसी नेता से कहा था, ''जब तुम सुराज का नाम लेते हो, तो उसका कौन–सा रूप तुम्हारी आँखों के सामने आता है? तुम भी बड़ी–बड़ी तलब लोगे; तुम भी अंग्रेजों की तरह बंगलों में रहोगे, पहाड़ों की हवा खाओगे, अंग्रेजी ठाट बनाये घूमोगे, इस सूराज से देश का क्या–क्या कल्याण होगा। तुम्हारी और तुम्हारे भाई–बंदों की जिंदगी भले आराम और ठाठ से गुजरे; पर देश का तो कोई भला न होगा। बस, बगलें झाँकने लगे। तुम दिन में पाँच बेर खाना चाहते हो, ओर वह भी बढ़िया माल; गरीब किसान को एक जून सूखा चबेना भी नहीं मिलता। उसी का रक्त चूसकर तो सरकार तुम्हें हुद्दे देती है। तुम्हारा ध्यान कभी उनकी ओर जाता है? अभी तुम्हारा राज नहीं है, तब तो तुम भोग–विलास पर इतना मरते हो, जब तुम्हारा राज हो जायेगा, तब तो तुम गरीबों को पीसकर पी जाओगे।''[16]

स्पष्ट है कि प्रेमचंद स्वराज्य के इस रूप से सशंकित थे। यह शंका ''महाजनी सभ्यता'' तक आते–2 उनके पक्के विश्वास में बदल गई थी। वे समझ गये थे कि ऐसा स्वराज खन्ना और राय अमरपाल सिंह के वर्ग हितों को ही रक्षा करेगा। देवीदीन जैसे जनसाधारण से आए देशभक्तों की इस स्वराज में वही दुर्दशा होगी जो साम्राज्यवादी शासन में हुई थी। भूधर चौधरी, सलोनी काकी, मुन्नी, धनिया, होरी आदि स्वराज के बाद अंधेरी गलियों में धकेल दिए जाएँगे। उच्च वर्ग की इस देशभक्ति का पर्दाफाश करते हुए मालती के यह उद्‌गार दृष्टव्य हैं– ''लेकिन मैंने केवल एक बार जेल जाने के सिवा और क्या जनसेवा की है.....और सच पूछिए तो उस बार भी मैं केवल अपने मतलब से ही गई थी, जैसे रायसाहब और खन्ना गए थे। इसी नई सभ्यता का आधार धन है। विद्या और सेवा और कुल और जाति सब धन के सामने हेय हैं।''[17]

इसी धन के बल बूते पर बुर्जुआ वर्ग के नेतृत्व में लाया गया स्वराज्य और उस स्वराज में जनप्रतिनिधियों के स्वरूप के बारे में भी प्रेमचन्द को अब कोई गलतफहमी नहीं रह गयी थी। जनप्रतिनिधियों की सरकार के जिस चुनाव का आधार धन हो वहाँ कोई जनसाधारण चुनाव की वैतरणी पार नहीं कर सकता, उन्होंने कहा कि जिसे हम डेमोक्रेसी कहते हैं वह व्यवहार में बड़े–बड़े व्यापारियों और जमींदारों का राज है और कुछ नहीं। चुनाव में वही बाजी ले जाता है जिससे पास रूपए हैं। रूपए के जोर से उसके लिए सभी सुविधाएं तैयार हो जाती है।[18]

आज के संदर्भ में इस कथन पर टिप्पणी की कोई आवश्यकता नहीं है। धन के आधार पर टिके हुए जनतंत्र से प्रेमचन्द ने अपनी सहमति प्रकट की और जनसाधारण को इस पूँजीवादी जनतंत्र से अधिक आशा रखने के लिए चेतावनी भी दी। प्रेमचन्द के लिए स्वराज का अर्थ केवल राजनैतिक स्वाधीनता नहीं था। वे जनसाधारण की आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक मुक्ति की आकांक्षा करते थे। व्यक्तियों के बदलने से किसी बड़े परिवर्तन की आशा नहीं की जा सकती है। साम्राज्यवाद से भारत को शीघ्र मुक्ति मिलेगी। प्रेमचन्द के ऐतिहासिक बोध और घटनाक्रम के सही विश्लेषण ने उन्हें इसके प्रति आश्वस्त कर दिया था। लेकिन ब्रिटिश शासन के बाद भारत के भावी रूपरेखा के प्रश्न पर वह अधिक चिंतित थे, उन्हें भय था कि स्वराज की गंगा को पूँजीपति और जमींदार आजादी के बाद भी केवल अपने हित–साधन में प्रयोग करेंगे। त्याग और बलिदान करने वाले श्रमिक किसान तट से ही प्यासे लौट जाएँगें। ''जॉन के स्थान पर गोविंद को बैठा देने से ही स्वराज नहीं आ जाएगा जिन बुराइयों को दूर करने के लिए आज हम प्राण हथेली पर लिए हुए हैं, उन्हीं बुराइयों का क्या प्रजा इसलिए सिर चढ़ाएगी कि हम विदेशी नहीं, स्वदेशी है।''[19] ऐसा उन्होंने स्पष्ट कहा था।

प्रेमचन्द ने अपने स्वराज की कल्पना में किसी भी प्रकार की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक विषमता का कोई स्थान नहीं है। उनका स्वराज शोषणरहित समाज के रूप में हैं। अपने प्रसिद्ध और अंतिम लेख ''महाजनी सभ्यता'' में उन्होंने कहा कि ''धन्य है वह समता जो मालदारी और व्यक्तिगत संपत्ति का अंत कर रही है और जल्दी या देर से दुनिया उसका पदानुकरण अवश्य करेगी। यह समता अमुक देश की समाज रचना अथवा धर्म मजहब से मेल नहीं खाती या उस वातावरण के अनुकूल नहीं है। यह तर्क नितांत असंगत है। जो शासन विधान और समाजव्यवस्था एक देश के लिए कल्याणकारी है वह दूसरे देशों के लिए भी हितकर होगी। हाँ, महाजनी सभ्यता और गुर्गे अपनी शक्ति भर उसका विरोध करेंगे, उसके बारे में भ्रमजनक बातों का प्रचार करेंगे, जनसाधारण को बहकाएँगें, उनकी आँखों में धूल झोंकेगें। पर जो सत्य है एक दिन उसी की विजय होगी और अवश्य होगी।''[20]

इस शोषणविहीन स्वराज के स्वप्न को साकार करने के लिए प्रेमचंद हाथ पर हाथ धरकर बैठने के लिए नहीं कहते। केवल स्वप्न देखने और बात करने से ही इस स्वराज की आकांक्षा पूरी नहीं होती। महाजनी सभ्यता के पैने दाँतों और नाखूनों से वह भली भाँति परिचित थे। उससे लड़ने के लिए उचित तैयारी और रणनीति की आवश्यकता को उन्होंने उस समय भी महसूस किया था। उन्होंने मृत्युशैय्या से आह्वान किया था–''मनुष्यों में मनुष्य बनना पड़ेगा। दरिन्दों के बीच में उनसे लड़ने के लिए हथियार बाँधना पड़ेगा। उनके पंजों का शिकार बनना देवतापन नहीं चाहता।''[21]

प्रेमचंद स्वराज्य को केवल राजनीतिक स्वाधीनता तक सीमित नहीं मानते थे। उन्होंने लिखा है कि जिस व्यक्ति के हृदय में गरीबों की दिन–रात गिरती हुई दशा देखकर ज्वाला सी उठती है– वह किसी ऐसे स्वराज की कल्पना से संतुष्ट नहीं हो सकता जिसमें कुछ ऊँचे दर्जे के आदमियों का हित हो और प्रजा की दशा ज्यों–की–त्यों बनी रहे। इसीलिए उन्होंने कहा था कि हमारी लड़ाई केवल अंग्रेज सत्ताधारियों से ही नहीं, हिन्दुस्तान के सत्ताधारियों से भी है।

मैनेजर पाण्डेय ने प्रेमचंद के स्वराज संबंधी धारणा के बारे में लिखा कि, ''प्रेमचंद के सामने स्वराज की नई कल्पनाएँ और धारणाएँ मौजूद थीं। उनमें से स्वराज्य की एक कल्पना गाँधी की थी जो उनकी पुस्तक हिन्द स्वराज (1890) में मौजूद है। दूसरी कल्पना हिन्दूवासियों की थी जो हिन्द स्वराज को हिन्दू स्वराज बनाना चाहते थे। तीसरी कल्पना क्रांतिकारियों की थी। प्रेमचंद की नजर इन सभी कल्पनाओं पर थी, लेकिन उनकी स्वराज की कल्पना या धारणा इन तीनों से अलग थी। वे ऐसी स्वाधीनता चाहते थे, जो राजनीतिक ही नहीं, सामाजिक और सांस्कृतिक भी हो। वे उपनिवेशवाद से ही नहीं, सामंती और पूँजीवादी शोषण, पराधीनता, संकीर्ण राष्ट्रवाद और जाति व्यवस्था से भी भारतीय समाज की मुक्ति चाहते थे। वे अमीरों का नहीं, गरीबों का, शोषितों और पीड़ितों का, किसानों, मजदूरों, दलितों और स्त्रियों की स्वाधीनता का पोषक स्वराज्य चाहते थे।''[22]

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. प्रेमचंद– 'अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' के प्रथम अधिवेशन में सभापति पद से भाषण।
2. प्रेमचंद – 'कुछ विचार', पृष्ठ–95
3. अमृतराय, विविध प्रसंग, हंस प्रकाशन इलाहाबाद, 1962, पृष्ठ–19
4. (सं0) अमृतराय, चिट्ठी पत्री– 1 हंस प्रकाशन इलाहाबाद 1962, पृष्ठ सं0 132
5. अमृतराय (सं0) विविध प्रसंग–2, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद 1962, पृष्ठ 168
6. प्रेमचंद की बातें– जमाना, प्रेमचंद अंक–1937
7. (सं0) अमृतराय, विविध प्रसंग, हंस प्रकाशन इलाहाबाद 1962, पृष्ठ–25
8. प्रेमचंद– प्रेमाश्रम, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद 2001–पृष्ठ 43
9. वही पृष्ठ–164
10. अमृतराय, विविध प्रसंग, हंस प्रकाशन, नई दिल्ली 1962 पृष्ठ 269
11. वही पृष्ठ–283
12. 'प्रेमचंद घर में' शिवरानी देवी पृष्ठ–21

13. निर्मल कुमार बोस–सेलेक्शन फ्राम गाँधी, पृष्ठ 88, 1948
14. मराठी साहित्यकार टीकेकर के साथ वार्ता, प्रेमचंद एक अध्ययन, डा0 राजेश्वर गुरू, पृष्ठ 101
15. शिवरानी देवी, 'प्रेमचंद घर में', पृष्ठ–72
16. प्रेमचंद, गबन, हंस प्रकाशन–इलाहाबाद 2002, पृष्ठ सं0 152
17. गबन पृष्ठ–137
18. वही, पृष्ठ, 137,
19. प्रेमचन्द– आहुतिः हंस, नवंबर 1930
20. अमृतराय (संकलनकर्ता), 'प्रेमचंद के अंतिम दो दस्तावेज', हंस प्रकाशन इलाहाबाद, 2002, पृष्ठ सं0 78
21. मंगलसूत्र और रचनाएँ, पृष्ठ 390
22. (सं0) ए0 अरविंदाक्षन, राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली 2006, पृष्ठ 30–31

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

मनीषा कुलश्रेष्ठ के कथा साहित्य में नारी अस्मिता : संदर्भ और परिवेश

सर्वेश कुमार
शोध छात्र, हिन्दी
इन्दौर क्रिश्चियन कॉलेज, इन्दौर

स्वातंत्र्योत्तर महिला लेखिकाओं की कथायात्रा के विकास क्रम में कथाकार मनीषा कुलश्रेष्ठ का विशिष्ट स्थान है। नारी के अंतरंग को पहचानने व पहचान दिलाने की कला में वे निष्णात हैं। हिन्दी कथा साहित्य को नये रचनात्मक आयाम देती भाषा–शैली उनके पास है। इनके कथा साहित्य में नारी के विविध रूपों के दर्शन होते हैं। इन्होंने अपनी रचनाओं में नारी और समाज के मध्य उत्पन्न होने वाले संघर्षों को स्वाभाविक और यथार्थ रूप से व्यक्त करने का प्रयास किया है। मनीषा कुलश्रेष्ठ ने अपनी कथाओं में नारी जीवन की परिवर्तित मनःस्थितियों एवं उसकी दमित इच्छाओं को खुले रूप में साहस के साथ व्यक्त किया है। इनका लेखन स्त्री की यथास्थिति के विरुद्ध अपनी मानवीय स्त्रीत्ववादी भूमिका को निभाता है। वह स्त्री को यथास्थितिवाद से बाहर निकालने वाला, उसकी मुक्ति की तलाश करने वाला, उसमें साहस और निर्भीकता पैदा करने वाला, उनकी मुक्ति की कामना करने वाला स्त्रीवादी लेखन है।

मनीषा कुलश्रेष्ठ की रचनाओं में नारी की समस्त जीवन दृष्टि का प्रतिफलन हुआ है, जिसके पीछे भारतीय और पाश्चात्य चिंतन का प्रभाव पड़ा है। मात्र कलात्मक प्रतिभा और संवेदनशीलता के बल पर ही श्रेष्ठ साहित्य उत्पन्न नहीं होता है। श्रेष्ठ साहित्य का सृजन साहित्यकार की जीवन दृष्टि, उसके मूल्यों, उसके विचारों, उसके परिवेश और जीवन के अनुभवों पर निर्भर करती है। नारी जीवन की विभिन्न समस्याओं को लेकर मनीषा कुलश्रेष्ठ ने अपने लेखन में पूरी प्रामाणिकता, संवेदनशीलता एवं साहस के साथ नारी के एकांत संघर्ष, यातना और अस्मिता का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है।

हिन्दी कथा साहित्य में नारी अस्मिता नामक विषय को समृद्ध करने में मनीषा कुलश्रेष्ठ का विशेष योगदान है। इन्होंने अपनी रचनाओं में सामाजिक दायित्व का निर्वाह बखूबी किया है। इन्होंने अपनी रचनाओं में नारी दुनिया के भीतरी–बाहरी तकलीफों और छटपटाहट को अभिव्यक्ति प्रदान की है। मनीषा जी ने अपने अनुभवों के आधार पर आज की नारी की सामाजिक नियति और पीड़ा को बड़ी गहराई से चित्रित किया है। अपनी रचनाओं में वे नारी जीवन में व्याप्त गहरी समस्याओं को पाठकों तक पहुँचाने में कामयाब हुई हैं। इन्होंने अपनी रचना में पुरुष लेखकों की भाँति नारी को महिमामण्डित नहीं किया किया है, उन्हें नकली रूप में पीड़ित भी नहीं करती अपितु वे एक विशेष दायरे की नारी पहचान को समस्त परिणतियों के साथ उभारती हैं। डॉ0 एम0 षणमुखम व्यक्त करते हैं कि– ''नारीवादी आंदोलन से प्रभावित ज्यादातर रचनाओं में हमारा साक्षात्कार ऐसे पात्रों से होता है जो अपनी अलग अस्मिता के वास्ते संघर्षरत हैं, खुद निर्णय लेती हैं, किसी पुरुष का मुँह नहीं ताकती हैं और आखिरकार अपने अलग अस्तित्व की स्थापना में कामयाब होती हैं।''[1]

मध्यवर्ग की नारी मनीषा कुलश्रेष्ठ के कथानक को गति प्रदान करती है। वे कार्यरत दुनिया की नारी एवं द्वन्द्व तथा बदलती हुई नैतिक धारणाओं के बीच उसके संघर्ष को निर्भीकतापूर्वक दर्शाने में सिद्धहस्त हैं। इनके लेखन में नारी अस्मिता को एक नवीन दृष्टि प्रदान की गई है। स्त्री उत्पीड़न, मध्यवर्गीय संघर्ष, निम्नवर्गीय जीवन की दयनीय स्थिति, उच्च वर्ग की उपभोक्तावादी मनोवृत्ति और इन सबके बीच नारी चेतना और उसके गौरव के लिये निरंतर संघर्ष करना इनके लेखन के नवीन आयामों को व्यंजित करता है। नारी अस्मिता के अंतर्गत स्त्री का जीवन, समाज और परिवेश की परिस्थितियों से निरंतर संघर्ष करता रहता है और यह संघर्ष तब तक अनवरत् चलता है जब तक कि अतीत की ध्वनि के साथ भविष्य का दिशा–निर्देश न हो तथा साथ ही भव्य भविष्य की नींव न रख दी गई हो। इनकी

कृतियों में परंपरा और रूढ़ियों को तोड़ती, अपने स्वातंत्र्य के लिये जूझती, कभी सफल तो कभी असफल होती, नवीन मूल्यों को ग्रहण करने में सचेष्ट नारी का जो रूप उभरकर आया है, वह वास्तव में अभिनव ही है।

नारी अस्मिता का विषय व्यक्तिगत नहीं सामाजिक है। नारी की स्थिति में सुधार लाने हेतु व्यवस्था में परिवर्तन अपरिहार्य है। वैसे नारी अपनी स्थिति को पहचान रही है, अपनी अवस्थाओं को स्वयं आवाज दे रही है और खुद महसूस कर रही है कि अपने अधिकार की लड़ाई उसे खुद ही लड़नी है। मनीषा कुलश्रेष्ठ ने अपने उपन्यासों में परिवर्तनशील स्त्री की स्वतंत्र मानसिकता को स्वतंत्र परिवेश में चित्रित करने का प्रयास किया है। यह चित्रण साधारण या सतही ढंग से नहीं, अपितु आक्रामक भाव से स्त्री की अस्मिता, स्त्री की पहचान, स्त्री की शक्ति, स्त्री की लड़ाई और उससे संबंधित तमाम सवालों को लेकर है। मनीषा जी ने नारी अस्मिता को एक नई पहचान देने के साथ–साथ हिन्दी कथा साहित्य की संवेदना और अनुभव के दायरे को विस्तृत किया है। इनके उपन्यास स्त्री संवेदना की बनी–बनाई लीक को तोड़ने के साथ ही एक नई परम्परा गढ़ने में सफल हुई हैं।

'अस्मिता' शब्द की उत्पत्ति के विषय में अनेक विद्वानों ने अपने–अपने मत प्रतिपादित किये हैं, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं–

वामन शिवराम आप्टे के अनुसार– ''अस्मिता शब्द की निर्मिति अस्मि+तल+टाप से हुई है, जिसका अर्थ अहंकार होता है।''[2]

''आदर्श हिन्दी शब्दकोश में भी 'अस्मिता' शब्द के लिये आत्मश्लाघा, अहंकार, मोह इत्यादि अर्थ दिये गये हैं।''[3]

'''अस्मि' शब्द अस्+मिन् से बना है। अस्मि अर्थात् मैं हूँ। अस्मि की भाववाचक संज्ञा 'अस्मिता' है। इस शब्द से स्वत्व का बोध होता है।''[4]

''यह एक ऐसा दायरा है जिसके तहत व्यक्ति और समुदाय यह बताते हैं कि वे खुद को क्या समझते हैं। अस्मिता का यह दायरा अपने आप में एक बौद्धिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक संरचना का रूप ग्रहण कर लेता है जिसकी रक्षा करने के लिये व्यक्ति को, समुदाय को किसी भी सीमा तक जाना पड़ सकता है।''[5]

उपर्युक्त अर्थों के आधार पर हम कह सकते हैं कि 'अस्मिता' शब्द से जहाँ निजत्व का बोध होता है वहीं जीवन के अन्य पहलुओं से भी इसका संबंध रहता है जो समय–समय पर अपना रूप परिवर्तित करते रहते हैं। व्यक्ति और समुदाय अस्मिता को प्राप्त करने के लिये संघर्षरत रहते हैं और अपनी अस्मिता के प्रति जागरूकता इन्हें दिशाहीन होने से बचाती हैं। आधुनिक युग में व्यक्ति को अस्मिता प्राप्ति के लिये संघर्ष करना पड़ता है।

वर्तमान समय में अस्मिता के प्रश्न अधिक उलझे हुये हैं और उसकी प्राप्ति अत्यंत कठिन हो गई है। राजेन्द्र यादव इस संदर्भ में लिखते हैं– ''अब इस आईडेंटिटी नाम के तत्व ने अजीब संकट खड़ा कर दिया है। 'अस्मिता' जितनी मेरी है, उतनी ही मेरी और मेरे परिवेश की भी। उसमें वर्ग, वर्ण, क्षेत्र, धर्म, लिंग, परंपराएँ सभी कुछ घुसे और घुले–मिले हुये हैं।''[6] इस भाँति अस्मिता की अवधारणा ने आधुनिक समय में जोर पकड़ लिया है। धीरे–धीरे अस्मिता प्राप्ति ने आंदोलन का रूप ले लिया। ''स्वातंत्र्योत्तर भारत में अस्मिता का प्रश्न मात्र विचारधारा के रूप में ही नहीं अपितु आंदोलन के रूप में सामने आया है।''[7] वर्तमान में मानव के समक्ष वैयक्तिक अस्मिता के साथ–साथ अन्य वर्गगत अस्मिताओं का प्रश्न भी उठ खड़ा हुआ है। वैयक्तिक अस्मिता में जहाँ नारी अस्मिता का प्रश्न उठता है वहीं पर अन्य कई प्रकार की अस्मिताओं के प्रश्न भी उठ खड़े हुये हैं। अस्मिता प्राप्ति के संघर्ष का प्रारंभ अपने वंचित, पीड़ित और प्रताड़ित होने के अनुभव से शुरू हो जाती है जिससे अपनी पहचान को प्राप्त करना सबसे बड़ा उद्देश्य हो जाता है। अधिकारों से वंचित वह समाज के द्वारा किये गये अन्याय और शोषण के विरुद्ध खड़ा हो जाता है।

इसके संदर्भ में अर्चना वर्मा का कहना है कि– ''अस्मिता एक हद तक संबद्धता, सरोकार, लगाव और अपनत्व का प्रश्न भी है जिसे अंग्रेजी में 'सेंस ऑफ बिलॉन्गिंग' कहा जाता है।''[8] नामवर सिंह 'अस्मिता' शब्द से बचते हैं। इसके संदर्भ में उनका मत है कि– ''मेरी जानकारी में हिन्दी में 1950 ई0 के आसपास अज्ञेय जी ने आईडेंटिटी के अर्थ में 'अस्मिता' चलाया।''[9] उनका यह भी मानना है कि किसी भी व्यक्ति की केवल एक ही अस्मिता नहीं होती अपितु अनेक अस्मिताएँ होती हैं और परिस्थितियों के अनुसार कभी एक तो कभी दूसरी अस्मिता महत्वपूर्ण हो जाती है। वे यह भी कहते हैं कि जब भी अस्मिता की बात की जाये तो सभी को ध्यान में रखा जाये क्योंकि अपने–अपने स्थान पर सभी की अस्मिता महत्वपूर्ण होती है। किसी एक भी अस्मिता की तुलना किसी दूसरे की अस्मिता से नहीं की जानी चाहिये। इस तरह अस्मिता के संदर्भ में उनके विचार मिले जुले हुये हैं परन्तु यह भी सत्य है कि अस्मिता को किसी भी सूरत में नकारा नहीं जा सकता है। वे कहते हैं– ''अस्मिता दया नहीं चाहती। अस्मिता अहम् चाहती है।''[10]

प्रसिद्ध चिंतक अमर्त्य सेन का मानना है कि अस्मिता को प्राप्त करने की प्रबल आकांक्षा हिंसा को जन्म देती है। अपनी अस्मिता पर आये खतरे के समक्ष अन्य भावनाएँ जैसे सहानुभूति, सहनशीलता, सद्भावना इत्यादि क्षीण हो जाते हैं। वे लिखते हैं– ''लेकिन पहचान की भावनाएँ हत्या भी करवा सकती हैं। वे लिखते हैं– ''लेकिन पहचान की भावनाएँ हत्या भी कर सकती हैं– क्रूर से क्रूर हत्याएँ। किसी समूह के अंग होने की पहचान और यह कि हम दूसरे समूहों से अलग हैं, कई दशा दूसरे समूहों से दूरियाँ और उनसे भिन्न होने का भाव भी पैदा करती हैं।''[11] अभिप्राय यह है कि जब अस्मिता पर खतरा पैदा होता है और माँगने पर भी अपने अधिकार, अपनी पहचान नहीं मिलती है तो हिंसा जन्म लेती है। कोमल भावनाएँ संघर्ष के पश्चात् आवेश में आ जाती हैं और हिंसा का रूप धारण कर लेती हैं। जिन्होंने उपेक्षा का जीवन भोगा है और अपने विश्वासों, अपने हकों को प्राप्त करना चाहा है, तो वहाँ पर हिंसक हो जाना शायद परिस्थितिजन्य होता है। हिंसा को जन्म लेने से रोकने का सबसे बड़ा उपाय यह है कि हिंसक स्थितियाँ पैदा होने से पहले ही उपेक्षित व्यक्तियों और वर्गों के अधिकारों पर विचार–विमर्श किया जाये और संतुलन स्थापित किया जाये।

अस्मिता पर उत्पन्न संकट व्यक्ति को विद्रोही बना देता है। विद्रोह से अस्मिता प्राप्ति का संघर्ष तीव्र हो गया है क्योंकि प्रत्येक को जीवन में विकास करना है। अस्मिता को लेकर प्रश्न यह उठता है कि एक ही समय में व्यक्ति की कई–कई अस्मिताएँ हैं और वह अपनी सभी अस्मिताओं को सुरक्षित रखना चाहता है। अनिवार्य रूप से कहा जा सकता है कि कभी–कभी कोई अस्मिता मुख्य प्रश्न बनकर उसके सामने खड़ी हो जाती है। राजेन्द्र यादव इस विषय में लिखते हैं– ''अस्मिता अपनी निजी पहचान के साथ–साथ उस क्षेत्र और समाज की भी पहचान है जो हमारे संदर्भ तय करते हैं। ये संदर्भ जाति, रंग, वर्ग, नस्ल, क्षेत्र, भाषा, जेंडर, पेशे इत्यादि के रूप में हमारे अंतरंग (साइकी) के हिस्से हैं।''[12] प्रायः जब भी अस्मिता का प्रश्न उठता है तो समाज में झेले गये अपमान और उपेक्षा से उठता है जिससे सभी उपेक्षित लोगों ने मानव की सामान्य परिभाषा के साथ जोड़कर अपने को बचाने का हमेशा प्रयास किया है।

उपरोक्त चर्चा से यह प्रमाणित होता है कि अस्मिता प्राप्ति का संघर्ष प्रताड़ना झेलने और अपमान होने पर उभरता है और अंततः एक दिन अपनी पहचान को प्राप्त करने के लिये उग्र रूप धारणा करता है। अस्मिता प्राप्ति के इस संघर्ष के विश्लेषण के उपरांत हम यह कह सकते हैं कि जहाँ कुछ विद्वानों ने अस्मिता को हिंसा का कारण माना है, वहीं कुछ विद्वानों ने इसे समाज में उपस्थित भिन्न लोगों से जुड़े उनके भिन्न सम्मानों के साथ जोड़ा है।

नारी अस्मिता का प्रश्न वर्तमान चिंतन का सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न है, जिसने हाशिये पर धकेल दी गई स्त्री को उठाकर केन्द्र में स्थापित कर दिया है। नारी अस्मिता का यह प्रश्न नारी जीवन की महत्वपूर्ण समस्याओं पर टिका है जो परिवार, समाज, धर्म, राजनीति, राष्ट्र, संस्कृति, अर्थव्यवस्था इत्यादि की संपूर्ण परिसीमाओं के पुनर्निर्धारण की माँग करता है। परिसीमाओं का यह निर्धारण नारी अस्मिता का विकास माना जा रहा है। बीसवीं सदी के अंत में नारी अस्मिता का मुद्दा अपने चरम पर दिखाई देता है। नारी को आधी आवाज की संज्ञा दिये जाने के बावजूद भी उसके अधिकार उसकी समानता को छू

भी नहीं पाये हैं। नारी की अस्मिता और उसके अधिकार समाज में उसे मानव की अवधारणा के रूप में स्थापित करते हैं किन्तु समाज में रूढ़ समस्याओं एवं नारी की दोयम दर्जे की स्थिति के कारण आज भी नारी को मानव के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता है।

नारी का अपनी अस्मिता के लिये संघर्ष उतना ही पुराना है जितनी पुरानी पितृसत्तात्मक व्यवस्था है। पितृसत्ता यदि नारी को पुरुष के अधीन रखने के लिये तमाम तरह के बंधनों में जकड़ देने का नाम है तो नारी अस्मिता उन बंधनों से मुक्त होने के लिये विछोह करने और स्त्री–पुरुष की समानता के लिये संघर्ष करने का नाम है। नारी ने कभी कुप्रथाओं और रूढ़ियों से मुक्ति के लिये संघर्ष किया है, तो कभी राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम में सहगामी की भूमिका भी निभाई है। आशारानी व्होरा ने इस संदर्भ में लिखा है– ''हमारे यहाँ मुक्ति का अर्थ पश्चिम के अर्थ में पुरुषों की सत्ता से मुक्ति कभी नहीं रहा। राज्य व देश की स्वतंत्रता का प्रश्न जब सामने आया, पुरुषों की अनुपस्थिति में स्वयं सिर पर जिम्मेदारी से शत्रुओं को ललकारने में महिलाएँ पीछे नहीं हटी।''[13] इस तरह नारी का अपनी अस्मिता के लिये संघर्ष कभी जागरण का पर्याय रहा है तो कभी प्रगति और विद्रोह का बिगुल बजाने वाला मंत्र। वर्तमान में दिखाई देता है कि अनेक सामाजिक व राजनीतिक संगठन नारी के अनछुए पहलुओं को लेकर चर्चाएँ करने लगे हैं, जिससे कि नारी का पुरुष और समाज के साथ संबंध नये सिरे से परिभाषित होने लगा है।

भारत के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में लोपामुद्रा, अपाला, घोषा, गार्गी, मैत्रेयी, सूर्या, देवयानी, शचि, शाश्वती, श्रद्धा, कामायनी इत्यादि स्त्रियों का विद्वतापूर्ण दार्शनिक, आध्यात्मिक चिंतन भारतीय नारी के लिये अपार संभावनाओं से युक्त रहा है। ऐतिहासिक काल में नारी अनुकूल स्थितियों का वर्णन करते हुये राजशेखर ने लिखा है कि उस काल में ''पुरुषों के समान स्त्रियाँ भी कवि हो सकती हैं, ज्ञान का संस्कार आत्मा से संबंध रखता है, उसमें स्त्री या पुरुष का भेद नहीं है।''[14] नाट्यशास्त्र में भारतीय समाज में नारी की मंचीय उपस्थिति को अनिवार्य माना गया है। ऋग्वेद में यम–यमी संवादंश के विषय में प्रो0 देवेन्द्र राय अंकुर का मानना है कि– ''यम–यमी संवाद अंश नाटक के जन्म की दृष्टि से तो अपना महत्व रखता ही है, लेकिन उससे भी ज्यादा साहित्य में और वह भी नाट्य साहित्य में नारी विमर्श का जबरदस्त सूचक है।''[15]

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारतीय नारी की स्थिति में विस्मयकारी परिवर्तन आया। 1950 में भारतीय लोकतंत्र के संविधान बनने के समय लिंग, जाति और भाषा के आधार पर कोई भेदभाव नहीं दिया गया। दुःखद स्थिति यह रही कि संवैधानिक समानता केवल संवैधानिक रही जबकि व्यावहारिक रूप में स्त्री की स्थिति स्वर्णिम नहीं हो पाई। वह लगातार दुर्व्यवहार का शिकार होती गई। पुरुष सत्ता की सोच वह नहीं बदल पाई।

महादेवी वर्मा ने नारी की इस स्थिति पर अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं– ''युगों के अनवरत् प्रवाह में बड़े–बड़े साम्राज्य बह गये, संस्कृतियाँ लुप्त हो गईं, जातियाँ मिट गईं, संसार में अनेक असंभव परिवर्तन संभव हो गये, परंतु भारतीय स्त्रियों के ललाट में विधि की वज्रलेानी से अंकित अहण्ट लिपि नहीं घुल सकी। आज भी जब सारा गतिशील संसार निरंतर परिवर्तन की अनिवार्यता प्रमाणित कर रहा है, स्त्रियों के जीवन को काट–छाँटकर उसी साँचे के बराबर बनाने का प्रयत्न हो रहा है जो प्राचीनतम् युग में ढाला गया था।''[16] ''आधुनिक युग में सबसे महत्वपूर्ण कार्य हुआ नारी शिक्षा के प्रचार–प्रसार का जिससे नारी वर्ग को अवसर मिला कि वे डॉक्टर, वकील, शिक्षिका, नर्स और अन्य व्यवसायों में भागीदारी कर सकें।''[17] नारी ने जो योगदान राष्ट्रीय आंदोलनों में दिया वह समाज के नेताओं और आम जन को स्तब्ध करने में सफल रही और स्वयं को जागृत कर प्रगति के मार्ग पर उन्मुख हुईं।

''राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेने वाली महिलाओं ने आधुनिकता को राष्ट्रीय जागृति के रूप में देखा और उसी जागृति की ओर अग्रसर होने में अपने सारे प्रयत्न लगा दिये। उस उथल–पुथल के युग में स्त्री ने जो किया वह अभूतपूर्व होने के साथ–साथ उसकी शक्ति का प्रमाण भी था।''[18] नारी को देवी कहकर पुरुष ने उसे उसके अधिकारों से सदैव वंचित रखा और अपना वर्चस्व नारी पर बनाये रखा।

पुरुष ने उसके जीवन को स्वतंत्र मानने से सदैव इंकार किया। नारी जीवन केवल समर्पण बनकर रह गया। ''भारतीय स्त्री की सामाजिक स्थिति का इतिहास भी उसके विकृत से विकृतकर होने की कहानी मात्र है। बीती हुई शताब्दियाँ उसके सामाजिक प्रासाद के लिये नींव का पत्थर नहीं बनी, वरन् उसे ढहाने के लिये वज्रपात बनती रही हैं। फलतः उसकी स्थिति उत्तरोत्तर दृढ़ तथा सुंदर होने के बदले दुर्बल और कुत्षित होती गई।''[19] नारी आज शिक्षित हुई है इसी जागृत के कारण उसमें अपने अस्तित्व को पाने की लालसा जगी है। अपने भविष्य को उज्ज्वल और सुखपूर्ण बनाने के लिये आज वह घर में बंद न रहकर बाहर निकल रही है। बाहर आने वाली समस्याओं का सामना वह खुद कर रही है। वह अपने स्व की लड़ाई खुद लड़ना चाहती है।

भारत के समाज में साठ के दशक से नारी अस्मिता की अवधारणा चारों दिशाओं में फैल गई। वह अपने ढंग से अपना जीवन व्यतीत करना चाहती है। नारी जीवन में जो परिवर्तन आया है उससे यह स्पष्ट है कि, अब वह गुलामी की जंजीरों में बँधना नहीं चाहती। हमारी पूरी संस्कृति में नारी को कहीं भी स्वतंत्र जीव के रूप में मान्यता नहीं प्रदान की गई है। जहाँ वह पुरुषों द्वारा बनाये गये नियमों में बँधकर रही है वहीं पूज्य है और जहाँ उसने अपने स्वतंत्र अस्तित्व को बचाने का प्रयास किया है, वहाँ पर वह निंदा का पात्र बनी है। नासिरा शर्मा लिखती हैं– ''संबंधों में सबसे खूबसूरत रिश्ता है स्त्री–पुरुष के संबंध का, फिर क्यों नहीं स्त्री या पुरुष एक–दूसरे के साथ शाश्वत, सरल और समझदार संबंध विकसित कर पाते हैं ? आज जरूरत इस बात की है कि हम एक ऐसा नैतिक मूल्य विकसित करें जो स्त्री और पुरुष के संबंध को गरिमामय रूप दे सके।''[20] वर्तमान में नारी जीवन के समस्त मूल्य बदल गये हैं। वर्तमान युग की नारी बहुत जागृत है। अपने शोषण के विरुद्ध उसकी वाणी में भी विद्रोह के स्वर गूँजने लगे हैं। वह अपने अस्तित्व के प्रति सजग है। सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक इत्यादि जीवन के सभी क्षेत्रों के प्रति उसका दृष्टिकोण अब पहले जैसा नहीं रहा। आधुनिक शिक्षा के प्रचार प्रसार के फलस्वरूप इस युग में नारी के अस्तित्व और व्यक्तित्व का बहुत विकास हुआ है। उसे एक नवीन दृष्टि मिली है और उसका मन प्राचीन रूढ़ियों के बंधन से मुक्त होकर अपने विकास के सपने देखने लगा है। ''नारी में जन्मी यह नव–विकसित मानसिकता ही उसकी मुक्ति चेतना है। आज की नारी माँ, बहन, बेटी, पत्नी से पूर्व एक स्वतंत्र मनुष्य के रूप में अपनी पहचान के प्रति सचेत हो रही है।''[21]

वर्तमान की नारी अस्तित्वहीन और पहचान रहित नहीं रही। मुख्य रूप से नगरों में निवास करने वाली नारी के विषय में यह कहा जा सकता है कि वह स्वतंत्र रूप में उभर कर सामने आ रही है और निरंतर अपनी अलग पहचान बनाने की दिशा में आगे बढ़ रही है। महिलाओं ने अपनी आवाज को बुलंद किया है। आज हमें उस नारी के दर्शन हो रहे हैं जो अपनी अस्मिता की रक्षा हेतु कृत संकल्प है। वह किसी भी प्रकार के भेदभाव को सहने के लिये तैयार नहीं है। नारी की आत्मनिर्भरता ने पुरुषों के साथ उसके संबंधों को नई परिभाषा दी है। नासिरा शर्मा का कथन इस संबंध में दृष्टव्य है– ''मेरा यह मानना है कि औरत इनसान की तरह इंसानियत और अस्मिता के साथ जी सके तो वही उसकी स्वतंत्रता होगी।''[22] नारी ने पूरे समाज को अपनी अस्मिता को स्वीकार करने के लिये बाह्य कर दिया है। उसके भीतर का इंसान लिंग आधारित वजूद से बाहर आना चाहता है। डॉ0 गीता सोलंकी के अनुसार– ''आज की नारी अपना स्वतंत्र अस्तित्व, अपना वजूद तलाशने लगी है। वह महसूस करने लगी है कि उसका अपना कहने को क्या है ? वह अपने आप में क्या है ?''[23] इस प्रकार की नारी को अपने अस्तित्व एवं कर्तव्य की पहचान हुई है। लेकिन पुरुष सत्ता उसके अस्तित्व को न मानना चाहता है और न ही उसे आगे बढ़ता देख पाता है।

नारी जीवन की यह विडंबना है कि वह चाहे जितनी भी शिक्षित हो, हर संभव अर्थोपार्जन करके परिवार की सहायता करे परन्तु निकम्मे से निकम्मे बेटे के मुकाबले उसे हीन ही समझा जाता है। आधुनिकता ने कुछ ऐसी व्यवस्थाएँ अवश्य बनाई हैं जो नारी को सिर्फ बोलने भी की इजाजत देती हैं, फैसले करने की इजाजत नहीं देती। ''यह खेदजनक है कि धर्म, दर्शन, पांडित्य पर एकाधिकार रखने वाली पुरुषसत्ता दुनिया को एक भी ऐसा धर्म, संप्रदाय न दे सकी, जिसमें किसी न किसी रूप में नारी का शोषण न होता हो।''[24] नासिरा शर्मा औरत के इस प्रगतिशील विकास की ओर संकेत करते हुये

कहती हैं– ''औरत वह भी इस नई सदी की, कई तरह की आशाएँ जगाती है, जिसमें उसका सबसे बड़ा कर्तव्य समाज के प्रति नजर आता है क्योंकि अब वह घर में बैठी जाहिल, अनपढ़, फूहड़ औरत मात्र नहीं रह गई है, बल्कि वह सुशिक्षित, सुंदर, सुगढ़ ऐसी औरत है जो देश की कई योजनाओं में अपना सहयोग दे रही है।''[25] आधुनिक युग में नारी को अपना विशिष्ट व्यक्तित्व अवश्य प्राप्त हुआ है। इस व्यक्तित्व की सुरक्षा के लिये उसे बहुत संघर्ष करना पड़ रहा है।

आज भी समाज में उसके महत्व को कहीं–कहीं नकारा जा रहा है। हमारे समाज में परंपरावादी वर्ग को यह गवारा नहीं कि नारी अपने व्यक्तित्व का स्वतंत्र रूप से विकास करे। शिक्षित कन्या की यह सबसे बड़ी उलझन है कि आज भी समाज उसे परंपरावादी आदर्श कन्या के रूप में देखना चाहता है और लड़कों की तुलना में हीन ही समझता है। ऐसी अनेकों उलझने हैं जिनका सामना आज की शिक्षित, जागृत और स्वाभिमानी नारी को करना पड़ रहा है। उसकी आर्थिक क्षमताओं का लाभ तो उसके परिवारीजन प्रसन्नतापूर्वक उठाते हैं, उसके बाहर के व्यस्त जीवन के होते हुये भी उसे परंपरागत, बेटी, बहू, पत्नी, माँ और भाभी इत्यादि के रूप में भी कर्तव्य निभाते हुये देखना चाहते हैं। उसे घर से बाहर निकलने की इजाजत इसी शर्त पर मिलती है कि वह घर और बाहर दोनों क्षेत्रों के दायित्वों का निर्वहन करने में जरा भी चूके नहीं। ऐसी परिस्थितियों में वह गंभीर मानसिक तनाव का शिकार हो जाती है। अपने बचे हुए व्यक्तित्व को लेकर आधुनिकता और परंपरा के दो छोरों के बीच लटकती है। सुभाष सेतिया इक्कीसवीं सदी में आगे बढ़ रही नारी का समर्थन तो करते हैं परन्तु समाज की उपेक्षा की शिकार नारी के विषय में कहते हैं– ''परंतु मंजिल अभी बहुत दूर दिखाई दे रही है। यह इसलिये कि नारी चिंतन और दृष्टि में तो परिवर्तन परिलक्षित हो रहा है, किन्तु भारतीय समाज की सामूहिक सोच में वह रूपांतरण नहीं दिखाई दे रहा है, जो कि इतने बड़े परिवर्तन के लिये अत्यावश्यक है। पुरुष दृष्टि आज भी औरत को अपने से दुर्बल, हेय, कमतर और अधीनस्थ समझती है। पुरुष के लिये महिला एक व्यक्ति नहीं है, बस वह 'महिला' है।''[26] नारी को मनुष्य का दर्जा प्राप्त करने में अभी संघर्ष करना पड़ रहा है और संघर्ष के बाद भी स्थिति यह है कि वह पूर्णत्व को प्राप्त नहीं कर पाई।

हमारी संस्कृति की यह विडंबना रही है कि नारी को सिर्फ देह के संदर्भ में ही देखा जाता रहा है, इससे इतर उसके मनुष्य रूप को स्वीकार नहीं किया गया। कभी धर्म, कभी संस्कृति तो कभी परिवार को बचाने के नाम पर उसको पीड़ित किया जाता रहा परंतु समाज उसकी पीड़ा को पीड़ा न मानकर उसे कर्तव्य का नाम देता रहा। प्रभा खेतान नारी को आत्मविश्वास से इस स्थिति से उभरने के लिये कहती हैं। ''आत्मसंदेह और अविवश्वासों से घिरी स्त्री को अपनी अस्मिता की रक्षा के लिये नये विश्वास, नयी आस्था और नये विचारों की जरूरत।''[27] समय बदलने के साथ–साथ परिस्थितियाँ भी बदल गईं परन्तु नारी के प्रति समाज की मानसिकता नहीं बदली। समाज आज भी नारी को पचास वर्ष पहले वाली नारी के रूप में देखना चाहता है। यदि वह आत्मनिर्भर और स्वतंत्र होकर निकली तो यह पुरुष समाज वहाँ भी अपना शोषण करता है। नारी की इस स्थिति का वर्णन रेखा कस्तवार इन शब्दों में करती हैं– ''घर से बाहर निकली है, तो शोषण के लिये तैयार होकर निकले, वर्ना घर की सुरक्षा के साथ मिलने वाले निकट संबंधियों के अतिचारों पर चुप्पी साधे।''[28]

नारी अस्मिता विषयक समस्त विवेचन के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि नारी अस्मिता से तात्पर्य नारी की अपनी मूलभूत पहचान को प्रापत करने का दावा है, जिसके लिये नारी सतत प्रयासरत् है। स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि, ''नारी अस्मिता विमर्श का उद्देश्य पुरुषों के गैरवाजिब वर्चस्व का खात्मा कर स्त्रियों के वाजिब वर्चस्व को स्थापित करने का प्रयास करना है।''[29]

संदर्भ ग्रन्थ :

1. डॉ0 एम0 षणमुखम, समकालीन हिन्दी उपन्यास, पृ0 07
2. वमन शिवराम आप्टे, संस्कृत हिन्दी कोश, पृ0 132
3. सं0 रामचन्द्र पाठक, आदर्श हिन्दी कोश, पृ0 64
4. अर्चना वर्मा, अस्मिता विमर्श का स्त्री स्वर, पृ0 31

5. सं0 अभय कुमार दुबे, भारत का भूमंडलीकरण, पृ0 455
6. हंस, जून–2003, पृ0 09
7. डॉ0 दर्शन पाण्डेय, नारी अस्मिता की परख, पृ0 3
8. अर्चना वर्मा, अस्मिता विमर्श का स्त्री स्वर, पृ0 32
9. संपा0 समीक्षा ठाकुर, बात–बात में बात, पृ0 281
10. वही, पृ0 292
11. अनु0 महेन्द्र कुलश्रेष्ठ, हिंसा और अस्मिता का संकट, पृ0 19–20
12. हंस, जून–2003, पृ0 09
13. डॉ0 आशारानी व्होरा, भारतीय नारी दशा और दिशा, पृ0 10
14. राजशेखर, काव्यमीमांसा, पृ0 10
15. देवेन्द्र राज अंकुर, भारतीय रंगमंच में नारी विमर्श, वसुधा पत्रिका, पृ0 457
16. महादेवी वर्मा, शृंखला की कड़ियाँ, पृ0 50
17. प्रो0 सुगम आनंद, भारतीय इतिहास में नारी, पृ0 126
18. महादेवी वर्मा, शृंखला की कड़ियाँ, पृ0 50
19. वही, पृ0 76
20. नासिरा शर्मा, औरत के लिये औरत, पृ0 113
21. डॉ0 गीता सोलंकी, नारी चेतना और कृष्णा सोबती के उपन्यास, पृ0 14
22. नासिरा शर्मा, औरत के लिये औरत, पृ0 201
23. डॉ0 गीता सोलंकी, नारी चेतना और कृष्णा सोबती के उपन्यास, पृ0 161
24. हंस, जून–2003, पृ0 63
25. नासिरा शर्मा, औरत के लिये औरत, पृ0 159
26. सुभाष सेतिया, स्त्री अस्मिता के प्रश्न, पृ0 15
27. प्रभा खेतान, उपनिवेश में स्त्री, पृ0 35
28. रेखा कस्तवार, स्त्री चिंतन की चुनौतियाँ, पृ0 7
29. रामपाल गंगवार, समकालीन प्रश्न और साहित्य चिंतन, पृ0 47

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

एक स्त्री के मानसिक तनाव और संघर्ष की गाथा 'पचपन खम्भे लाल दीवारे'

सिन्दू यादव
शोध छात्रा (हिंदी)
हंडिया पी0जी0 कॉलेज, हंडिया

'पचपन खंभे लाल दीवारें' उषा प्रियंवदा का पहला उपन्यास है। इसे नारी विमर्श के क्षेत्र में उत्कृष्ट उपन्यास भी कह सकते हैं। इसके माध्यम से उषा प्रियंवदा ने समाज में परिवार के प्रति एक पढ़ी–लिखी लड़की की जिम्मेदारी एवं उसके मानसिक तनाव को भी दर्शाया है। सीमित आय वाले मध्यवर्गीय परिवार की एक पढ़ी लिखी नौकरी पेशा व परिवार की स्थिति को लक्षित करते हुए अधिक उम्र तक अविवाहित रह जाने वाली लड़की के मानसिक तनाव संघर्ष का चित्रण है। इसमें अपने परिवार में सबसे बड़ी बेटी सुषमा है। पिताजी के अस्वस्थ रहने व परिवार की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ न होने के कारण सारी जिम्मेदारियों का बोझ सुषमा पर आ जाता है। सरकारी नौकरी के क्षेत्र में परिवार में वह अकेली है। अधिक उम्र होने के बावजूद उसके माता–पिता द्वारा उसके शादी के लिए प्रयत्न न करने पर उसका अकेलापन बढ़ता है और सुषमा की जिंदगी अकेलेपन से घुटती रहती है। वह शिक्षिका होने के साथ–साथ व छात्रावास की उच्च पदाधिकारी भी है। वह छात्रावास की लड़कियों का तथा उनकी जरूरतों का सदैव ध्यान रखती है और उन लड़कियों को यदा–कदा ही दंडित किया करती है। सबके सुख सुविधाओं का भी ध्यान रखती हैं।

इस उपन्यास में दूसरीपात्र कृष्णा मौसी है। जिसे सुषमा से बड़ा प्यार था। वह जब कानपुर आई तो सुषमा गर्मी की छुट्टियों में घर आई रहती है। कृष्णा मौसी सुषमा की शादी के बारे में प्रयत्न न करने को लेकर दीदी को फटकार सुनाती है। तत्पश्चात व सुषमा से अपने बारे में सोचने को कहती है! तब सुषमा कहती है– ''पर इन सब को भी तो मदद की जरूरत है मौसी। पिताजी को पेंशन मिलती ही कितनी है? उसमें तो दो वक्त दाल रोटी भी न चले। मैं भी अगर न करूँ तो किस के आगे हाथ फैलाएंगे? लड़कों को पढ़ाना है, ही। सड़क पर तो आवारा घूमने नहीं दिया जाएगा।''[1] और फिर सुषमा के होठों पर मासूम मुस्कराहट आ गई। कृष्णा मौसी के संबंधी नील के हाथों से साड़ियाँ भिजवाने नील को कौशल्याजी के साथ लाने से नील और सुषमा आपस में एक दूसरे के प्रति आकर्षित होते हैं और उन्हें प्रेम हो जाता है।

सुषमा जिस छात्रावास की उच्च पदाधिकारी है; वहाँ पर हर वक्त की खबरें हर शिक्षिका के पास पहुँच जाती है। स्वाति भी एक शिक्षिका है,जो नींद की गोलियाँ खाकर आत्महत्या करने का प्रयत्न करती है। स्वाति सभी की चर्चा का केंद्र हो जाती है। सुषमा के मन में उसके प्रति गहन करुणा उपजती है! स्टाफ रूम में एकत्रित सभी महिलाएं स्वाति के बारे में अनेक प्रकार की छींटाकशी करती हैं। जिससे सुषमा को बहुत बुरा लगता है। वह कहती है– ''आपके समाजिक मापदंड क्या कहते हैं? कि आप सबके सामने किसी के व्यक्तिगत जीवन की धज्जियाँ उड़ा दीजिए। हर एक का जीवन एक ऐसा अनुलंघनीय दुर्ग है। जिसका अतिक्रमण करना किसी का अधिकार नहीं है।''[2] सुषमा क्रोध से कांपने लगी। बात बढ़ने के भय से मीनाक्षी जो सुषमा की सहेली है, बांह पकड़ कर अलग खींच ले जाती है। बाहर निकल कर मीनाक्षी ने कहा ''तुम्हें बड़ा क्रोध आ गया, अभी तक कांप रही हो।''[3]सुषमा अनायास ही मुस्कुरा देती है। सुषमा धीरे–धीरे खुद को नील के बिल्कुल पास पाती है। परिवार के कारण न चाहते हुए भी शादी नहीं कर सकती। प्रेमिका के रूप में उसका अकेलापन बढ़ता जाता है। काफी सोच–विचार के बाद समाज के डर से वह प्रेमी से अलग होना चाहती है और इसी अकेलेपन में छटपटाती रहती है। यहाँ अनामिका के शब्दों में कहें तो स्त्री विमर्श ''पितृसत्तात्मक समाज में पल रहे स्त्री संबंधी पूर्वाग्रहों से पुरुषों की क्रमिक मुक्त को असंभव नहीं मानता। दोषी पुरुष नहीं, वह

पितृसत्तात्मक व्यवस्था है। जो जन्म से लेकर मृत्यु तक पुरुषों को लगातार एक ही पाठ पढ़ाती है,कि स्त्रियाँ उनसे हीनतर है, उनके भोग का साधन मात्र। आंदोलन की सार्थकता इसमें है कि वह वहाँ–वहाँ अंगुली रखें, जहाँ–जहाँ मानदंड दोहरे हैं।''[4]

नायिका सुषमा महिला छात्रावास के उच्च पदाधिकारी के रूप में कार्य करते हुए सोचती है कि, उसे भी दो बाहें सहारा देने वाली मिले, कोई उसका अपना हो जो उसके दुख दर्द को बढ़ सके उसकी भावनाओं को समझ सके।नील की बाहें उसे सहारा देती है। उसे अपनेपन का एहसास कराती हैं। वह सामाजिक विद्वेष व परिवार के दायित्व को ध्यान में रखते हुए नील से दूर रहने का प्रयास करती है।''सुषमा को लगा कि वह एक दलदल में फंस कर रह गई है। वह छटपटाती है। उवरना चाहती है, पर दिन–प्रतिदिन डूबती जा रही है।''[5]इसीलिए सुषमा नील से कहती है, 'प्लीज लीव मी अलोन' आगे नील सुषमा को कभी न परेशान करने की बात कह कर चला जाता है। सुषमा नील की बाहों में सिमट कर अपनी परिस्थितियों को भूल जाती थी। नील सुषमा के लिए एक कवच था, जो कि समस्त आपत्तियों तथा समस्याओं से बचाए रखता था। नील हालैंड चला जाता है;तब वह बहुत अकेली हो जाती है।''सुषमा बार–बार आँखें खोल, घड़ी की सुईयों को देख लेती। उसका सारा शरीर ऐसा निढाल था, जैसे उसकी सारी शक्ति रिस गई हो। हर बार समय देखती और उसकी विवश पलकें छल छलाई आँखों पर मुद आती। वह इतनी उद्विग्न क्यों थी? वह स्वयं नहीं जान पा रही थी। उसे रह–रह कर लगता कि, जैसे किसी भीषण घटना का सूत्रपात हो गया है। एक अज्ञात भय उसके हृदय में समाता जा रहा था।''[6]

उसमें जीवन के प्रति उत्साह, परिवार के प्रति मोह, सब कुछ समाप्त हो गया था। वह अपने दुख, अपमान और लज्जा की गहराइयों में भटकती पूर्ण रूप से अकेली हो गई थी। छोटी बहन नीरू की शादी के बाद एक बड़ी सिसकी से सुषमा का शरीर हिल उठा। वह माँ की गोद में सिर रख कर लेट गई और निःशब्द रोती रही। अम्मा ने बड़े द्रवित कम से कहा–''चुप हो जा बेटा। क्या मैं तेरा दुख समझती नहीं? आखिर माँ हूँ।''[7]उपन्यास की नायिका सुषमा जिस छात्रावास की पदाधिकारी है। उसी छात्रावास की शिक्षिकाएँ सहकर्मी ही उसे बदनाम करना चाहती हैं। सुषमा की माँ उसे केवल पैसे कमाने का साधन मानती है। वह उसके मन को नहीं जानती। सुषमा की शादी के लिए विशेष प्रयत्न न करने में अपनी असमर्थता प्रकट करती है। माँ के शब्दों में खेद था और थोड़ी सी लालसा मिश्रित ईर्ष्या भी। वह सुषमा के मौन को ख्याल न करती हुई, अपने विचारों का तारतम्य बनाती रहती थी– ''वकीलन तो बहुत चाहती थी, वह राजी नहीं हुई। जिसका जहाँ जिससे संजोग जुड़ा होता है, वही होता है। हमारे करने न करने से क्या होता है?''[8]सुषमा ने सोचा कि माँ कितनी सफाई से असमर्थता प्रकट पर अपने को समझा लेती है। माँ के इस व्यवहार के कारण ही सुषमा विद्रोही स्वभाव की हो जाती है। वह कहती है ''दुनिया क्या करती है ?यह मेरे सामने ना कहो माँ। जरा अपने दिल के अंदर झाँक कर देखो, कि तुमने मेरे लिए क्या किया है? मेरा आराम से रहना ही तुम्हें खटकता है। तुम शादी तय करो नीरू की, मैं उसके सारे गहने कपड़े उतार कर दे डालूंगी। यही तो तुम चाहती हो।''[9]इस प्रकार वह अनेक अन्याय सहकर वह अपने जीवन को एकाकी बना लेती हैं। वह नील से प्रेम करने के बाद भी सामाजिक बंधनों में बसी होने के कारण शादी नहीं कर पाती है। वह एक स्वाभिमानी होने के कारण नौकरी के क्षेत्र में पवित्र रहती है। इसके माध्यम से उषा जी ने महिला वर्ग को जागृत किया है, कि वह इस पैसे के लिए वह सामाजिक वासना की शिकार न हो जाए। समाज में उसे बहुत ही तनाव और प्रताड़ना मिलती है; परंतु वह अपना सारा जीवन परिवार की आर्थिक स्थिति को सुधारने में लगा देती है। जब छात्रावास की शिक्षिका स्वाति नींद की गोलियाँ खाकर आत्महत्या करने के प्रयत्न से चर्चा का केंद्र बन जाती है। तब सुषमा के मन में भय सा समा जाता है। स्टाफ रूम में एकत्रित सभी महिलाएँ स्वाति के बारे में कसीदे काढ़ने लगती हैं। जिस पर सुषमा कहती है–''ऐसी बात मिसेज पूरी क्या आपको शोभा देती है? कुछ भी हो स्वाति हममें एक थी। आज आप उसे कह रही हैं, कल किसी और को कहेंगी।''[10]लेखिका ने नारी को जागृत किया है, कि नारी को ही नारी पर लांछन नहीं लगाने चाहिए। सुषमा इसी के कारण ही स्वाति का पक्ष लेती है। सुषमा जब नील की ओर आकर्षित होती है। वह अपने अकेले जीवन की व्यथा को नील के साथ बांटने की कोशिश करती है, परंतु वह समाज व कुरीतियों से अपने कदम पीछे खींच लेती है। उसके दिमाग में बार–बार यह कुरेदता है कि नारी को

अपनी जिंदगी सामाजिक बंधनों में रहकर गुजारनी पड़ती है। उसे छात्रावास की उच्चपदाधिकारी पद से हटाने के लिए साथ कीसभी शिक्षिकाएं आपस में षड्यंत्र करती हैं–''मिस शास्त्री ने कहा, प्रिंसिपल तक रिपोर्ट पहुंच जाए तो बस काम बना समझो, कांट्रैक्ट होगा पर वार्डनशिप छोड़ने को तो विवश किया ही जा सकता है।''[11]सुषमा को इस प्रकार उसके पद से पदच्युत किया जाता है। इस बात से सुषमा बहुत दुखी होती है। छात्रावास में वह अपने विरुद्ध तरह–तरह की बातें सुनकर बेहोश हो जाती है। सुषमा स्वयं भी समाज के डर से यह सोचती है कि, नील उम्र में उससे छोटा है। वह उससे शादी नहीं कर सकती हैं। यह बात उसे हमेशा कचोटती रहती है। मीनाक्षी जब नील से शादी की बात करती है तब सुषमा कहती है–''नील की शादी होगी। परिवार होगा। मैं उसके जीवन में एक छोटी सी कसक बनकर रह जाऊंगी।''[12]सामाजिक विषमतायें प्रेम मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है। इसी कारण सुषमाअपने प्रेम को दबा देती है। इन्हीं सामाजिक कुरीतियों के कारण ही सुषमा जैसे स्त्रियाँ शिक्षित होते हुए भी अपने आपको आज के बंधनों में बाँध देती हैं। सामाजिक कुरीतियों से स्त्री स्वयं को जकड़ी हुई पाती है और इस प्रकार नारी का शोषण होता चला आ रहा है।

आधुनिक युग की नारी स्वतंत्रता चाहती है। परंपरागत होने के बावजूद भी वह पुरुष के साथ कदम से कदम मिलाकर चलना चाहती है। वह अपने को पूर्ण रूप से आधुनिकता की ओर ले जाना चाहती है। उषा प्रियंवदा ने भी अपने उपन्यास 'पचपन खंभे लाल दीवारें' में स्वतंत्र व्यक्तित्व की समस्या का अंकन किया है।'पचपन खंभे लाल दीवारें' उपन्यास की सुषमा स्वतंत्र रूप से अपना जीवन व्यतीत करना चाहती है। वह दिल्ली जैसे बड़े शहर में साधारण जीवन व्यतीत करती है। छात्रावास में वह सबसे कम उम्र की होते हुए भी, छात्रावास के उच्च पदाधिकारी होने पर सारी शिक्षिका उससे द्वेष करने लगती हैं। सुषमा अपने परिवार में आय की एकमात्र स्रोत है। जिससे वह खुलकर स्वच्छंद जीवन नहीं जी पाती है। वह स्वयं विवाह का निर्णय लेने में भी संकोच करती है। उसकी माँ भी उसकी इच्छा अभिलाषाओं को समझते हुए भी अनदेखा कर उसे विवाह न करने की सहमति दे देती है। मनुष्य स्वयं अपना स्वामी है। उसका दूसरा कोई स्वामी नहीं है। जो स्वयं पर स्वामित्व स्थापित करता है। यानी खुद को सीमित रखता है। दुर्लभ स्वामित्व को प्राप्त करता है। आधुनिक जीवन की सच्चाई यही है अगर आप अपनी बेटी को आय का साधन बना देते हैं। आय का स्रोत बना देते हैं, तो फिर उसका परिवार बस नहीं सकता। वह अपना संपूर्ण जीवन परिवार में ही रचा बसा कर के परिवार के लिए ही जीती है। उसका स्वयं का अस्तित्व नहीं होता है। यही स्थिति इस उपन्यास की केंद्रीय संवेदना है। कारण स्पष्ट है कि सुषमा जैसे आधुनिक स्त्रियाँ भी आधुनिक होते हुए भी परंपरागत और रूढ़िवादी बन गई है। सुषमा जैसे अनेक स्त्रियाँ आज ही समाज में कमाऊ बेटी बनी हुई है। उनका अपना निजत्व समाप्त हो चुका है;क्योंकि परिवार के लोगों ने उनको एक कमाने का साधन बना लिया है। आय का साधन बना लिया है। और उस के माध्यम से ही वह अपनी नित नई ऊँचाई चढ़ना चाहते हैं। बेटा हो या बेटी, भाई हो या बहन, पिता हो या माता, सबके लिए अगर वह जिम्मेदारी लेती है, तो उसे उसी की जिम्मेदारी की जकड़न में बांधे रखना चाहते हैं। यह हमें भी सोचना चाहिए कि माता–पिता को अपनी विचारधारा में परिवर्तन लाना होगा। यह अनुशासन के नाम पर हो रही मानसिक या शारीरिक अथवा सामाजिक हिंसा पर तत्काल रोक न लगाई गई तो, कल कितना भयावह होगा यह विचारणीय है। लोगों के अंदर स्त्रियों के प्रति दहेज की सोच अथवा नफरत की सोच अथवा चरित्र पर उंगली उठाना एकदम बंद करना होगा। यद्यपि इस परिवर्तन में अनेक परिवार टूटेंगे। फिर भी, मनमुटाव और रिश्तो में दरारों से बचा जा सकेगा। जब तक मजबूत आर्थिक आधार न हो तब तक किसी को विवाह करने का विचार त्यागना होगा। विवाह विच्छेद के कानून को सरल व प्रक्रिया को कम समय में पूरी होने वाली बनाना होगा। यद्यपि इस देश में बहुसंख्यक स्त्रियाँ जो श्रमिक वर्ग दलित वर्ग और निम्न आर्थिक वर्ग में आती है– के श्रम और यौन शोषण का क्रम तो सदियों से जारी था ही और उसे उन्होंने मूक पशुओं की तरह विधि का विधान समझकर सहन भी किया है।परंतु 80के दशक के उत्तरार्ध में जब स्वतंत्र भारत में शिक्षित और अपने पैरों पर खड़ी स्त्री की दूसरी पीढ़ी सामने आई, तब स्वाभाविकतः उसने विधि का विधान मानने से इनकार करना शुरू कर दिया। आरंभ में यह परिवर्तन की लहर पर पश्चिम के नारी मुक्ति आंदोलन का स्पष्ट प्रभाव था, परंतु इसका क्षेत्र बहुत सीमित था। प्रायः उच्च–मध्यम एवं उच्च–वर्ग की महिलाओं ने इसकी बागडोर संभाली। सीमित मंचीयअभिव्यक्ति और यौन

उत्पीड़न के प्रकरण में यदा–कदा नारेबाजी नारी मुक्ति आंदोलन का शुरुआती दौर बस इतना ही था। आंदोलन करने वालों में अधीक्षक महिलाएँ अपने कार्यक्रमों से लौटकर घर में अपनी पूर्वक स्थिति में आ जाती थी। स्वाभाविक रूप से बनावटी से दीखते इस आंदोलन में अधिकांश पुरुष वर्ग समझ ही नहीं पाता था और अक्सर एक ही सवाल उठाता था कि, ''आखिर ये औरतें चाहती क्या है?जिनके लिए यह प्रश्न तब अनुत्तरित था। आज के दौर में लड़कियों और महिलाओं के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष से प्रतिस्पर्धा रखते हुए सफलता की नित नई ऊँचाइयों को छूते देखकर समझ में आ गया है, कि यह औरतें आखिर चाहती क्या थी?अब इन्हीं औरतों का बोया हुआ है जिसे,आज की महिलाएँ फसल के रूप में काट रही है।'' हिंदुस्तान आज विकृत हो गया है एवं पवित्रता की लंबी–चौड़ी बातों के बावजूद आम तौर पर विवाह और यौन के संबंध में लोगों के विचार सड़े हुए हैं। सारे संसार में कभी–कभी मर्द ने नारी के संबंध में शुचिता, शुद्धता, पवित्रता के बड़े लंबे चौड़े आदर्श बनाए। घूम फिर कर इन आदर्शों का संबंध शरीर तक सिमट जाता है और शरीर के भी छोटे से हिस्से पर नारी का नर पुरुष से स्पर्श न हो। शादी पहले हरगिज़ न हो। बाद में अपने पति से हो। एक बार जो पति बने तो, दूसरा किसी हालत में न आए। भले ही ऐसे विचार मर्द के लिए सारे संसार में कभी न कभी स्वाभाविक रहे हैं, परंतु भारत भूमि पर इन विचारों की जो जड़ें और प्रस्फुटन मिले, वेअनिर्वचनीय हैं, 'अष्ट वर्षा भवेत् गौरी' यह सूत्र किसी बड़े ऋषि ने चाहे न बनाया हो, लेकिन बड़ा प्रचलित है आज तक। इसे जकड़ कर रखो। मन से, धर्म से, सूत्र से, समाज–संगठन से और अंततोगत्वा शरीर की प्रणालियों से। कि जल्दी से जल्दी लड़की का विवाह करके औरत को शुभ शुद्ध और पवित्र बना कर रखो। विवाह से कन्या पवित्र नहीं होती, तब तक उसको असीम अकेलेपन में जिंदगी काटनी पड़ती है।''[13]

संदर्भ सूची :

1. उषा प्रियंवदा–पचपन खंभे लाल दीवारें, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण, पृष्ठ संख्या 15
2. वही, पृष्ठ 36
3. वही, पृष्ठ 36
4. अनामिका– स्त्री विमर्श की उत्तरगाथा, सामयिक प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण 2014,पृष्ठ 17
5. उषा प्रियंवदा– पचपन खंभे लाल दीवारें, पृष्ठ 102
6. वही, पृष्ठ 114
7. वही, पृष्ठ 114
8. वही,पृष्ठ 49
9. वही पृष्ठ 102
10. वही, पृष्ठ 36
11. वही, पृष्ठ 106
12. वही, पृष्ठ 129
13. स्त्री मुक्ति का सपना, कमला प्रसाद, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण 2006,पृष्ठ198

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

Indian IFSC: Long Road Ahead

Manuj Joshi
Guest Professor,
Hansraj College, Delhi University

Abstract

This paper highlights the extant problems in India's International Financial Services Centre (IFSC). The conception of an indigenous IFSC is a step in the right direction but the current state of IFSC fails in competition with its peers. The first section introduces the concept of IFSC, followed by the challenges surrounding IFSC. Lastly, the paper closes with some recommendations pertaining to challenges highlighted in the paper and conclusion.

Introduction

Traditionally, India had been a financially conservative economy. The financial sector in India was far more restrictive in nature even in the beginning of the 90s. Post the financial liberalisation of 1993, the economy opened up giving the financial sector a greater push. Almost fourteen years later, sometime around 2007 our policy makers conceived the idea for an International Finance Centre (IFC). Today, there are more than 260[1] operational companies in the Gujarat International Finance Tec-City with more than 130[2] operational in International Finance Services Centre (IFSC). It is expected that the revenue generated from these companies will reach INR 600-700 billion once the project is completed. Currently the transactions in IFSC have crossed INR 280 billion[3]. The policies of IFSC are changing with the day and the scope of operations is increasing.

An IFC offering International Finance Services (IFS) benefits an economy in numerous ways. One of the most important reasons for establishing an IFC is its ability to earn foreign exchange that can be pumped into the domestic economy. For instance, London earned a total of USD 93.6 billion trade surplus from financial and professional services offered through IFCs. The financial players by participating in the IFCs remain in the know-how of financial innovations taking place across countries and are able to develop on it. IFCs increase the tax revenue generated in the economy, provide an avenue to raise funds for businesses and in turn raise the income levels and employment in the economy.

The government and regulators have offered several concessions to businesses operating in GIFT-City (Gujarat International Finance Tec-City). A business with 1000 staff operations can gain 20 per cent[4] efficiency just by moving to a GIFT City. The government has been proactive in developing GIFT IFSC to match its global competitors. In the Union Budget of 2018-19, the Government announced the exemption of capital gains tax on transfer of derivatives and certain securities by non-residents. This is expected to promote the trade in stock exchanges operating in GIFT IFSC. The government has also announced the reduction of the Alternate Minimum Tax (AMT) to 9 per cent which is at par with Minimum Alternate Tax (MAT) applicable for corporates.

Challenges to GIFT-IFSC

GIFT IFSC has made great strides in the recent past developing unparalleled investor confidence. It ranked third[5] in the list of fifteen IFCs likely to become significant in coming years. To materialise such a ranking in real terms, GIFT IFSC must address the challenges that plague its development.

i. Legal Redressal Mechanism

IFCs concentrate on financial innovation and providing nuanced and novel financial products which are unavailable across the world. Such products, being complex in nature, require legal expertise to deal with disputes amongst participants. India has partnered with Singapore International Arbitration Centre (SIAC) but lacks indigenous expertise on such matters. Absence of domestic expertise reduces the option to approach a higher authority in case of dissatisfaction with arbitration centre's judgement.

ii. Resolution Policy

The government has been very focused on Ease of Doing Business. While it deals with nine major parameters, all of them can be categorised into starting a business, sustaining a business and exiting from the market. All three categories hold equal importance. However, the policies of GIFT-IFSC have been mute on the resolution criteria for companies operating in it. Existence of a resolution framework has been recognised by our global peers and many have passed laws and instituted regulatory bodies for the concerned issue. For instance, Singapore has a Monetary Authority of Singapore Act with various resolution powers. Similarly, Federal Deposit Insurance Corporation (FDIC) and the Federal Reserve look into the resolution of financial firms for USA. While India does have a resolution mechanism in place now, it is restricted to non-financial firms. There is lack of clarity as to what extent this will be applicable or can be modified to companies at GIFT-IFSC. Furthermore, having dropped the Financial Resolution and Deposit Insurance (FRDI) bill from Lok Sabha, it is unlikely for firms in IFSC to have a smooth resolution procedure.

iii. Lack of Product Innovation

The idea behind IFCs is to focus on financial innovation with relatively relaxed regulatory norms. However, GIFT-IFSC is yet to develop innovative or complex financial products or invest in novel financial technologies.

iv. Absence of benefits over other IFSCs

IFSC offers a whole host of benefits over the domestic economy. However, when compared to other IFC, the benefits offered are not enough to attract the investors accustomed to the functioning of other established IFCs. The government does not want to create GIFT IFSC another tax haven in the world of such IFCs operating worldwide. While the strategy is correct, it leaves little relevance for the GIFT IFSC in the market of IFCS.

Possible Solutions

GIFT-IFSC currently ranks at seventy sixth place out of a hundred financial centres ranked by Global Financial Centres Index.[6] It lags behind Delhi and Mumbai (ranked 55 & 54 respectively) despite offering better tax incentives. For GIFT IFSC to make strides along this ranking, the operational barriers and regulatory hurdles in its functioning should be removed. Increased focus along all three aspects i.e. regulatory, legal and commercial frameworks is of the order. This will level the playing field by bringing GIFT IFSC to its competitor's stature. Further, targeted efforts must be made to develop differentiated products and invest in financial innovation to gain a competitive edge internationally.

The following recommendations could aid in growth of GIFT IFSC by attracting participants.

Following Global Accounting Standards

USA and Europe follow different accounting standards, the former follows Generally Accepted Accounting Principles (GAAP) while the latter follows International Financial Reporting Standards (IFRS). According to the GAAP, USA banks do not need to report Structured Investment Vehicles (SIV) and Asset Backed Commercial Paper (ABCP) on their balance sheets while European banks are not given this freedom. However, with a complicated system of reporting, USA banks are able to bring profits from such instruments onto their balance sheets.

In India, the Indian Accounting Standards are adhered to which closely follow the IFRS. The global standard of accounting principles is IFRS which has been developed by International Accounting

Standards Board. Many other countries have joined the list of those following IFRS. Aligning domestic accounting standards with global standard brings its own costs. Since a global standard exists, India's stance of developing its own accounting standard creates an expensive impediment to operating in IFSC. It is recommended that companies operating in GIFT IFSC must be allowed to follow IFRS accounting standards.

Addressing the Risks Associated with Dual Regulations in India

Like its global counterpart, GIFT-IFSC too enjoys a regulatory dominance over the domestic economy. However, this could become a point of contention between firms operating in domestic regulatory purview and those at GIFT-IFSC. Furthermore, a dual regulatory system comes with risks attached to it. Madalina and Aleandru[7] argue that an inequality between an offshore and local financial centre can destabilise host country's economy. Domestic laws are usually framed keeping in mind the stability of the financial sector. However, due to the very nature of IFCs being specialised services centres, the regulatory framework tends to be relaxed.

Past experience shows that India does not do well when it comes to managing dual system of economies. This can be seen from the differences that exist when different regulations exist for the same sector in the centre and in the state or for two different financial entities offering similar products, such as the case of banks and non-banking financial companies (NBFCs). This calls for a solution, setting a distinctive line between powers of state and centre with the regulator also having a defined set of controls.

Developing an in-house Legal Redressal Mechanism

GIFT-IFSC has tied up with Singapore International Arbitration Centre for dispute resolution amongst the market players. However, an in-house legal framework and special courts for dispute resolution, arbitral reward, exit process is still absent. As long as a cogent resolution framework is not established, the reluctance to avail services at IFSC will continue. In order to ensure that disputes are resolved within a reasonable time-frame and implementation of arbitral award are carried out, the local judiciary and law officers should be trained to deal with these sophisticated legal proceedings. Also, to enforce the arbitral award, the judiciary - specifically the District Court/the Gujrat High Court (depending on whose jurisdiction the matter falls under) - needs to form a special bench so that such cases can be handled smoothly. Additionally, the courts should come out with specific rules for speedy judgement on priority cases without any adjournment being granted in such matters. In this regard, the Competition Act should be appropriately amended with certain exceptions made for GIFT-IFSC to expedite such proceedings.

Adaptive Approach to Tax policy

The government has taken the approach of testing waters first, proceeding with caution in the tax policy development for IFSC. The government has provided with full tax exemption for the first five years and fifty per cent tax exemption for the next five years. Although this is considerably less than twenty-five-year exemption of taxes in Dubai, the approach is better as the government can keep a watch at how the private players are responding, how much of demand for IFC services are flowing out of the country and how much are being attracted nationally and internationally to GIFT IFSC. However, it must keep on its toes, and respond proactively to requirements of private players regarding taxation, and evolve the tax policy matching the pace at which business advances in the IFSC.

Developing a Resolution Framework

Currently, exchanges, clearing corporations and trading members are totally ring fenced while all other companies set up in IFSC are directly connected with the parent company and are not separate legal entities. This makes the risks to directly flow from parent company

irrespective of its jurisdiction into GIFT IFSC. With a whole set of domestic financial players setting up business arms in IFSC, the exposure to foreign capital as well as players increases. This further exacerbates the risk of a financial contagion.

While resolving insolvency remains a key deciding factor in ease of doing business rankings, India has been sluggish at developing a legal framework for domestic or IFSC financial firms. The Financial Resolution and Deposit Insurance bill which catered to financial resolution of domestic financial institutions has not yet been passed. The government should not only look at the Financial Resolution and Deposit Insurance bill again for the safety of domestic financial entities and their customers but also for those in GIFT IFSC.

Incentivising Foreign Players

The major aim of instituting the IFSC is bringing back the business which flows out of India to other IFCs. But over time outlook has to change towards attracting business from foreign clients. Currently, the liquidity available with the banks in IFSC is limited. This restricts the amount of capital that other entities can borrow and do their work. Moreover, the regulations over foreign banks injecting liquidity is also absent. Policy reforms are required to incentivise foreign banks to choose India over continuing with London or New York.

Conclusion

India has, with the establishment of IFSC, recognised the importance of financial services. Many cities have prospered with financial service offerings as well as the innovation therein. However, tapping a respectable share of international financial services business requires for India to address concerns of stakeholders at a much faster pace. India lacks the competitive edge in IFSC space but what is even more worrying is the time taken to bring in correct reforms for IFSC. From the conceptualisation of the idea of IFSC to establishing a unified regulator (IFSC Authority) it took more than a decade. This sheds a bad light over India's focus on IFSC and stakeholder concerns. There are still many issues, from accounting standards to absence of redressal mechanisms, which remain resolved.

References

"Regulatory Changes See Top Companies Warming up to Gift City." *The Economic Times*, The Economic Times, 13 Aug. 2020, https://economictimes.indiatimes.com/industry/banking/ finance/ regulatory-changes-see-top-cos-warming-up-to-gift-city/articleshow/85284025.cms?from=mdr.

FAQs-GIFT-IFSC-Latest, December 2020, http://www.giftgujarat.in/documents/FAQs-GIFT-IFSC-Latest.pdf

"Gift City Registers 400% Jump in IFSC Deals to USD 4 Bn." *Dnaindia.com*, DNA India, 26 May 2017, https://www.dnaindia.com/business/report-gift-city-registers-400-jump-in-ifsc-deals-to-usd-4-bn-2452380.

"India's first smart city and IFSC has 160 companies operation" Cio.in, CIO India, April 2017, http://www.cio.in/news/indias-first-smart-city-and-ifsc-has-160-companies-operational

Bureau&, Our. "Gift's IFSC amongst the Fastest Growing Globally." *The HinduBusinessLine*, The Hindu BusinessLine, 12 Sept. 2018, https://www.thehindubusinessline.com/news/national/gifts-ifsc-amongst-the-fastest-growing-globally/article24935538.ece.

"The Global Financial Centres Index." *The Global Financial Centres Index - Long Finance*, https://www.longfinance.net/programmes/financial-centre-futures/global-financial-centres-index/?ref=xranks.

RĂDOI, MĂDĂLINA ANTOANETA, and ALEXANDRU OLTEANU. "Study on Financial Offshore Centres, the Risks and Deregulation of the International Financial System, Capital Laundering and Terrorism Financing."

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

Creating global economic recovery and growth after COVID-19

Dr. ARVIND KUMAR GARG
R.R.I.C. PILKHUWA (HAPUR) U.P.

We're in the midst of an asymmetrical recovery. In some countries, COVID-19 infection rates have fallen significantly, while in others, the virus remains difficult to control. But whether governments are actively managing outbreaks or returning to normalcy, economic recovery is central to their forward-looking agenda. For without a broad-based economic expansion, it is difficult to address other challenges, such as education and healthcare.

The International Monetary Fund recently raised its projection of economic growth in 2021 to 6%, up from 5.5%, and projects 4.4% growth in 2022. The upgraded outlook is based on how well the pandemic continues to be controlled, the efficacy of fiscal policy in mitigating economic damage and global financial conditions. Although businesses are the engines of the economy, governments create the environment and structure that enable enterprise to flourish (see 'Government actions that support economic recovery'). How governments create and shape the environment for economic recovery—and the opportunities and challenges they face in doing so—will depend on two decisions they make about their approach.

Two decisions shape governments' approach to recovery

All governments need to reduce debt and stimulate growth, but few governments aside from those with the largest economies have the option to simultaneously tackle their balance sheets and their economic recovery. Most will take actions that enable economic recovery by minimising expenditure or creating a positive return on investment, in ways that consider their global worldview, country context, legislative structure, political will and national ideology. Countries can make two decisions to help them understand the approach best aligned with their needs.

Decision 1

What will best drive my country's immediate economic recovery—an approach that's more locally orientated or globally orientated?

Countries that are at risk for acute and systemic insolvency, that have high levels of domestic inequality and/or disgruntled citizens, or whose supply chains for vital industries are at risk will probably prioritise local economic recovery. Countries that rely on global supply chains and financial flows, and believe global problems require global solutions, will probably lead with a globally orientated recovery.

Decision 2

What's the best option for stimulating national economic growth—active involvement and oversight of issues or enablement of the private sector and local institutions?

This choice may be based on a government's political party affiliation or structure and operating model. Other determinants include how deeply a government thinks it can trust in businesses and citizens to drive decisions, how agile it thinks public and private institutions are, and what core skill sets the government possesses.

Centralised government

Decentralised government

Local orientation

Global orientation

Combination of policies and hands-on programmes focused on domestic economic strength

Reach is broad and deep.

Clear guidance is provided for states and municipalities to follow.

National regulatory environment is robust.

National industries and businesses are seen as part of the government's broader policy apparatus.

Social services and programmes are subsidised and targeted.

National and local issues are considered a higher priority than global challenges.

Combination of policies and hands-on programmes to support global stability and growth

Global issues are considered national priorities.

Policies and programmes are used to drive alignment across state and municipal governments, the private sector, and civil society.

National regulatory framework is robust.

Government programmes are targeted at strategic industries aligned to the national agenda and those in which the private sector has a global competitive advantage.

Nationalised social services are robust.

International order is a strongly supported priority.

Policies to encourage and create incentives for a private-sector focus on domestic economic strength

States and municipalities are empowered to manage affairs largely independently, with limited oversight and guidance.

Business has significant freedom in conducting operations in a way that maximises value and profit.

Local governments are responsible for addressing social issues, within broad federal guidelines.

International responsibilities and engagement in international affairs are limited and viewed through the lens of protecting national interests.

Policies to encourage and create incentives for a private-sector focus on global stability and growth

The overall direction and tone of national policies is aligned to global interests.

These priorities are achieved through a reliance on the private sector to find efficient, effective solutions.

There is a broad regulatory framework and few protectionary policies.

Local governments lead on social issues but are encouraged to align with global standards.

Government strongly supports, but does not help lead, the global international order and commitments.pproach

Centralised and local governments view a high-touch, centralised government and local empowerment as the primary drivers of economic recovery. Key questions for these governments revolve around how to best:

- invest locally
- identify and support industries that will drive economic recovery
- promote domestic spending through cash-transfer programmes
- protect local businesses from foreign competitors
- safeguard industries that are vital to national security
- promote exports
- create a society that's inclusive, more equitable and skilled for the future.

These governments have an opportunity to build their national security and resilience by revitalising local industries and, by extension, local communities. It will be important to identify 'national champions'—industries at the foundation of the nation's economy. Money previously spent on foreign-aid contributions can be redirected to these industries.

Large, centralised governments will have to be mindful, though, not to overwhelm small or nascent industries or communities with too much funding or regulation. These governments can take advantage of public–private–civil partnerships to understand how best to help these developing industries and communities thrive and grow. In areas of targeted investment, governments will want to monitor key indicators, such as industry growth and employment, to understand the impact of their investment. And upskilling will be vital to ensuring that local industries are staffed with people who have the know-how to help drive growth.

For instance, Japan's Goverenment has expanded the stimulus programmes that it initiated for small enterprises at the beginning of the pandemic to include direct government financing for medium and large entities. The programme now involves government-backed lenders in Japan provided subordinated loans and preferred shares to all pandemic-impacted companies. Interest rates are about 1%, compared with the usual rate of 5% or more, and the loans don't have to be coordinated with private lenders, as is usually required.

Decentralised and local governments maintain light central oversight, preferring that states and municipalities manage their affairs independently. Businesses have a wide berth to operate in a way that maximises profits, under the premise that those businesses that do well also create more jobs and put more money into local economies. If there's a significant regulatory framework, it probably pertains to national safety and security, specifically protecting national supply chains and the economy from foreign interference. These governments rely on private, civil and local organisations as governance partners. A central question concerns how to enable industries and communities to support themselves. Doing so will generally involve removing obstacles to corporate and individual economic growth, for instance by reducing taxes, introducing protectionary tariffs, promoting tax incentives and

risk guarantees to stimulate investment, and creating incentives for corporations and local governments to upskill their workforce.

These governments have an opportunity to not only help local communities maximise their growth and fulfil their specific needs, but to also free up central government resources for redistribution to local institutions. This approach to governing can create thriving hyperlocal ecosystems, with cottage industries that can serve as the basis of the national economy.

Such an economy, however, depends on a central government's strong partnerships with, and trust among, the local governments, private sector and civil society organisations that serve as a bridge to the local economies that drive national GDP growth. These decentralised and local governments will also have to manage potential social and economic disparities among individual parts of the country. The central government can help manage these disparities by coordinating the sharing of knowledge and best practices among local partners and customising the stimulus and incentives they offer to different local governments.

One example of a lean and local government's approach to economic recovery can be seen in Mexico. The country's tourism industry was significantly affected by COVID-19. Although the Government mandated reduced capacity and health and safety protocols across the industry, it didn't implement protocols that would have made visitor entry difficult. It opted not to require international travellers to be tested for COVID-19 before entering the country, nor to quarantine or restrict their movement.

Centralised and global governments foster alignment among local governments, the private sector and citizens in support of a singular set of national but globally influenced priorities and values. These governments identify, assist and incubate local industries that have a global competitive advantage, promote innovation in these industries and those aligned to a broader global agenda, and create regional supply chains to strengthen their national position and that of their neighbours. These nations' regulatory framework is robust, aligns with international standards and norms, and balances economic and social progress. Key questions for these governments concern which industries support the global common good, how best to shape and affect the global agenda, and which partnerships—regional, local or international—are most beneficial.

Investment in national champion industries might stimulate a significant amount of innovation. These governments have an opportunity to partner with the private sector on upskilling the citizenry, helping to create social-mobility opportunities that benefit society while providing those national champion industries with a workforce equipped to compete in a digital world.

The primary challenge for these governments is ensuring that small and medium-sized enterprises, which make up a large percentage of many economies, don't get left behind. It's smaller companies that power most local economies and that are the foundation of a strong middle class. These large and global governments also need to have a strong, centralised communications strategy that explains how their global agenda is important to, and directly benefits, the citizenry; otherwise, they risk eroding the public's trust in them.

Norway has invested considerable resources in a government fund called the **Green Platform Initiative.** The initiative is run as a competition, with state-owned enterprises evaluating project proposals that focus on research, development and innovation in green growth, and granting awards from a pool of US$120m. The objective of the initiative is to

spur investments in sustainable solutions, positioning the Norwegian economy for global growth.

Decentralised and global governments often consider global issues to also be national priorities, but they believe that unhindered markets are the most efficient and balanced way to make progress. These governments set the direction and tone of their globally aligned national policy but rely on the markets to carry it out. Lean and global countries have a consistent but broad regulatory framework in place and few protectionary policies; they rely on the free-market system to check and balance itself. They use interventionist policies sparingly, primarily to reduce obstacles for the business sector or to create a more competitive environment—for instance, by injecting liquidity into the financial sector, reducing taxes, providing tax incentives and risk guarantees, and creating a business-friendly environment to encourage foreign direct investment. One key question for these governments concerns how to identify and communicate a consistent set of national priorities, because lean governments generally don't communicate through explicit programmes and incentives but instead apply a more subtle influence. Other key questions are how to balance a light-touch approach with helping industries build resilience and strengthening national security in a fracturing global environment, and how to determine what levers should be pulled, and when, to ensure that economic growth leads to a more equitable society.

Lean and global governments, particularly those in larger, industrialised economies, can quickly create enormous growth, because their free-market economies are globally based and competitive. Industries and companies in these countries that weathered the pandemic might be poised for a windfall if they can lead in the market as global economies open up.

The challenges for lean and global governments are both economic and social. Economies that grow too quickly are susceptible to overheating, leading to a spike in inflation, among other undesirable effects. Also, free-market economies driven by a global agenda without significant regulation, such as tariff protections, or support, such as targeted upskilling programmes, might result in the loss of small or nascent businesses and industries that can't compete without these interventions. And the loss of these businesses and industries might diminish innovation and cause long-term damage to the country's economy. Small and medium-sized enterprises that do survive might lose out in the marketplace if there is robust overseas competition, and income disparity could be exacerbated, as evidenced by the current K-shaped recovery emerging globally.

Earlier this year, African nations illustrated how lean and global governments approach economic recovery, with their activation of the African continental free trade area agreement. The agreement removes trade barriers across the continent, reduces regulatory complexity, and paves the way for increased industrialisation at scale, jobs and global competitiveness.

Working together to create stronger, more inclusive economies

Governments and businesses are facing a world that has been radically changed by COVID-19, and recovery will probably be marked by significant instability and change. But there is opportunity, too, to recouple economic growth and social progress. Four guiding principles can help governments and businesses create a more efficient working relationship to achieve this vision.

Build and communicate a national vision statement that includes roles, responsibilities and expectations for every stakeholder in society. The post-COVID world will give us an unprecedented opportunity to course correct and create stronger, better versions of our

societies. Everyone has a role to play in this new vision; and businesses of all sizes should see themselves reflected in plans to rebuild the economic engine and help to create inclusive, skilled workforces and sustainable value and supply chains.

Get buy-in from the private sector on social issues. Social issues—long the sole purview of governments—have become an issue for businesses, too, as stakeholders begin to demand that businesses use their resources and clout to effect positive social change. Governments and businesses must identify new ways to work together to drive this meaningful change.

Strengthen or build communications channels. To work together, governments and businesses must reassess, then build or strengthen channels that allow them to communicate with one another. Roundtables, liaison offices, and other solutions should be considered and widely implemented to ensure open, active dialogue.

Improve mechanisms and incentives for transparency. Stakeholders are insisting that businesses take action on social issues and report transparently on those actions. As a result, businesses must re-evaluate their strategies and operating models. Governments can support businesses by providing economic incentives—in the form of increased capital support, tax breaks, preferential treatment on government bids and more—for companies that can demonstrate a sustained, good-faith effort to address social issues.

For too long, governments and businesses have operated in silos, resulting in economies that are neither sustainable nor inclusive. Getting national economies growing again, in a way that is efficient and results in more equitable societies, will require that public- and private-sector leaders work together in a more coordinated, seamless manner. Governments can create societies that are stronger, more resilient and more equitable; businesses can propel this vision by providing jobs, competitive advantage and economic growth. Together, they can create economies that simultaneously drive growth and lead to more inclusive societies that benefit all.

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

चित्रा मुद्गल के कथा–साहित्य में नगरीय नियंत्रण

सुमन कुमारी
शोधार्थी, हिन्दी विभाग, मगध विश्वविद्यालय
बोधगया, बिहार

समाज स्वीकृत सामाजिक प्रतिमानों के माध्यम से समाज में व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित करने का सामान्य उपाय सामाजिक नियंत्रण है, जिससे वह स्वीकृत सामाजिक प्रतिमानों के अनुकूल व्यवहार करे। ''सामाजिक नियंत्रण वह तरीके हैं जिनके द्वारा सामाजिक प्रतिमानों के अनुरूप व्यक्तियों के व्यवहार को ढाला जाता है। दूसरे शब्दों में, वह तरीके जो समाज द्वारा निर्धारित नियामकों और प्रतिमानों के अनुसार समूह के जीवन को नियंत्रित करते हैं, 'सामाजिक नियंत्रण' कहलाते हैं।''[1] सामाजिक संस्थाओं जैसे परिवार, निकट संबंधियों के समूहों, जाति, शिक्षा, राज्य धर्म और आर्थिक संस्थाओं आदि के समूहों, जाति, शिक्षा, राज्य धर्म और आर्थिक संस्थाओं आदि के द्वारा व्यक्ति एवं समुदाय सामाजिक प्रतिमानों के अनुसार कार्य करते हैं। सामाजिक नियंत्रण को दो भागों में बाँटा गया है– अनौपचारिक नियंत्रण और औपचारिक नियंत्रण। प्रायः सामाजिक नियंत्रण अनौपचारिक साधनों के द्वारा ही बनाए रखा जाता है। जैसे– प्रथाएँ, लोकरीतियाँ, लोकाचार तथा धर्म इत्यादि। सामाजिक नियंत्रण के औपचारिक साधन शिक्षा, राज्य एवं कानून इत्यादि हैं। नगरों में सामाजिक नियंत्रण कायम करने के लिए औपचारिक एवं संगठित सामाजिक नियंत्रण की आवश्यकता होती है। नगरीय समाज में सामाजिक नियंत्रण निरोधक की अपेक्षा सुधारात्मक होता है। अतः नगरों में सामाजिक नियंत्रण हेतु कानून, राज्य, पुलिस, न्ययालय इत्यादि का सहारा लिया जाता है परन्तु फिर भी आंशिक रूप में परिवार, लोकरीतियाँ, रूढ़ियाँ, प्रथाएँ धर्म भी सामाजिक नियंत्रण का कार्य करता है।

परिवार– सामाजिक नियंत्रण की अत्यंत महत्वपूर्ण इकाई है– परिवार। हर बच्चा सबसे अधिक अपने आस–पास के वातावरण से ही सीखता है। शिष्टाचार, आदतें तथा दृष्टिकोण सबसे पहले अपने माता–पिता, भाई–बहन, परिवार के अन्य बच्चे–बूढ़े आदि से प्राप्त किए जाते हैं। परिवार सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। 'पोस्ट बॉक्स नं0 203 नाला सोपारा' उपन्यास में विनोद अपनी माँ को पत्र लिखता है– ''झूठ बोलने पर तू हाथ तान लेती थी। मैं सहमकर कान पकड़ दोबारा वह हरकत न दोहराने की कसम खाने लगता।''[2] इसी प्रकार विनोद की दोस्त ज्योत्स्ना के बार–बार घर आने पर माँ द्वारा गुस्सा किए जाने वाली बात को पत्र में लिखता है– ''उसी समय ज्योत्सना के चले जाने के बाद मैंने मन–ही–मन तय किया था कि तू अगर कहीं मुझसे पूछेगी छोकरी क्यों आई थी तो मैं तुझसे साफ झूठ बोल जाऊँगा। ड्राइंग की स्कैच बुक माँगने आई थी। देने से मना कर दिया मैंने। तूने मुझे एक बार यह कहकर भी डाँटा था, छोकरी स्यानी हो रही दीकरा, थोड़ा दूर रहा कर। हर बात समझाने की नहीं होती, खुद से समझने की भी होती है। मसें भींग रहीं तेरी।''[3]

परिवार द्वारा विवाह संबंधी निर्णय भी लिए जाते हैं। घर के बड़े–बुजुर्ग विवाह संबंधी फैसले लेना अपना अधिकार समझते हैं। नगरों में प्रेमविवाह का प्रचलन होने के बावजूद बच्चों द्वारा अपनी मर्जी से विवाह कर लेने पर परिवार द्वारा उनकी आलोचना एवं भर्त्सना की जाती है। इसका चित्रण उपन्यास 'एक जमीन अपनी' में मिलता है। अंकिता द्वारा अपनी माँ को सुधांशु से प्रेम विवाह करने की बात बताए

जाने पर माँ प्रस्ताव को अस्वीकार कर देती है। माँ आवेश में आकर धतूरा पीसकर निगल जाती है। भनक लगने पर जैसे–तैसे करके डॉ0 चौधरी ने सम्भाला इस घटना से सभी सोचते हैं कि अंकिता सुधांशु से ब्याह करने की हठ छोड़ देगी। परन्तु वह सुधांशु से कोर्टमैरिज कर लेती है जिससे उसे आलोचना सुनना पड़ता है। बाद में सुधांशु के अत्याचार से मजबूर होकर अलग होती है तब सभी के निन्दा की पात्र बनती है। अंकिता सोचती है– ''औरत की स्वतंत्रता उसकी सबसे बड़ी दुश्मन है, दुष्चरित्रता का प्रमाण–पत्र। सुधांशु से अलग होकर जब वह घर लौटी थी, आस–पड़ोस ने ही नहीं, पूरे शहर ने छींटाकशी की थी, नौकरी करने वाली लड़की कहीं घर में बंद होकर टिक सकती है?''[4] इसी प्रकार कहानी 'केंचुल' में जब कमला की बेटी सरना घर आकर अपनी माँ को अपने प्रेमी कल्पू के खोली पर जाती... क्या–क्या नई करती होएगी तू! हाँ मूँह काला किया न मेरा। बीत तन के चलती न मैं...मिट्टी किया न आबरू...खलास करके सोड़ेगी, उस साआले भइए के बच्चे को।''[5] इसी प्रकार उपन्यास 'आवां' में नमिता जब हैदराबाद में आभूषणों का प्रशिक्षण लेने के लिए जाने लगी तब उसकी माँ के मना कर देने पर वह हर्षा से कहती है– ''हैदराबाद जाने के नाम पर परसों शाम जो माँ ने गाजे–बाजे के संग आरती उतारी है मेरी, यादकर केशलुंचन की यातना से भर उठती हूँ। हैदराबाद की गाड़ी में तू बैठी नहीं जनम की दोजख कि मेरे लेखे जीते जी मरी नहीं। करेजे पर सिर धर लूँगी कि तेरे बाबूजी अकेले चिता नहीं चढ़े। संग तू भी फूँक गई।''[7]

परिवार अपने घर की लड़कियों को सुरक्षित रखने के लिए कुछ नियम बनाता है। जैसे– लड़की को पराये घर न भेजन या किसी पराये युवक के संपर्क से दूर रखना। 'आवां' उपन्यास की नायिका नमिता की दादी का कहना है– ''हमें नहीं पसंद सयानी हो रही बिटिया को किसी और के घर भेजना। न दुधारू गाय पराये खूँटे बँधे, न बिटिया–बेटार पराई देहरी शोभे।''[8]

अतः परिवार अपने सदस्यों को अनेक प्रकार से शिक्षा देकर उनके व्यवहार पर नियंत्रण रखने का प्रयास करता है। ''परिवार की शिक्षा का उद्देश्य अपने सदस्यों को सांस्कृतिक व्यवहारों की सीख देना तथा सामाजिक नियमों को स्वीकार करने की प्रेरणा देना होता है।''[9] अतः सभी सामाजिक समूहों में परिवार सामाजक नियंत्रण का सबसे अधिक व्यापक एवं प्रभावशाली माध्यम है। परिवार की नियंत्रण शक्ति सर्वव्यापी है क्योंकि कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जो परिवार के नियमों से प्रभावित न हो।

प्रथाएँ– सामाजिक नियंत्रण में प्रथाएँ महत्वपूर्ण सांस्कृतिक स्रोत है। इसके अन्तर्गत उन सभी आदर्शों एवं नियमों को सम्मिलित किया जाता है जिनके अनुसार व्यक्ति एक लम्बे समय से कार्य करते आ रहे हैं। समाज में प्रथा है कि पहले बड़ी बहन की शादी होती है बाद में उसके छोटे भाई बहनों की। यह प्रथा गाँव की कट्टर परम्परा है लेकिन नगरीय या शहरी लोग भी इस परम्परा के कट्टर नहीं होते हुए भी कहीं–कहीं इससे अछूते नहीं हैं।

कहानी 'अपनी वापसी' में यह परम्परा देखने को मिलती है। शकुन का तीन बच्चों में छोटा बेटा विवाह करना चाहता है पिता से अनुमति भी प्राप्त हो जाता है परन्तु शकुन को लोकापवाद का ध्यान है– ''लोकापवाद, मान–प्रतिष्ठा के बारे में कुछ ज्यादा ही सोचती हूँ। बड़ी बहन सिर पर बैठी मूँग दल रही ध्यान रहा निखिल को?''[10]

हमारे समाज में प्रचलित प्रथा है कि महिलाएँ मृतक अर्थी को कंधा नहीं देती। शहरों में महिलाएँ श्मशान घाट तक जाती हैं परन्तु अर्थी को कंधा नहीं देतीं। उपन्यास 'आवां' में सुनंदा की मृत्यु के बाद विमला बेन अर्थी को कंधा देने लगती है उस समय पाटिल रोकता है– ''बाई साहब! ये आप क्या कर रही हैं आपको मालूम नहीं औरतों के लिए मय्यत को कन्धा देना शास्त्र–सम्मत नहीं।''[11] इसी प्रकार देवीशंकर की मृत्युपरांत बेटी नमिता अपने पिता का अंतिम संस्कार करना चाहती है; तब उसकी माँ

क्रोध में कहती है– ''बौरा गई है नक्कटी। बेटियाँ जनके भी जिनके सपूत नहीं होते, पितिआउन भाई–भतीजे उन्हें मुखाग्नि देते हैं। जो अब तक नहीं हुआ, अब कैसे होगा?''[12]

कहानी 'प्रेतयोनि' में लोकापवाद का भय भी नियंत्रण रखने में सहायता करता है। कहानी में टैक्सी चालक द्वारा अनिता के साथ दुष्कर्म करने का प्रयास करने पर अपने को बचाते हुए तथा उसका मुकाबला करते हुए निकट के पुलिस थाने में रिपोर्ट दर्ज करवाती है। उसकी बहादुरी की खबर छपने पर उसके घर वाले इस बात को छुपाने का प्रयत्न करते हैं कि अखबार में छपी फोटो उसकी बेटी अनिता की नहीं है। इस व्यवहार पर वह सोचती है– ''वही बाबूजी सुबह में उसकी संघर्ष गाथा की चर्चा पढ़कर एकाएक संवेदनाशून्य कैसे हो उठे? क्या था जो सिर्फ अखबार में खबर बनते ही तिरोति हो गया? संघर्षशक्ति जीवट सब हाशिए के शब्द भर होकर रह गए। लोकापवाद के भय से? लोकापवाद के विरूद्ध तब बाबू जी कैसे तनकर खड़े हो गए थे? जब मुक्ता दीदी के अकेले बंबई जाकर नौकरी करने के निश्चय की सगे संबंधियों ने आलोचना की।''

प्रथाएँ मनुष्य के व्यवहार को काफी हद तक नियंत्रित करने का प्रयास करती हैं। प्रथाओं में मनुष्य लोकापवाद के डर से गलत कार्य करने से भयभीत होता है। इस प्रकार प्रथाएँ भी सामाजिक नियंत्रण में सहायक सिद्ध होती हैं।

जनरीतियाँ– जनरीतियाँ या लोकरीतियाँ वे आदर्श हैं जिनके अनुकूल लोक व्यवहार करते हैं। सगाई, विवाह, मृत्यु आदि में अलग–अलग रीति–रिवाज अपनाए जाते हैं। गाँव में ये प्रथाएँ अधिक प्रचलित होने के कारण सामाजिक नियंत्रण का प्रमुख साधन माना जाता है। परन्तु शहरों में भी जनरीतियों द्वारा नियंत्रण रखने का प्रयास किया जाता है। गाँव की प्रथा में विवाह के कुछ दिनों के बाद गौने की रस्म होती है जो कहानी 'पेशा' में देखने को मिलती है। ''नरेन्द्र के पिता कथ्कू ने उसे बुलवाया था कि उससे कुछ जरूरी बातें करना चाहते हैं। उसके ससुराल से गौने की चिट्ठी आई है और अगली पन्द्रह को विदाई की तिथि निकाली हैं।''[14]

हमारे समाज के रिवाज के अनुसार विवाह पर लड़की के सोलह श्रृंगार किए जाते हैं वैसे ही किसी स्त्री की मृत्यु होने पर भी उसके अंतिम संस्कार के दौरान सोलह श्रृंगार करके सजाया जाता है। इसका वर्णन हम 'गेंद' कहानी में देख सकते हैं। वृद्धाश्रम में रह रही चटर्जी दी की मृत्यु होने पर उन्हें दुल्हन जैसा सजाया जाता है। 'गेंद' कहानी में समाज की एक और रिवाज देखने को मिलती है। किसी की मृत्यु हो जाने पर मृतक के घर में तब तक चूल्हा नहीं जलाया जाता जब तक शव का अंतिम संस्कार न कर दिया जाए। वृद्धाश्रम में एक बुजुर्ग की मृत्यु हो जाने पर सावित्री बहन के खाना बनाने को कहने पर रसोइयाँ कहता है– ''अजीब है सावित्री बहन जी। कभी किसी ने ऐसी अनहोनी सुनी? घर में मुर्दा पड़ा हो और घर का चूल्हा जले। सूतक में भोजन। करेगा कौन?''[15]

हमारे समाज में यह भी रिवाज है कि जिस पलंग या चारपाई पर मृतक अपने प्राण त्यागता है उसके नीचे गोबर से लिपाई की जाती है। उपन्यास 'एक जमीन अपनी' में अंकिता की माँ की दाहसंस्कार अंकिता सोचती है– ''अब फर्श के इस कोने से उस कोने तक दरियाँ बिछी हुई हैं जगह–जगह से बटुरी हुई। पलंग का उतना हिस्सा छोड़कर वहाँ गोबर और गेरू से लीपकर बड़ा–सा दीया रख दिया गया है। नन्हीं लपट सी काँपती हुई लौ में थर्राता....।''[16]

उपन्यास 'आवां' में भी यह रिवाज प्रचलित है कि पति की मृत्यु के बाद उसकी अर्थी पर उसकी पत्नी अपने बिच्छुए उछाल देती है। नमिता के पिता की अर्थी पर नमिता की माँ अपने बिछुए उछाल देती है। नमिता का कथन है– ''माँ के बिछुए उतार कुंती मौसी ने अर्थी पर उछाल दिए। किशोरी बाई के बिछुओं की पुड़ियाँ लोगों की आँख बचाकर वह बाबू जी के पाँवों तले पहले ही दबा चुकी थी।''17

संभवतः जनरीतियाँ भी व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित करने में महत्वपूर्ण सिद्ध होती हैं परन्तु इसका ज्यादा महत्त्व केवल गाँवों में ही देखने को मिलता है फिर भी आंशिक रूप से नगरों में भी इसका महत्त्व देखने को मिलता है।

धर्म– सामाजिक नियंत्रण में धर्म भी महत्वपूर्ण है। धर्म रोचक घटनाओं, ईश्वरीय, महिमा, पौराणिक कथाओं, कर्मकाण्डों और पवित्र वस्तुओं के माध्यम से यह विश्वास दिलाता है कि अगर कोई मनुष्य धर्म की अवहेलना करता है तब उसकी बहुत बुरी दुर्गती होती है और इसका पालन व्यक्ति को सद्गति दिलाता है। अतः धर्म एक आंतरिक अलौकिक प्रभाव के द्वारा व्यक्ति एवं समूह के जीवन पर नियंत्रण करता है। कहानी 'शून्य' में सरला का पति राकेश अपनी पत्नी को प्रताड़ित करता है और एक अन्य स्त्री बेला के प्रति प्रेम भाव रखता है।

सरला की माँ अपनी बेटी के वैवाहिक जिन्दगी को बचाने के लिए तथा राकेश को नियंत्रित करने के लिए टोने–टोटकों का प्रयोग करती है। सरला इन सारी बातों को सोचती है– ''अम्मा ने क्या नहीं किया। गंडे, ताबीज, भभूत, व्रत, जाप, मनौतियाँ...लेकिन कोई असर नहीं हुआ। इससे होना भी क्या था? जानती थी पर चारों तरफ से टूटी–हारी जैसे किसी चमत्कार की प्रतीक्षा में आए लगाए इशारे पर नाचने को तैयार थी। कितनी भभूतों को राकेश हजम कर गए...कितनी मूंठे बेला पर बेअसर रही।''[18] इसी प्रकार कहानी 'गर्दी' में नावक अपने मृत मित्र उमेश की पत्नी राजी और उसके दो बच्चों के साथ रहने लगता है। उसे नियंत्रित करने के लिए उसकी माँ अपनी बीमारी का बहना कर घर बुलाती है और अपने दूध का वास्ता देते हुए कसम लेती है– ''मेरे सिर पर हाथ रखकर कसम खा कि तू अब लौटकर उस रांड़ के पास नहीं जाएगा, अगर कमरा लेकर रहेगा।''[19]

लोगों में यह विश्वास कि बच्चों को किसी की नजर लगने से बचाने के लिए उनके माथे पर काला टीका लगा देना चाहिए या लाल मिर्च न्यौछावर कर आग में जला देना चाहिए जिससे नजर लगा हुआ समाप्त हो जाता है। यह विश्वास नगरों में भी कुछ हद तक देखने को मिलता है। 'एक काली एक सफेद' नामक कहानी में मिसेज चतुर्वेदी की पड़ोसन उनकी बेटी की तारीफ करती है तब वह यह भी कहती है कि बेटी की नजर भी उतार लेना। ''गजब की बाढ़ पाई है बिटिया ने मिसेज चतुर्वेदी। भई राई नोन उतार दीजिएगा आज शाम।''[20]

नगरों में यदि किसी घर में कोई आत्महत्या कर लेता है या अचानक मृत्यु हो जाने पर लोग उस मकान को अपशकुनी मानते हैं उसे खरीदना नहीं चाहते या पूजा–पाठ के द्वारा शुद्धिकरण प्रक्रिया करते हैं। 'एक जमीन अपनी' उपन्यास में मेहता की पत्नी के आत्महत्या कर लेने पर वह घर बेचना चाहता है परन्तु खरीदार को मकान बेचने का सही कारण पता चलता है और वह खरीदने से मना कर देता है। मेहता की बहन अंकिता से कहती है– ''खरीदार बयाना देकर मुकर गया। उसने यह कह कर फ्लैट खरीदने से मना कर दिया कि यह घर अपशकुनी है।''[21]

संभवतः सामाजिक नियंत्रण में धर्म अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। मानने वालों के लिए धर्म शक्तिशाली दबाव का कार्य करता है। नगरों में भी आंशिक रूप से धर्म को सामाजिक नियंत्रण के रूप में देखा जा सकता है। हिन्दू समाज में धर्म सामाजिक नियंत्रण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

शिक्षा– चित्रा मुद्गल के कथा साहित्य में हमें नगरों में भी शिक्षा द्वारा व्यक्ति के व्यवहार में नियंत्रण देखने को मिलता है। पोस्ट बॉक्स नं0 203 नाला सोपारा' उपन्यास का प्रमुख पात्र विनोद उर्फ बिन्दी उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहता है और अच्छी नौकरी प्राप्त करना चाहता है। वह किन्नर समदाय वाला कार्य नहीं करना चाहता। वह अपनी माँ को पत्र में लिखता है– ''पढ़ लिखकर केवल अपनी जिन्दगी

को तराश्चाने का रास्ता या हजारों–हजारों निर्दोष जननांग दोषियों का सामान्य मनुष्य की भाँति जीवन जीने के लिए उन्हें सजग करने का।''[22]

'एक जमीन अपनी' उपन्यास में अंकिता भी शिक्षित पात्रा है। वह अपनी सहेली नीता के अश्लीलता भरे व्यवहार पर आपत्ति प्रकट करती है और वह अपनी तर्कशक्ति द्वारा नीता को चेतना देने का प्रयास करती है। अंकिता नीता से कहती है– ''हम किसे पहनाना चाहते हैं, ये पोशाकें फैशन और आधुनिकता की आड़ में? इन्हीं का असर है कि पार्टियों में उसने युवतियों को बाकायदा होड़ करते पाया है कि आज की शाम कौन कम से कम कपड़े पहनकर लोगों की दृष्टि में आकर्षण का केन्द्र बनेगा। लोगों की दृष्टि में आकर्षण का केन्द्र या गिद्ध दृष्टियों के बीच मांस का टुकड़ा।''[23] इस प्रकार शिक्षा द्वारा भी व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित किया जा सकता है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति को सचेत कर अनुचित कार्य करने से रोका जा सकता है।

कानून व्यवस्था– आधुनिक युग में सामाजिक नियंत्रण का महत्वपूर्ण औपचारिक साधन कानून है। ''वर्तमान युग में कानून सामाजिक नियंत्रण का एक महत्वपूर्ण औपचारिक साधन है जो निश्चित और स्पष्ट नियमों के द्वारा व्यक्तियों के सभी छोटे–बड़े व्यवहारों पर नियंत्रण लगाता है।''[24] कानून वर्तमान समाज की वर्तमान आवश्यकताओं के अनुसार होता है। इसका सर्वप्रमुख कार्य समूह के लिए उपयोगी व्यवहारों को भरनेका प्रोत्साहन देना और उसकी अवहेलना करने वाले लोगों को निश्चित दण्ड देना है। चित्रा मुद्गल के कथा–साहित्य में कानून द्वारा व्यक्तियों के व्यवहार को नियंत्रित करने का प्रयास अधिक हुआ है क्योंकि नगरों की अत्यधिक विशालता और सघनता के कारण यहाँ अनौपचारिक साधनों से कोई भी व्यक्ति सहज ही बच सकता है। 'एक जमीन अपनी' उपन्यास में नीता अपनी पूरी संपत्ति बेटी मानसी के नाम कर बच्ची और संपत्ति की देखभाल की पूरी जिम्मेदारी वह अंकिता को सौंप देती है। वसीहत में नीता अपनी आखिरी ख्वाहिश के रूप में प्रस्ताव रखती है कि अंकिता उसकी बेटी मानसी को कानूनन गोद ले ले। ऐसे में अंकिता संपत्ति की अधिकारिणी तथा मानसी की माँ होगी।

अदालत से नाखुश व्यक्ति को अपनी फरियाद सुप्रीम कोर्ट में ले जाने का प्रावधान है। इसी प्रकार 'गर्दी', 'एक काली एक सफेद', 'भूख', 'लेन', 'सौदा', 'प्रेतयोनि' आदि कहानियों में कानून नियंत्रण का प्रावधान प्रस्तुत है। 'पोस्ट बॉक्स नं0 203 नाला सोपारा' उपन्यास में विधायक का भतीजा अपने दोस्तों के साथ मिलकर पूनम जोशी के साथ दुष्कर्म करता है और विनोद कानून का सहारा लेता है। वह पूनम जोशी से कहता है– ''ठीक हो जाओ पूनम जोशी जी। तुम्हें हराने की कोशिश करने वालों को बक्शा नहीं जाएगा। जन्तर–मन्तर पर इस दरिन्दगी की लड़ाई भी लड़ी जाएगी।''[25]

न्याय–व्यवस्था– न्याय व्यवस्था भी औपचारिक नियंत्रणों में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। राज्य कानून बनाता है और उस कानून के तहत किसी भी अपराधी को सजा देने और बाइज्जत बरी करने का अधिकार न्यायालय को होता है। न्याय व्यवस्था द्वारा भी अपराधियों के विपरीत व्यवहार पर नियंत्रण रखा जाता है। न्यायालय में सबूतों के आधार पर अपराधी को दोषी साबित किया जाता है। कहानी 'त्रिशंकु' में ब्लैक में सिनेमा की टिकटें बेचते हुए पुलिस द्वारा पकड़े जाने पर नंदू को न्यायालय में पेश किया गया है और अपराध साबित हो जाता है तथा उसे तीन महीने की सजा सुनाई जाती है। अतः समाज को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए न्यायालय द्वारा भी नियंत्रण किया जाता है। पति–पत्नी यदि आपस में खुश नहीं हैं तो न्यायालय द्वारा तलाक लेकर एक–दूसरे के निरंकुश व्यवहार से मुक्त हो सकते हैं। कहानी 'इस हमाम में' दिवा के सामने वाले फ्लैट में मिस्टर पंजवानी को देखकर अंजा उसे बताती है कि यह बहुत बड़ा स्मगलर होने के कारण तीन महीने जेल में काट कर आ रहा है। 'गिल्टी

रोजेज' कहानी में भी दुखना को हत्या के आरोप में न्यायालय द्वारा आजीवन कारावास की सजा मिलती है तथा दूसरी अपराधी महिला गुनाबाई को भी न्यायालय द्वारा आजीवन कारावास की सजा मिलती है।

संभवतः सामाजिक नियंत्रण से समाज को सुचारू रूप से चलाने की आवश्यकता होती है। यह वह प्रतिमान होते हैं जो सामाजिक व्यवस्था तथा नियमों को बनाए रखते हैं। पुलिस भी औपचारिक साधनों की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। शान्ति तथा सुरक्षा रखने के लिए तरह–तरह के साधनों का उपयोग कर सामाजिक व्यवस्था में फैलने वाले अपराधी तत्वों को नियंत्रित करती है। समाज में शांति बनाए रखने के लिए पुलिस, कानून, न्यायालय इत्यादि सभी को महत्वपूर्ण माना जाता है। इन्हीं व्यवस्थाओं से इतने विशाल जनसंख्या वाले भूखण्ड नगरों में नियंत्रण रखा जा सकता है।

संदर्भ ग्रंथ :

1. समाजशास्त्र : एक परिचय, बी0के0 नागला, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, पृ0 118
2. पोस्ट बॉक्स नं0 203 नाला सोपारा, चित्रा मुद्गल, सामयिक प्रकाशन, पृ0 133
3. वही, पृ0 143
4. एक जमीन अपनी, चित्रा मुद्गल, राजकमल प्रकाशन, पृ0 21
5. केंचुल, आदि–अनादि–1, चित्रा मुद्गल, सामयिक प्रकाशन, पृ0 65
6. आवां, चित्रा मुद्गल, सामयिक प्रकाशन, पृ0 462
7. वही, पृ0 64
8. समाजशास्त्र, डॉ0 जी0के0 अग्रवाल, साहित्य भवन, पृ0 198
9. अपनी वापसी, आदि–अनादि–1, चित्रा मुद्गल, सामयिक प्रकाशन, पृ0 167
10. आवां, चित्रा मुद्गल, सामयिक प्रकाशन, पृ0 153
11. वही, पृ0 153
12. प्रेतयोनि, आदि–अनादि–3, चित्रा मुद्गल, सामयिक प्रकाशन, पृ0 99
13. पेशा, आदि–अनादि–1, चित्रा मुद्गल, सामयिक प्रकाशन, पृ0 212
14. गेंद, आदि–अनादि–1, चित्रा मुद्गल, सामयिक प्रकाशन, पृ0 226
15. एक जमीन अपनी, चित्रा मुद्गल, राजकमल प्रकाशन, पृ0 392
16. आवां, चित्रा मुद्गल, सामयिक प्रकाशन, पृ0 400
17. शून्य, आदि–अनादि–1, चित्रा मुद्गल, सामयिक प्रकाशन, पृ0 208
18. गर्दी, आदि–अनादि–32 चित्रा मुद्गल, सामयिक प्रकाशन, पृ0 91
19. एक काली एक सफेद, आदि–अनादि–2, चित्रा मुद्गल, सामयिक प्रकाशन, पृ0 76
20. एक जमीन अपनी, चित्रा मुद्गल, राजकमल प्रकाशन, पृ0 105
21. पोस्ट बॉक्स नं0 203 नाला सोपारा, चित्रा मुद्गल, सामयिक प्रकाशन, पृ0 180
22. एक जमीन अपनी, चित्रा मुद्गल, राजकमल प्रकाशन, पृ0 85
23. समाजशास्त्र, डॉ0 जी0के0 अग्रवाल, साहित्य भवन, पृ0 191
24. पोस्ट बॉक्स नं0 203 नाला सोपारा, चित्रा मुद्गल, सामयिक प्रकाशन, पृ0 210

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

मृणाल पाण्डे का साहित्य और प्रेमभावना

डॉ0 विकास कुमार

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
श्री वार्ष्णेय महाविद्यालय, अलीगढ़, उत्तर प्रदेश
सम्पादक– International Literary Quest एवं World Translation

प्रेम की परिभाषा शास्त्रों तथा शस्त्रों में न ही आकाश–पाताल की गहराईयों तथा वायु के वेग में दिखाई देती है। प्रेम की परिभाषा जीवनदायिनी होती है। प्रेम जीवन की अद्‌भुत शक्ति तथा जीवन प्रदान करती है। रामनरेश त्रिपाठी के शब्दों में–

''गंध विहीन फूल है जैसे, चन्द्र चंद्रिका हीन,
यों ही फीका है मनुष्य का, जीवन प्रेम विहीन।।[1]
प्रेम स्वर्ग है स्वर्ग प्रेम है, प्रेम अशंक अशोक,
ईश्वर का प्रतिबिंब प्रेम है, प्रेम हृदय आलोक।।''

प्रेम, ईमानदारी, निश्छलता तथा विश्वास मात्र से ही नारी का सम्पूर्ण अस्तित्व टिका होता है। प्रेम की भावना को उद्‌घाटित करते हुए प्रभा खेतान लिखती हैं– प्रेम के कई रूप हैं और प्रेम की उम्र लंबी होती है जिसकी तुलना में देह की उम्र छोटी होती है। कामना का सुख तो हारमोंस पर आधारित होता है और यह बड़े सीमित समय के लिए मनुष्य को उपलब्ध होता है लेकिन प्रेम तो उसे हर समय उपलब्ध है। यह आपके व्यक्तित्व पर निर्भर है कि आप देह से परे जा सके और प्रेम को अपने जीवन में महसूस कर सके। ''मैक्समूलर के अनुसार प्रेम के अधिक्ता 'स्मर' (कामदेव) का नाम एक धातु 'मर' से बना है इस धातु के मर्द रूप का अर्थ है– पिघलना अथवा खण्ड खण्ड हो जाना और इसी के दूसरे रूप मृण का अर्थ है चमकना, साफ करना, पवित्र करना। इसी मूल अर्थ को आधार बनाकर साहित्यकार मृणाल पांडे लिखती है ''हम स्त्रियां इस उदात्त प्रेम चित्रण का नहीं, स्त्री–पुरूष संबंधों की उस अश्लील प्रस्तुति का विरोध करती है, जहां प्रेम की मानवीय उदारता के बजाय स्त्री का संबंध शर्मनाक और घृणास्पद किस्म के रिश्तों का एक उत्पीड़न भरा मिश्रण बनाकर सामने लाया जाता है। स्त्रियों के लिए ही नहीं, प्रेम की यह विकृति प्रस्तुति सबके लिए अमंगलकारी है।''[2]

जीवन और समाज के बुनियादी ढांचे में परिवर्तन के साथ नए विचारों–मूल्यों की अभिव्यक्ति आज साहित्य–लेखनों में होने लगी है। ऐसे में सम सामाजिक–कथाकार, साहित्यकार जीवन समर के नए संदर्भ–संबंधों के बदलाव को वर्णनात्मकता की झाड़ू से बटोर कर प्रस्तुत ही नहीं करता, बल्कि संबंधों को प्रतीकों–बिंबों में सतर्कता से परिभाषित भी करता है। इसलिए मृणाल पांडे के साहित्य में ''खजुराहो के भिति शिल्पों में उन्मुक्त प्रेम का चित्रण समानता के आधार पर दिखाई देता है। यही सहज भावना गीत गोविंद या कुमारसंभव या मीरा की प्रेम कविताओं सहित हमारे अमर काव्य में भी व्याप्त है। वहां जो आराध्य या आराध्या हैं, वह सैकड़ों नातों के बावजूद लीला सहचर या सहचरी है। हीन उत्पीड़न दास नहीं है और मूल भावना समर्पण की है छीन–झपट भय की नहीं।''[3]

प्रेम में प्रेमी की दृष्टि ही सुन्दर हो जाती है। वह जिस वस्तु से प्रेम करता है, वह स्वतः सुन्दर प्रतीत होने लगती है। आधुनिक प्रेम सौन्दर्य का अनुगामी है। आज सौन्दर्य देखकर ही प्रेम पनपता है। यह सौन्दर्य समाप्टि के साथ ही नष्ट भी हो जाता है। बदलते परिवेश, आर्थिक, नैतिक सम्बन्धों ने आदिम राग शक्ति, काम और प्रेम को भी दूषित कर दिया है। आज स्त्री भोग्य बनकर रह गयी है। उसके प्रति दैहिक आकर्षण और सम्भोग के अतिरिक्त जैसे अन्य कोई रिश्ता बन पाना कठिन हो गया है।

प्रेम संवेदना पर आधारित विरूद्ध उपन्यास की नायिका रजनी और उदय की पहली मुलाकात न्यूयार्क में होती है और दोनों एक दूसरे को दिल दे बैठते हैं। दोनों के प्रेम का जिक्र रजनी की बड़ी बहन बिल्लो अपने पति नरेश भाई से इस प्रकार करती ''दो–चार दिन बाद बिल्लों ने बड़ी अर्थ पूर्ण कंजी शरारत से उसे देखते हुए कहा था कि उनके एक दोस्त का उन दिनों एक निमंत्रण आया है, उसका एक दोस्त है, बिल्लो ने नरेश भाई की और एक आंख दबा दी थी, 'जो रज्जू पर एकदम जट्टू। 'यानी हुकलाईन सिंकर। ''नरेश भाई ने एक धौल लगाई थी। ''क्यों भाई छुपे रूस्तम्।''[4]

कला मनुष्य की आंतरिक अभिव्यक्ति होती है जिसमें मनुष्य अपने जीवन की अनुभूतियों एवं भावनाओं को ज्ञानवर्धक तरीके से संकेतों एवं चित्रों की सहायता से व्यक्त करता है। उन भावनाओं का प्रभाव दूसरों पर पड़ता है और उनमें अनुभूति होती है। ऐसे ही प्रेम भरी भावनाओं को अभिव्यक्ति कागज पर ब्रश एवं रंग द्वारा देवी उपन्यास की ललिता मौसी करती है जो परंपराओं एवं वर्जनाओं को तोड़ने वाली, रूढ़िवादी परिवार में जन्म लेने वाली, उन्मुक्त स्वभाव वाली, 32 वर्षीय शिक्षिका है। विलायत से लौटे डॉक्टर मौसा के साथ ललिता के प्रेमालाप को चित्रित करती हुई मृणाल पांडे लिखती हैं ''उस दिन जब जंगल में पहुंचकर ललिता ने तस्वीर बनानी शुरू की तो बजाए लता वृक्षों के कुमारसंभव के दृश्य कागज पर उभरने लगे, शिव को पाने के लिए तप करती अपर्णा पार्वती, लास्य मुद्रा में विष्णु और लक्ष्मी, बुरांश की शाखा पर चोचे जोड़े बैठे पडुक–पडुकी। उधर डॉक्टर साहब के मन पर भी ललिता मौसी की छवि छप गई थी। उसका विचित्र वेश बेझिझक निगाह लमटंडम देह, उसके भारी वक्ष और पृथुल नितंब डॉक्टर के भुलाए नहीं भूल रहे थे। ऐसे ही स्त्री तो चाहिए थी उन्हें और फिर हालांकि ललिता मौसी का शादी वादी का इरादा कतई नहीं था। उसने डॉक्टर साहब को हां कर दिया।''[5]

मृणाल पांडे के उपन्यास 'सहेला रे' के अंजली बाई और ताजुद्दीन के मध्य दिखाई पड़ता है। अंजली के कैरियर के प्रति सचेत मां हीरा बाई जब अपने बेटी और ताजुद्दीन के बीच का रोड़ा बनती है तो वह अपने मां का दुश्मन बन बैठती है और प्रेमी की याद में सदैव निर्जीव सी पड़ी रहती है। तभी तो हीराबाई अपनी सहेली हुस्नाबाई को पत्र लिखकर अपने बेटी की स्थिति के बारे में बताते हुए कहती हैं–''बड़ी पछताई मैं उस नमक हराम को लेकर। जाते–जाते भी मेरी बेटी का दिल साथ ले गया और उसकी जगह उसके सीने में मानों बर्फ की एक सिल्ली रख गया। अब हाल यह है कि मां और मर्दजात दोनों ही के नाम से अंजलि को गहरी चिढ़ हो गई है। इतनी कि महफिलों में जाने से पेश्तर मुझे बनते संवरते देख दिल पर सौ सौ बान चलाती घायल करती रहती है।''[6]

हिमुली हीरामणि कथा में एक सामान्य दुकानदार का बेटा ''सुनास ने किसी उत्सव में अचानक मुंबा नगरी के परम धनुषाली नगर सेठ की कन्या दंम्भिनी को देखा था। प्रथम दृष्टि में ही उस पर आंसक्त होकर अब वह दिन रात मुंह लटकाए अपने ही कक्ष में बैठा रहता है। न खाता है न पीता है। कहता है यदि विवाह करेगा तो दंम्भिनी से ही।'' इससे सुनास के माता–पिता बहुत चिंतित रहते हैं। सुनास के हठ को पूरा करने के लिए उसके परिवार का शुभ चिंतक हीरामणि शुक एक शब्द युक्त योजना बनाता है। यह योजना देवाज्ञा में बदल कर नगर सेट अम्बष्ठ से कन्यादान करवा देता है। ''कोई कुछ कहता, उससे पूर्व कंदरा के द्वारा से बसको चकित करती हुई एक गंभीर वाणी आई, ''देखो सेठ, मैं मुंबा देवी बोलती हूँ। नगर तथा समुद्र जल की अधिष्ठात्री। अपने वाणिज्य को समुन्नत तथा अपनी कन्या को सुखी देखना चाहते हो तो मेरा आदेश मानते हुए उसे इस सेठ के सुलक्षणी पुत्र सुनाय को शीघ्र विवाह में दे दो।''[7]

इस प्रकार में मृणाल पांडे अपने साहित्य में प्रेम की उदात एवं अनुदात दोनों भावों को बड़ी ही संजीदगी से सजाया है। उनके कथा साहित्य में प्रेम के प्रति नारी एवं पुरूष के अलग–अलग दृष्टिकोण देखने को मिलते हैं। एक तरफ नारी जहां अपने प्रेमी को उन्मुक्त वह स्वतंत्र छोड़ने में विश्वास रखती है वही अगर पुरूष किसी नारी पर आसक्त हो जाए तो उसे येन केन प्रकारेण पाने की चेष्टा करता है।

विवाह का तात्पर्य है ''विवाह विशिष्ट वहनम् ''अर्थात विशिष्ट रूप से वहन करना। विवाह शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है। प्रथम, विवाह संस्कार के रूप में द्वितीय, इस संस्कार से उत्पन्न दापंत्य जीवन के रूप में। व्यापक दृष्टिकोण से विचार करने पर विवाह व्यक्तिगत बन्धन नहीं है। यह

एक सामाजिक संस्कार है। केवल एक स्त्री और एक पुरूष के गठबंधन को विवाह नहीं कह सकते क्योंकि उन दोनों व्यक्तियों के साथ उनका समाज, उनका कुल, उनका धर्म जुड़ा रहता है। विवाह का अर्थ है– दो कुलो का, उनके आचार विचार का, उनकी संस्कृतियों का संगम। विवाह स्त्री पुरूष को मर्यादा की सीमा में बांधता है, स्वस्थ समाज का विकास करता है, उनके उच्छृंखल संबंधों पर प्रतिबंध लगाकर वैवाहिक संबंध को नैतिक स्तर का उच्चतम आधार प्रदान करता है। प्राचीन काल से ही सामाजिक जीवन में विवाह का विशिष्ट महत्व रहा है ''स्त्री और पुरूष के बीच यौन संबंध एवं सामाजिक सहानुभूति को बंधनों के मर्यादित और स्थाई रूप देने की प्रथा विवाह के रूप में प्राचीन काल से चली आ रही है। ''अतः विवाह एक महत्वपूर्ण साझेदारी है जिसमें स्त्री और पुरूष अपना संपूर्ण प्रेम प्रवाहित करके एक दूसरे के लिए अनन्य बन जाते हैं।''[8]

रविन्द्रनाथ मुखर्जी के अनुसार ''विवाह एक अति प्राचीन एवं अनिवार्य सार्वभौम संस्था है जो प्रत्येक मानव समूह में चाहे वह प्राचीन हो अथवा अर्वाचीन सभ्य हो या असभ्य, समान अथवा असमान रूप से विद्यमान है।''[9]

मृणाल पांडे अपने साहित्य के मध्यम वर्गीय लड़कियों का त्रासदी पूर्ण दांपत्य जीवन का चित्रण करती हैं। वह दबे स्वर में नहीं बल्कि प्रतिबद्धता के साथ, बुलंद स्वर में, उन निरपराध, नासमझ लड़कियों का पक्ष लेती है जो शादी के बाद मजबूरन ढर्रे पर आ जाती हैं जिनको थोथे आश्वासनों से फुसलाया जाता है। 'दरम्यान' कहानी में लेखिका कहती हैं 'ईधर वह ओवर टाइम में लगता और उधर वह ढर्रे पर ले आयी जाकर बड़ी आसानी से माओं–ननदों, चाचियों वगैरह के कोलाहलमय बीहड में खो जाती। पर वह यह कतई नहीं कर सकता कि शांता की तरह–बीवी और –भरे पूरे व्यक्तित्व वाली एक लड़की को एकदम एक सपाट चपटेपन में तब्दील कर एक आदर्श बहू धाय बना डालें जो उबासियों छोड़ती हुई बारी–बारी से अम्मा जी और उसके सिरहान चवर डुलाती खड़ी रहे।''[10] गृहस्थ जीवन में शांता शर्म व गुलामी की जंजीरों में बंध जाती है। वह दब्बू, एकदम सपाट और आयाम हीन औरत बन जाती है। जिसे देखकर कथा नायक अचंभित होकर सोचता है– 'शायद उसनें अपनी सारी अनुभूतियाँ और चेतना तंतुओं को ऐसा भीतर सिकोड़ लिया है कि आदर–अपमान, दुख–सुख किसी का भी उस पर असर नहीं होता। दिन आते हैं और चले जाते हैं पर उसकी जिंदगी का ढर्रा वहीं रहता है, चाहे हिंदुस्तान में हो या दस हजार मील दूर यहां पर।''[11] मृणाल पांडे ऐसी परिस्थितियों के लिए उत्तरदायी भावहीन एवं कुहासा सदृश्य प्यार पर आधारित उस संबंध का प्रतिकार करने की सलाह देती है जो नारी को पशु तुल्य एवं संदेहास्पद बना देती हैं। जिससे वह मात्र दया के पात्र रह जाती है।

वैवाहिक बंधन में अपने व्यक्तित्व एवं अस्तित्व को समाप्त कर रूढ़ि परंपरा पर चलने वाली 'समुद्र की सतह से दो हजार मीटर ऊपर' कहानी की ओडिसी भारतनाट्यम नृत्यांगना शादी के संबंध में अपने अनुभव के आधार पर कहती हैं कि ''विवाह, शुरू हुई अंत की शुरूआत के बराबर है''[12] इस प्रकार शांता एवं प्रख्यात नृत्यांगना दोनों वैवाहिक बंधन के ढर्रे पर आ जाती है। शांता अपने मुख से उफ तक नहीं करती है जबकि प्रख्यात मृयांगना स्वयं एवं समाज से अपने अस्तित्व की तलाश करते हुए प्रश्न करती है कहां हैं–''कहां–कहां'' मेरा वह मनोरम संसार ? मेरी आवाज मेरे ही भीतर बजती है। मेरी विक्षिप्तता का शून्य मेरा उजाड़।''[13]

'रास्ते पर भटकते हुए' उपन्यास की मंजरी न तो समाज से प्रश्न करती है, न ही झींक–झींक कर जीना चाहती है बल्कि अपने जीवन को जिंदादिली से बिताना चाहती है। इस उपन्यास में लेखिका अपर वर्ग के पुरूष का नश्तर सदृश्य क्रूरताएं व घड़ियालू आँसू का चित्रण किया है जो धन के बल पर बहला फुसलाकर गरीब वर्ग की मंजरी से शादी रचा लेता है। परन्तु इस प्रकार का वैवाहिक सम्बन्ध बहुत कम टिकाऊ होता है क्योंकि उसका आधार प्रेम ना होकर डर व मजबूरी होती है। विवाह के बाद इस बात को मंजरी भली भांति समझ जाती है। वह कहती है–'' बाईस की मैं भले ही तलवार नहीं उठा पायी थी, लेकिन यह अच्छी तरह समझ गयी थी कि हमारे यहाँ एक आम वैवाहिक जिन्दगी के बंधन को जो चीज टिकाऊ बनाती है, वह परस्पर प्रेम, आदर की भावना नहीं, अवसर सिर्फ महमहाते डर की एक गाँठ होती है। अकेलेपन का डर, लोक निन्दा का डर भविष्य में फिर–फिर गलती दोहराने का डर।''[14]

मृणाल पाण्डे ने वर्तमान समय में बाल विवाह के बने रहने एवं उससे जुड़ी समस्याओं को भी उजागर किया। पटरंगपुर ''उपन्यास की आमा व उसकी बेटी सुनैना का विवाह बाल्यावस्था में ही हो जाता है। मिठाई की शौकिन आमा को जब मायके वाले मिठाई भेजते तो सास ताना मारते हुए उसे छिपा देती। आमा बताती है ''मिठाई लौटाई नहीं कभी भी उनकी सास चंपा बहू ने पिटारे में च्याम्प के धर देने वाली हुई। आमा और उसके देवर चनिका दिन में, उसके सो जाने पर चाबी उड़ा के भगाभक खाने वाले हुए। आहो बच्चे ही तो ठहरे, दोनों दस की ये हुई, आठ के चनिका ठहरे।''[15] रूढ़ परंपराओं में पली, बढ़ी आमा अपने जीवन से सीख नहीं लेती बल्कि अपने बेटी का भी विवाह कम उम्र में ही करवा देती है जबकि उनकी बेटी सुनैना पढ़ने में बहुत तेज थी और वह पढ़ना चाहती थी। इस प्रकार रूढ़ मानसिकता ने सुनैना की पढ़ाई पर अंकुश लगा दिया और उसका शौक धरा का धरा ही रह गया। रिक्ति कहानी में भी सुलभा की मां का विवाह सामाजिक परिस्थितियों के कारण पढ़ाई रोककर छोटी उम्र में ही कर दिया जाता है। इस बात का दुख उसके मन में आजीवन बना रहता है।

हमारे देश में लड़कियां ब्याह नहीं करती बल्कि ब्याही जाती हैं। विवाह भारतीय परिपेक्ष में ही नहीं, विश्व परिपेक्ष में स्त्री की अनिवार्य नियति रहीं है। जीवन में स्थिति बदलने का एक भाग अवसर भी, किंतु इस अवसर के उपभोग का चयन का अधिकार स्त्री के पास नहीं। आजादी के पूर्व ही इस स्थिति में परिवर्तन आने लगा था, स्वतंत्रता के बाद से संविधान द्वारा प्रदत्त विशेष विवाह अधिनियम 1954 के द्वारा विवाह के संबंध में स्त्री को स्वयं निर्णय करने का अधिकार प्राप्त हुआ। इस प्रकार बदलते परिवेश में स्त्री के निर्णय में उसका स्वछंदता वादी दृष्टिकोण दिखाई देता है। स्त्री अपनी दृष्टिकोण, अपनी सोच, अपने परिवेश को महत्व देने लगी है यही कारण है कि वह वैवाहिक जीवन के प्रति कटुता, विषमता में प्रभावित हो रही है। पर्याप्त युवतियां विवाह को आवश्यक नहीं मानती, वह अविवाहित रहकर भी जीवन व्यतीत करने में कटिबद्धता बना दिखाई देती हैं। विवाह का विरोध करते हुए 'हमका दियो परदेश' उपन्यास मौसी अपनी मां से कहती हैं– ''कोई जरूरी नहीं है। हम लोग क्या'' खरगोश हैं ? हमारी हेडमिस्ट्रेस को देखो, उन्हें तो पति या बच्चे की कोई जरूरत नहीं है। मजे में रहती है।''[16]

पटरंगपुर उपन्यास की सावित्री पढ़ी लिखी–विद्वान महिला है जो विवाह न करने नौकरी करती है। एक तरफ गांव वाले उस पर गर्व करते हैं तो दूसरी तरफ उसके भाग्य को कोसने से नहीं चूकते। किंतु विवाह न करना उसका सबसे बड़ा दुर्भाग्य है। उसके संबंध में गांव वाले कहते हैं ''अहा सावित्री की मांग में सिंदूर पड़ जाता तो अच्छा'' होता, पर अब जो क्या करेगी शादी ब्याह ? भाग ठहरा, और क्या ? लेडीज टेलर कहानी की सुमनलता अपने सात बहनों में सबसे छोटी है, उसे अपने पिता की देखभाल व घर की जिम्मेदारी को निभाने के लिए मजबूरन अविवाहित रहना पड़ता है। उसके संबंध में लोग बात करते हुए कहते हैं–''उसके बाप को फिलीज हो गया–मां पहले से ही सुरपुर चली गई थी, बहने ससुराल वाली हुई। सो मास्टरनी बिचारी स्कूल से पहले भी बूढ़े की तीमारदारी करती वापस आकर भी। छुट्टी के दिन भी उसकी छुट्टी नहीं। न पिकनिक, न सिनेमा। गुम्म सी हो गई थी वह।..... एक दिन खबर हुई कि एक अधेड़ मेडिकल रिप्रेजेंटेटिव अक्सर मास्टरनी जी के घर देर गए बैठने लगा था इधर मुंह मारने से बाज जो क्या आने.....वाली हुई ?''[17]

मृणाल पांडे अपने साहित्य में अधिकांशतः अपने देश के शिक्षित वर्ग को ही प्रेम विवाह में चित्रित किया है। उनका संबंध न केवल अपने देश के विपरीत जाति व धर्म बल्कि अंतर्राष्टग्रीय स्तर के जन समुदाय के बीच में बना है। मृणाल ने प्रेम विवाह से जुड़ी उन सभी समस्याओं को उठाया है जो समाज में व्याप्त जड़ता, प्रगतिहीनता एवं अमानवीयता से उपजती है और अपने परिवार के लिए कष्ट का कारण बनती है। आज स्त्रियां परंपरागत मार्ग को त्याग कर आधुनिकता को अपना रही हैं अतः उनका सक्रिय होना स्वाभाविक है।

'दोपहर की मौत' कहानी में भारतीय संस्कृति में पला बढ़ा राघव नौकरी के लिए विदेश जाता है। वहां एक विलायती लड़की जेनी के संपर्क में आकर उससे विवाह करने का फैसला करता है। अपना फैसला पत्र के माध्यम से अपने माता–पिता को बताता है। माता–पिता द्वारा इंकार करने पर भी वह उसी विलायती लड़की से शादी कर लेता है। परंतु वह अपने माता पिता का ख्याल करता रहता

है। दुर्भाग्यवश कार दुर्घटना में उसकी मौत हो जाती है। यहाँ माता–पिता उसके द्वारा किए गए कार्यों और लाए गए सामान को देखकर बेहाल हो जाते हैं। विलायती बहू होने के कारण उसका यहां आना संभव नहीं था। यह दुख को और बढ़ा देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दूर जाकर प्रेम विवाह करके जीवन चलाने के दौरान यदि कोई दुर्घटना हो जाती है तो उसके संबंधित माता–पिता का जीवन नरक हो जाता है।

मृणाल पांडे के साहित्य में चित्रित प्रेम विवाह अधिकांशतः असफल ही नजर आते हैं। प्रेम विवाह पाश्चात्य संस्कृति की देन है। पाश्चात्य संस्कृति में पहले प्रेम किया जाता है बाद में विवाह करके सांसारिक प्रेम स्थापित किया जाता है। भारतीय संस्कृति में विवाह पूर्व प्रेम को अपराध समझा जाता है। घर के बुजुर्ग प्रेम विवाह का प्रायः विरोध करते हैं। उन्हें लगता है कि समाज में प्रतिष्ठा धूमिल होगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विवाह संस्था में अनेक धार्मिक एवं रूढ़ परंपरा व्याप्त है। इसका अधिकांश भाग नारी पर ही लागू होता है, मानो वह रूढ़ तत्व है। उसके मन में समाज के प्रति असंतोष है। शोषक के प्रति उनकी अभिव्यक्ति मुखर हो रही है। आज के परिवर्तित होते समाज में नारी वैवाहिक जीवन से उत्पन्न होने वाली घटनाओं को सहन करने के लिए तैयार नहीं है। वह शिक्षित हो रही है इसलिए वह पारंपरिक मूल्यों के अनुसार अपना जीवन व्यतीत नहीं करना चाहती है। वह अपने जीवन में जय–पराजय–, राग–विराग, आशा–आकांक्षा, वेदना–संवेदना, पीड़ा–प्रताड़ना को महसूस करती है। इन सब को भोगते हुए उनमें जीवन संघर्षों से जूझने की जिजीविषा व जीवटता है। मृणाल पांडे अपने साहित्य में दो सभ्यताओं एवं संस्कृतियों से जूझते हुए न केवल प्रवासी भारतीय बल्कि विदेशी चरित्रों के जीवन में आए उतार–चढ़ाव, अकेलापन, घुटन, निरीहता एवं विखंडन को दर्शाया है। उनका नारीवादी दृष्टिकोण देश से परदेश तक फैला है।

मृणाल पांडे के साहित्य में प्रेम त्रिकोण बहुत ही देखने को मिलता है। उनके उपन्यास अपनी गवाही पटरंगपुर पुराण एवं सहेला रे में प्रेम त्रिकोण थोड़ी से अंशों में दृष्टिगोचर होता है। 'अपनी गवाही' उपन्यास में प्रेम त्रिकोण जे पी, कृष्णन एवं मेहर के मध्य चित्रित किया गया है। जेपी स्थिर स्वभाव वाला इमानदार हिंदी पत्रकार था जबकि कृष्णन धूर्त, चापलूस सत्ता की पकड़ में बाधा डालने वाले को मटियामेट करने वाला अंग्रेजी पत्रकार था। मेहर भी पत्रकारिता के क्षेत्र में काम करने आती है। दोनों मेंहर के प्रेम को पाने के अभिलाषी हैं। दोनों अपने स्वभाव के अनुसार उसे पाने का प्रयास करते हैं। इसके संबंध में मृणाल पांडे लिखती हैं–''मेहर एक सुंदर पारसी लड़की थी, तेज तर्रार और ऊँचे दिमाग वाली। वह हिंदी में एक भी शब्द नहीं बोल सकती थी लेकिन उसे मालूम था कि मर्दों को कैसे रिझाया जाता है। कंपनी के सारे मर्द उसके पीछे–पीछे पील्लों की तरह खींचे चलते भी थे। जे पी और कृष्णन दोनों ने इस सुंदर महिला के प्रति जगी अपनी आदिम भावनाओं को कुछ समय के लिए तो दबाए रखा लेकिन जल्दी ही उसे लेकर वे दोनों एक–दूसरे की जान के दुश्मन बन गए। कुछ अंग्रेजी एडिटर विलेन के कहने पर हिंदी पत्रिकाओं में रंगीन पन्ने घटते जा रहे थे, विज्ञापन, राजस्व कम होता जा रहा था, और उधर हिंदी वाला हीरो असली बदला लेते हुए हिरोइन को लेकर सिसिल्स जा पहुंचा था। परंतु जे पी को नौकरी से निकाल दिया गया था, पर उसने इस हीरोइन से सिविल मैरिज कर ली। षड़यंत्रकारी विलेन का मुंह तो लटका ही, वह बूढ़ा, परजित और बुद्धू भी बना दिखने लगा।''[18] इस प्रकार हम देखते हैं कि दुराचारी रावण की तरह कृष्णन प्रेम को जीत नहीं पाया क्योंकि प्रेम वह नहीं जो जबरदस्ती इजहार किया जाए, प्रेम तो वह है जो महसूस किया जाए, प्रेम वह नहीं जो पाया जाए, प्रेम तो वह है जो जिया जाए।

पटरंगपुर पुराण उपन्यास में रामदज्जी परदेश में किसी नीच जाति की औरत के प्रेम में उलझ कर अपनी बेटी सहित पत्नी का त्याग कर देते हैं जिससे उनकी पत्नी पर दुखों का पहाड़ टूट पड़ता है। इस संबंध में आमा कहती है–''खस जाति की औरत की माया विद्या सनसनाता हुआ अग्निबाण की तरह रामदाज्जी के मर्म स्थल पर वैसे ही लगा जैसे लंका में लक्ष्मण को शक्ति, और वह ऐसे तिल मिलाकर उठ खड़े हुए जैसे उनका मरम विधं गया हो। बस, जो जाइ चला होगा इस औरत का उन पर कि उसी घड़ी से वह और वह खस्याणी, वह खस्याणी और वह । कहां का घर–धाम, कहां की पुरोहिती ? गरीब लक्ष्मी की इजा के लिए न ससुराल जाने जैसा, न घर रहने जैसा।''[19] इस प्रकार की

घटनाएं समाज में होती रहती हैं जिसके कारण समाज में नारी की स्थिति दयनीय हो जाती है और शेष जीवन अधर में पड़ जाता है। वह इसे या तो अपनी नियति मानकर जीवन व्यतीत करती है या दूसरे जीवन पथ की तलाश करती है।

'सहेला रे' उपन्यास में धराला गांव को दो–दो सुंदरी वादी गायिकाओं गुलाब और हीरा और जंगलात के हाकिम एडी हीवेट के त्रिकोणीय प्रेम की कथा का चित्रण किया गया है। अपने पति से परित्यक्ता गुलाब अपने भतीजी सहित हिवेट को भा गई। हिवेट अपनी ताकत का इश्तेमाल करते हुए पहले गुलाब से शादी किया परंतु गुलाब हिवेट के घर जाने के साल भर के भीतर ही प्रसूत बिगड़ने से चल बसी। हिवेट साहब के मन–दर्पण में उसकी सुंदर कम उम्र का भतीजी हिरा भी बसी थी। उससे शादी करने का इरादा उसके लालची बाप नत्थू से कहवाया। उससे शादी के संबंध में मृणाल पांडे लिखती हैं–''नत्थू की शर्तों को पूरा करने के बाद ''हिवेट ने रानीखेत के गिरजाघर से पहले हिरूली का धर्मांतरण करवाया और पादरी ने जब हीरा को विक्टोरिया मशीह नाम दे दिया तब वहीं गिरजाघर में हिवेट साहिब ने उससे बकायदा शादी कर ली''[20]

मृणाल पांडे के विवरणों से स्पष्ट होता है कि हीरा और उसके परिवार का साथ अंग्रेज हिवेट ने तो दिया पर हीरा के भाई ने धन के लालच में अपने कुटिल चालों में फंसाकर हिवेट को मार डाला और वसीयत के कागजात लेकर कोलकाता भागा। साहिब की दस्तखतवाली की नकली–असली चिट्ठी के आधार पर सरकार हिवेट का सारा धन गुलाब के बेटे नथानियल को देना मंजूर किया और वारिस बनाया मामा को। हीरा की दुहाई पर जाति पंचायत भी बैठी–''पंचो से बाप ने कहा वह बुढ़ापे में विधर्मी मां–बेटी की और उनकी अंग्रेजी पढ़ाई–लिखाई का खर्चा जिम्मेदारी नहीं उठा सकता। मकान अब उसकी बहन के लड़के का हुआ जो फिरंगी बाप की नहीं किसी बादी की औलाद है और उसको पेट में लेकर ही गुलाब मायके लौटी थी।''[21]

'शरण की ओर' कहानी में भी उमी, विजया एवं पालित के मध्य प्रेम त्रिकोण की झलक मिलती है। उमि से परित्यक्त होने के बाद पालित, विजया की तरफ आकर्षित होता है ''हूँ'' विजया ने डाली की ओर निगाह फेरी। डाली ने करवट नहीं बदली। झिझकते स्वर–में ''देख, विजू डोंट गेट अटैच्ड.... पालित हमेशा अंततः उमी के पास ही जाएगा। वह तो तुम्हारे माध्यम से उमी से बदला लेना चाहता है। बस, विलीभ मी.....इससे अंत में तुमको ही चोट लगेगी।''[22]

'आओ गुड़िया से खेलें: ''एक हारर शो में प्रेम त्रिकोण में उलझे आरिफ, तौफीक विशेषता गुड़िया की त्रिकोणात्मक त्रासदी पूर्ण जीवन चित्रित किया गया है। दोनों के बीच फंसी गुड़िया जब पेट से हो जाती है तो उसका जीवन अत्यंत खराब हो जाता है। ''अधिक से अधिक दर्शकों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए प्रतिस्पर्धी चैनल जी से एनडीटीवी तथा आज तक ने इस प्रेम त्रिकोण समस्या को उनके घरों के भीतर से उठाकर उनकी तमाम अनकही बेदना और घुटन समेत राष्ट्रव्यापी सूचना राजपथ के चौरास्ते पर ले आए। इससे तीनों लोगों की निजता, उनकी अंतर्मन की नाजुक मानवीय भावनाओं की एक तरफ अपूरणीय क्षति हुई तो दूसरी तरफ चौथे का भी, जिसे अभी इस दुनिया में आना है, जीवन पर पेचींदा हो गया।''[23]

इस प्रकार हम देखते हैं प्रेम त्रिकोण एक षड़यंत्र है जिसमें एक आलंबन पक्ष तथा दो आश्रय पक्ष होते हैं। इसमें उलझ कर व्यक्ति का जीवन तबाह और बर्बाद हो जाता है।

संदर्भ :

1. डा0 नगेन्द्र हरदयाल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0सं0–479
2. पाण्डे मृणाल, स्त्री देह की राजनीति से देश की राजनीति तक पृ0सं0–28
3. वही पृ0सं0–28
4. पाण्डे मृणाल, विरूद्ध उपन्यास पृ0सं0–87
5. पाण्डे मृणाल, देवी उपन्यास पृ0सं0–103

6. पाण्डे मृणाल, सहेला रे उपन्यास पृ0सं0–97
7. पाण्डे मृणाल, हिमुली हिरामणी की कथा पृ0सं0–50
8. दूबे कपिलदेव, भारतेन्दु के गद्य साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन पृ0सं0–72
9. मुखर्जी रविन्द्रनाथ भारतीय सामाजिक संस्थायें पृ0सं0–358
10. पाण्डे मृणाल, यानी कि एक बात थी पृ0सं0–118
11. वही पृ0सं0–115
12. पाण्डे मृणाल, यानी कि एक बात थी पृ0सं0–161
13. वही पृ0सं0–164
14. पाण्डे मृणाल, रास्ते पर भटकते हुए उपन्यास पृ0सं0–32
15. पाण्डे मृणाल, पटरंगपुर पुराण उपन्यास पृ0सं0–41
16. पाण्डे मृणाल, हमका दियो परदेश उपन्यास पृ0सं0–94
17. पाण्डे मृणाल, बचुली चौकीदारिन की कढ़ी पृ0सं0–194
18. पाण्डे मृणाल, अपनी गवाही उपन्यास पृ0सं0–80
19. पाण्डे मृणाल, पटरंगपुर पुराण उपन्यास पृ0सं0–14
20. पाण्डे मृणाल, सहेला रे उपन्यास पृ0सं0–74
21. वही पृ0सं0–74
22. पाण्डे मृणाल, यानी की एक बात थी पृ0सं0–55
23. पाण्डे मृणाल, जहाँ औरते गढ़ी जाती हैं पृ0सं0–130

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

नयी कविता का अर्थ और उसका काल

डॉ0 सुरेन्द्र पाण्डेय
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, कूबा पी0जी0 कॉलेज,
दरियापुर, नेवादा, आजमगढ़

'परिवेश' 'काल' के खण्ड–विशेष को कहते हैं। परिवेश शब्द का मूलतः विवेचन इतिहास सम्मत है, लेकिन साहित्य का सम्बन्ध भी इतिहास से अछूता नहीं है। इतिहास के आलोक में मानव जगत की समग्रता को व्यक्त करना ही साहित्यिक परिवेश है। परिवेश बदलते हुए समय का साक्षात्कार है। साहित्य का रचनाकाल इतिहास की काल–सीमा के समानान्तर चलता है। साहित्य और इतिहास दोनों परिवर्तन वैविध्य या विकास यात्रा के साक्षी होते हैं। इस यात्रा में युगीन पाठकों की रुचि भी सम्मिलित होती है। हिन्दी साहित्य के इतिहास काल में प्रत्येक काल का अपना एक परिवेश रहा और कवियों का समूह भी प्रवृत्ति–विशेष के आधार में ढल कर काव्य रचना करता रहा।

सामान्यतः किसी भी काव्य प्रवृत्ति के उद्‌गम को निश्चित तिथि से नहीं बांधा जा सकता है, किन्तु साहित्येतिहासकार काव्यधारा विशेष की परम्परा पर विचार करते हुए भी उसके प्रवर्तनकाल के निर्धारण से विमुख नहीं होते हैं। आधुनिक हिन्दी काव्य के विकास क्रम के विवेचक छायावाद प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के पश्चात् 'नयी कविता' का नाम लेते हैं, लेकिन स्पष्ट है कि सभी युग का अपना परिवेश है। स्वतन्त्रता – प्राप्ति के बाद मानसिक तौर पर विभिन्न बदलावों के साक्षी हिन्दी प्रदेश की युवा शक्ति के साहित्यिक विद्रोह को मूर्त करने वाली नवीन रचनात्मकता के प्रति समीक्षकों ने अनेक भ्रान्त धारणायें प्रचारित कर रखी है।

हिन्दी साहित्य में नई कविता के प्रादुर्भाव से पहले पूर्ववर्ती काव्य–धाराओं छायावाद और प्रगतिवाद का अवसान हो चुका था प्रयोगवादी काव्यधारा मुख्य काव्य धारा के रूप में प्रवाहमान थी। ऐसा नहीं है कि इस समय छायावादी और प्रगतिवादी रचनायें नहीं हो रही थी। रचनाएँ तो छायावादी और प्रगतिवादी ढंग की अब भी हो रही थी, किन्तु अब छायावाद और प्रगतिवाद मुख्य काव्यधारा नहीं रह गए थे। साहित्य की मुख्य प्रवृत्ति के रूप में अब छायावाद और प्रगतिवाद के स्थान पर प्रयोगवाद ही मुख्य काव्यधारा के रूप में प्रवाहमान थी, जो आगे चलकर नयी कविता के रूप में पर्यवसित हो गया। अब हम नयी कविता के पूर्ववर्ती काव्य विशेषतः छायावाद के परिवेश को व्याख्यायित कर रही हूँ।

छायावाद :

छायावाद विशेष रूप से हिन्दी साहित्य के रोमाण्टिक उत्थान का वह परिवेश है जो लगभग सन् 1918 से 1936 अर्थात् उच्छवास से युगान्त तक की प्रमुख वाणी रही जिसमें प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी इत्यादि मुख्य कवि हुए और सामान्य रूप से भावोच्छवास प्रेरित स्वच्छन्द कल्पना वैभव की वह स्वच्छन्द प्रवृत्ति है जो देश काल गत वैशिष्ट्य के साथ संसार की सभी जातियों के विभिन्न उत्थानशील युगों की आशा–आकांक्षा में निरन्तर व्यक्त होती रही है। स्वच्छन्दता की उस सामान्य भाव धारा की विशेष अभिव्यक्ति का नाम हिन्दी साहित्य में छायावाद पड़ा। यह काव्यधारा 1918 ई0 के आस–पास द्विवेदी युगीन नीरस, उपदेशात्मक इतिवृत्तात्मक और स्थूल आदर्शवादी काव्यधारा के बीच से प्रमुखतः रीतिकालीन काव्य प्रवृत्तियों के विरुद्ध विद्रोह के रूप में प्रवाहित हुई। यह नई काव्य–धारा अंग्रेजी के रोमाण्टिक कवियों तथा बंगला के कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की काव्यधारा के ढंग या उससे प्रभावित थी।

छायावाद में पिछले युगों की नितान्त वस्तुपरकता के प्रति गहरा विद्रोह छिपा था और अपने व्यक्तित्व की स्वी.ति के लिए खुला ऐलान थी और इस प्रतिक्रिया में उसकी अपनी वैयक्तिकता अपनी अन्तर्मुखी हो गयी कि कवि वस्तु जगत की नितान्त अवहेलना करके स्वप्नों और आशा के रंगीन चित्रों में अपने को भटकाता रहा। ऐसी दशा में जीवन के सत्य से साक्षात्कार न कर वह कल्पनाशील बन गया था। निश्चय ही, छायावाद की यह स्थिति बहुत दिनों तक सम्भव नहीं थी। जीवन की अस्वीकृतियों को गौरवान्वित करके, मानसिक कुण्ठाओं को छिपाकर कल्पना लोक के छायाभास और रहस्याभाव–वैभव में अपने आपको भुलाए रहना अधिक सम्भव नहीं था और सामाजिक भावनाओं के लिए अज्ञात अशरीरी आलम्बन का रहस्यात्मक आधार भी अधिक टिकाऊ सिद्ध नहीं हो सका। परिणामस्वरूप काव्य में एक नया मोड़ स्वाभाविक था। इस नए काव्य के काव्य को भावजगत् के काल्पनिक कुहासे से निकाल कर जीवन की वास्तविकता तथा यथार्थ का दिग्दर्शन कराया। सन् 1936ई0 के आस–पास उसके पुरोधााओं ने ही उसके रश्मिबन्ध तोड़ डाले और जीवन के यथार्थ से कविता का साक्षात्कार

कराया। आधुनिक कवि की भूमिका में पन्त ने लिखा –''छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा, क्योंकि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाश नवीन भावना का सौन्दर्यबोध और नवीन विचारों का रस नहीं था, वह काव्य न रहकर केवल अलंकृत संगीत बन गया।''

सचमुच 1936 ई0 तक आते–आते छायावाद युगीन परिवेश और यथार्थ के साथ गति मिलाने में असमर्थ हो गया। यह हमारी नयी समस्याओं और परिस्थितियों के प्रति संवेदनशील नहीं हो सका। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने ठीक ही कहा – ''छायावाद की असामयिक मृत्यु का एक प्रमुख कारण यह है कि उसमें जीवन से सम्बन्धित किसी रचनात्मक दृष्टिकोण का अभाव था। द्वितीय महायुद्ध के घुटन के दौरान छायावाद–रहस्यवाद के गीत अर्थहीन हो गए थे। छायावाद जीवन के उन तत्त्वों को आत्मसात नहीं कर सका जिनके कारण कोई भी साहित्य अधिक स्थायी हो पाता है जिन सूक्ष्म तन्तुओं से उसका निर्माण हुआ था वे संघर्षों के कठोर युग के उपयुक्त न थे। छायावाद वह रेशम था जिससे युद्ध तथा संकट के दिनों में सिपाहियों की वर्दी नहीं बन सकती थी।''

इसी बीच 1936ई0 तक आते–आते सज्जाद जहीर और मुल्कराज आनन्द के सहयोग से 'भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना हुई। शिवदान सिंह चौहान ने सन् 1937 के मार्च के 'विशाल भारत' में 'प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' शीर्षक लेख लिखा, जिसमें हिन्दी कवियों एवं लेखकों को उन्होनें ललकारा ''हमारा साहित्यिक नारा कला कला के लिए नहीं वरन् कला संसार को बदलने के लिए है। इस नारे को बुलन्द करना प्रत्येक प्रगतिशील साहित्यकार का फर्ज है।'' अब छायावादियों के पैर डगमगाए। सामने कई सैद्धान्तिक प्रश्न आ खड़े हुए, साहित्य किसलिए? स्वयं के लिए या दूसरों के लिए? साहित्य का अन्तिम प्रयोजन क्या है– आत्मतुष्टि या समाज कल्याण? इन सारे प्रश्नों ने छायावादी कवियों को भी आत्म अन्वेषण के लिए बाध्य किया। इस समय तक आते–आते छायावादी प्रवृत्तियाँ प्रायः ह्रासोन्मुखी हो चुकी थी। 1935–36ई0 तक आते–आते छायावाद वही नहीं रह गया जो 1916 या 1918 में था। प्रकृति प्रेम से जिसका आरम्भ हुआ था, अन्त तक जाते–जाते उसके प्रेम का प्रसार मानव–जीवन तक हो गया, जिस निराला ने 'जूही की कली' के साथ 'केलि' से काव्य आरम्भ किया था आगे चलकर 1935 तक जाते–जाते तुलसीदास की रत्नावली से मुक्त होकर देश के काल की चिन्ता करने निकल पड़े। जो प्रसाद पहले 'आँसू' में ही डूबे रहे, उन्हीं को कुछ ही वर्षों बाद 'आँसू' के द्वितीय संस्करण में अपनी पीड़ा को मंगलमयी ज्योति का रूप देना पड़ा। उन्होनें अपने आँसूओं को विश्व के आँसूओं से मिला दिया और मंगलकामना की। निजी आँसुओं के 'निहार' में वन्दिनी रहने वाली महादेवी ने रश्मि के आलोक में जीवन की व्याप्ति का दर्शन किया और प्रखर ताप को झेलते हयु सान्धक्षणों तक जाते–जाते समाजव्यापी दुख की अनुभूति करने लगी।'' इस प्रकार छायावादी कवि भी युग की माँग के अनुसार प्रगतिवादी रचना करने लगे। पन्त ने छायावाद का युगान्त घोषित किया प्रगतिवाद को युगवाणी के रूप में तुरन्त अपना लिया। देर–सवेर निराला और महादेवी ने भी अपनी–अपनी सीमाओं में इसे स्वीकार किया। इसके फलस्वरूप कविता में पहली बार किसानों–विशेषतः मजूरों के गन्दे पैरों की धूल दिखायी पड़ी।

प्रगतिवाद :

प्रगतिवाद का आन्दोलन सामाजिक यथार्थवाद के नाम पर चलाया गया वह आन्दोलन था, जिसमें जीवन और यथार्थ के वस्तु–सत्य को उत्तर छायावाद काल में प्रश्रय मिला और जिसने सर्वप्रथम यथार्थवाद की ओर समस्त साहित्यिक चेतना को अगसर होने की प्रेरणा दी, किन्तु प्रगतिवाद ने यथार्थ को सीमित और संकुचित परिधि में ही देखा, वह भी अपने रंगीन चश्में से। एक राजनीतिक मन्तव्य के प्रचार मात्र का साधन बन इसने संकीर्णता का परिचय दिया। प्रगतिवादियों की दृष्टि एकांगी हो गयी। काव्य के नाम पर स्थूल इतिवृत्त और उपदेश का सर्जन होने लगा। इस तरह प्रगतिवादी कविता अपने आप में रूढ़ होने लगी और उसकी विषयवस्तु एक सीमित परिधि के भीतर चक्कर काटने लगी। प्रगतिवादी विशुद्ध रूप में मार्क्सवाद की गोद में जा बैठा और उसका उद्देश्य साहित्य न होकर रह गया। प्रगतिवाद मानव–मूल्यों के स्थान पर वर्गमूल्यों की चर्चा में व्यस्त हो गया। यही नहीं, मानव – मूल्यों की उपेक्षा करके प्रगतिवाद ने वर्ग–मूल्यों को स्थापित करने की चेष्टा की और यह देखने का प्रयास ही नही किया कि कला और कविता के क्षेत्र में इन तत्त्वों से परे भी कोई मूल्य है, जो काव्य के गुण और दोष निर्धारित करते हैं। काव्य के मूल तत्त्व हट जाने के कारण उनकी दृष्टि साम्प्रदायिक बनकर रह गयी और यहाँ तक की नव यथार्थ की पद्चाप उन्हें सुनायी ही न दी। उनकी यथार्थ के प्रति जो दृष्टि थी, उसका विवेचन करते हुए लक्ष्मीकान्त वर्मा ने लिखा– ''यथार्थ के प्रति उनकी दृष्टि क्या थी, यह तो उस समय और भी स्पष्ट हो जाता है जब केवल उसे नीति के रूप में मार्क्सवादी विचारधारा अथवा कम्युनिज्म को स्थापित करने में प्रयुक्त करते हैं। यथार्थ और मानव–विशिष्टता दो तत्त्व के रूप में उन्हें स्वीकार नहीं होते, उनके सामने तो कम्यूनिस्ट नीति और उसके साथ यथार्थ की उपयोगिता (विशेषकर उस नीति को स्थापित करते के लिये) की ही समस्या प्रमुख है।'' विषय वस्तु को इतना एकांगी और सीमित बना देने के फलस्वरूप प्रगतिवादी साहित्य जीवन की मूलधारा से ही विच्छिन्न हो गया और उसकी अपनी ही भूमि से प्रयोगवादी कविता के अंकुर फूट पड़े।

प्रयोगवाद :

हिन्दी साहित्य में प्रयोगवाद का जन्म एक विशेष परिस्थिति में हुआ। प्रयोगवाद या प्रयोग की आवश्यकता साहित्य मे उस समय होती है जब कविता की प्रेषणीयता इतनी अभिधापूर्ण हो जाती है कि उसमें कोई रस–विशेष नहीं मिल पाता अथवा कोई रागात्मक सहानुभूति नहीं मिल पाती। प्रयोग की सार्थकता सदैव इसमें ही निहित रहती है कि कवि एक रूढ़ि को त्यागकर नए स्तर पर रागात्मक सम्बन्धों को ढूँढता है और यह प्रयास करता है कि वे माध्यम जो अपनी प्रेषणीयता नष्ट कर चुके है अथवा जो अत्यधिक अभिधात्मक हो गए हैं, उनके अतिरिक्त माध्यमों को स्थापित करें। हिन्दी में इस विशिष्ट विचारधारा के जन्म के कुछ कारण थे।

छायावाद नवीन भावनाओं का अभिव्यक्त करने में असमर्थ हो गया था और प्रगतिवाद की अतिशय सामाजिकता ने व्यक्ति को एकदम निरर्थक बना दिया था, इतना ही नहीं प्रगतिवाद अपनी अतिशयता में नारेबाजी और मार्क्सवादी दृष्टि का पर्याय बनकर रह गया था। छायावाद और प्रगतिवाद जब नयी भावभूमि को वाणी देने में असमर्थ प्रतीत होने लगे तक प्रयोगवाद युग की अनिवार्य चेतना के रूप में काव्य में उद्‌भूत हुआ।

'तारसप्तक' के प्रकाशन काल (1943ई0) से प्रयोगवाद की शुरुआत मानी जाती है। यद्यपि 'प्रयोगवाद' नाम से 'तारसप्तक' के सम्पादक अज्ञेय सहमत नहीं थे और उन्होनें दूसरे सप्तक (1951 ई0) की भूमिका में इसका विरोध भी किया है– ''प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे, नही है। न प्रयोग अपने आप में ईष्ट या साध्य है। अतः प्रयोगवादी कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना हमें कवितावादी कहना।'' परन्तु जिस प्रकार छायावदियों के न चाहने पर भी 'छायावाद' संज्ञा निरर्थक होकर भी हिन्दी पाठकों के बीच प्रचलित हो गयी उसी प्रकार 'प्रयोगवाद' नाम भी चल पड़ा।

इन कवियों के सम्मुख वर्तमान युग की जटिल संवेदनाएँ थी। सम्पूर्ण जीवन तेजी से बदल रहा था, मशीनी सभ्यता और संस्कृति में पल्लवित होने वाला समाज अपने पूर्व समाज से सर्वथा भिन्न था। प्रगतिवाद तक आते–आते युग का दृष्टिकोण यथार्थमूलक मात्र हो सका वैज्ञानिक नहीं। निसन्देह आज के वैज्ञानिक युग में पूरा ताना–बाना उलट–पलट गया है। मानवीय सम्बन्ध मानव – मूल्य पहले की अपेक्षा अधिक जटिल, संकुल और अस्त–व्यस्त है। ऐसी स्थिति में एक नए साहित्य की आवश्यकता महसूस हुई। प्रयोगवाद अपने समर्थन में यह नहीं कहता कि उसका अभीष्ट एवं सिद्धि प्रयोगमात्र है, बल्कि उसका आग्रह है कि प्रयोग के माध्यम से ही आज की जटिल एवं अस्त–व्यस्त संवेदना की अभिव्यक्ति हो सकती है। प्रयोगशीलता की मूलप्रेरणा के सम्बन्ध में अज्ञेय ने कहा कि– ''जो व्यक्ति का अनुभूत है, उसे समष्टि तक कैसे उसकी सम्पूर्णता में पहुंचाया जाय यह पहली समस्या है, जो प्रयोगशीलता को ललकारती है, क्योंकि कवि यह अनुभव करता है कि भाषा का पुराना व्यापकत्व नहीं है।''

चूंकि छायावाद भाषा नवीन भाव–बोध को अभिव्यक्त करने में सक्षम नहीं रह गयी थी, इसलिए प्रयोगवाद में बार–बार इस बात को लेकर पर्याप्त बहस हुई है। प्रयोगवादी कवियों को इस बात चिन्ता थी कि भाषा असमर्थ हो गयी है उपमान बासी पड़ गए है और मैले हो गए हैं। अतः शब्दों में नया अर्थ भरना है। इसी के साथ सम्प्रेषण का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। अज्ञेय ने इस प्रश्न पर विचार करते हुए कहा है कवि क्रमशः अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रों में प्रयोग हुए है उनसे आगे बढ़कर अब उन क्षेत्रों का अन्वेषण करना चाहिए जिन्हें अभी तक छुआ नही गया, या जिनको अभेद्य मान लिया गया है। भाषा को अपर्याप्त पाकर विराम संकेतों से अंकों और सीधी–तिरछी लकीरों से छोटे–बड़े टाइप से सीधे या उल्टे अक्षरों से लोगों एवं स्थानों के नामों से अधूरे वाक्यों से सभी प्रकार के इतर साधनों से कवि उद्योग करने लगाता कि अपनी उलझी हुई संवेदना की सृष्टि को पाठकों तक अक्षुण पहुंचा सके। पूरी सफलता उसे नहीं मिली जहाँ वह पाठक के विचार सूत्रों को नहीं छू सका, वहाँ से उसे पागल प्रलापी समझा गया या अर्थ का अनर्थ पा लिया गया। बहुत से लोग इस बात को भूल गए कि आधुनिक कवि जीवन की एक बहुत बड़ी समस्या का सामना कर रहा है – भाषा की क्रमशः संकुचित होती हुई सार्थकता की केंचुल फाड़कर उसमें नया, अधिक व्यापक अधिक सारगर्भित अर्थ भरना चाहता है।''

इस तरह से प्रयोगवाद कविता ने हिन्दी की अब तक की काव्य – वस्तु के क्षेत्र से आगे बढ़कर उसमें नयी क्रान्ति की है। जहाँ छायावादी काव्य – वस्तु सीमित थी और सौन्दर्य के एक ही पक्ष को ग्रहण करते हुए युग के यथार्थ से विमुख हो चली थी और प्रगतिवादी काव्य–वस्तु एक सीमित घेरे में बंधकर प्रचार मात्र का साधन बन कर रह गयी थी तथा जिसने समाज को अतिशय स्वीकृति देकर व्यक्ति को एकदम तिरस्कृत कर दिया था वहाँ प्रयोगवाद ने अपनी काव्य–वस्तु में व्यक्ति को अस्तित्व की प्रतिष्ठा कर नवीन युगीन यथार्थ को उसके सम्पूर्ण परिवेश के साथ स्वीकृत किया।

छठे दशक के प्रारम्भ के साथ ही प्रयोगवाद के अतिरिक्त उत्साह से मुक्ति पाकर हिन्दी कविता एक नयी दिशा में मुड़ी, जिसमें परम्परा को आत्मसात् करके स्वीकारने और स्वानुभूति की सघनता के दबाव में विवश

होकर सहज आत्माभिव्यक्ति करने की प्रवृत्ति प्रमुख थी। इसी को 'नयी कविता' कहा जाने लगा। नयी कविता के उन्मेष और वाद – रहित मानवीय जीवन–दृष्टि तथा विकसित एवं परिष्कृत सौन्दर्य बोध ने प्रयोगवाद की दुर्गति तक पहुँचाने या बिखर जाने से बचा लिया।

संदर्भ सूची :

1. आधुनिक कवि –2 भूमिका पन्त पृ. 17
2. हिन्दी नवलेखन रामस्वरूप चतुर्वेदी पृ. 15
3. छायावाद डॉ0 नामवर सिंह पृ. 137–138
4. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ डॉ0 नामवर सिंह पृ. 71–72
5. नयी कविता के प्रतिमान– लक्ष्मीकान्त वर्मा, पृ. 115
6. दूसरा सप्तक स0 अज्ञेय भूमिका
7. तारसप्तक सं0 अज्ञेय पृ0 27 प्रथम संस्करण
8. तारसप्तक सं. अज्ञेय पृ0 270–71 प्रथम संस्करण

ISSN : 23197137, Volume: 14/Issue: 01, July-December : 2021

स्त्री मुक्ति आंदोलन की अवधारणा : संदर्भ नासिरा शर्मा

नितिका सिंह
शोध छात्रा, हिन्दी
सहकारी पी0जी0 कॉलेज, मिहराँवा, जौनपुर

आधुनिक काल की समस्त प्रकार की अवधारणाओं में स्त्री मुक्ति नामक अवधारणा सर्वाधिक विवादास्पद एवं चर्चित अवधारणा है। स्त्री को चाहे हमारे समाजरूपी रथ का एक पहिया मानें या मानव जाति को मूल आधार मानें, यह तो निश्चित है कि स्त्री की पराधीनता, परतंत्रता सामाजिक व्यवस्था में एक अव्यवस्था और अराजकता को जन्म देती है। अतएव स्त्री जाति में स्वाभाविक रूप से पितृसत्ता या पुरुषसत्ता के निरंकुश एकाधिकार और अन्यायपूर्ण, भेदभावपूर्ण अनुशासन के प्रति विद्रोह ने जन्म लिया। ध्यातव्य हो कि इस विद्रोही भाव को कई पुरुष लेखकों, दार्शनिकों, विचारकों ने अपना आत्मीय समर्थन प्रदान किया है। निर्विवाद रूप से संपूर्ण वैश्विक क्षितिज पर मानवीय मूल्यों की रक्षा के संदर्भ में, मूल रूप से स्त्री जाति की मान, मर्यादा एवं मूल्यों की रक्षा के संदर्भ में स्त्री स्वतंत्रता को महनीय माना गया है।

स्त्री मुक्ति आंदोलन की मूल अवधारणा पुरुष नहीं अपितु पुरुष प्रधान संस्कारों व नियमों से मुक्ति प्राप्त करने की आकाँक्षा है। सदियों से चले आ रहे नियमों व कायदे–कानूनों का पालन करते–करते स्त्री अपने स्वत्व को अपने अस्तित्व को भूल चुकी थी। ''सीमोन विश्व की प्रत्येक संस्कृति में पाती है कि या तो स्त्री को देवी रूप में रखा गया या गुलाम की स्थिति में। अपनी इन स्थितियों को स्त्री ने सहर्ष स्वीकार किया, बल्कि वह अपनी बेटी–बहू या अन्य स्त्रियों के प्रति भी आत्मपीड़ाजनित द्वेष रखती आई। परिणामस्वरूप स्त्री की अधीनस्थता और बढ़ती गई।''[1] स्त्री मुक्ति के संदर्भ में जो समस्याएँ हैं, उनका समाधान करना ही स्त्री मुक्ति के संदर्भ में सच्चा प्रयास होगा। स्त्री मुक्ति के मार्ग में दो सबसे बड़ी बाधाएँ–आर्थिक स्वावलंबन तथा पारिवारिक व समाजिक व्यवस्था हैं।

स्त्री जाति जब तक आर्थिक रूप से स्वावलंबी नहीं होगी तब तक उसे पितृसत्तात्मक व्यवस्था से मुक्ति कदापि नहीं प्राप्त हो सकती, सर्वमान्य तथ्य है। आर्थिक रूप से स्वावलंबी होने का मुख्य आधार शिक्षा प्राप्ति है। शिक्षा से आत्मविश्वास प्राप्त होता है। शिक्षा अज्ञानता तथा अंधविश्वास से मुक्ति दिलाकर तार्किक ढंग से विचार करने योग्य बनाती है। इससे विवेक व बुद्धि का विकास होता है। शिक्षा प्राप्ति से स्त्री जाति का विकास होगा, समाज में उचित स्थान मिलेगा जो कि स्त्री जाति को सही मायने मुक्ति दिलाने में सहायक होगा। स्त्री जाति का शिक्षित होना हर दृष्टिकोण से अत्यंत आवश्यक है। यह संपूर्ण समाज के चहुँमुखी विकास में भी सहायक होगा। शिक्षा प्राप्ति के माध्यम से ही स्त्री जाति पुरुष जाति की बराबरी करने में सक्षम हो सकेगी। ''The upword progress of huminity is to be achieved only through education, and it the main fucntion of education is to be prepare man and women for the battle and the duties of life, it followers that every educational system must have its roots in the peculiar purpose it has to serve.''[2] स्त्री जाति शिक्षा प्राप्ति के माध्यम से आर्थिक रूप से स्वावलंबी होकर मुक्ति प्राप्त कर सकती है, निःसंदेह। इसमें संपूर्ण राष्ट्र एवं समाज की उन्नति निहित है। क्योंकि ''Women is born to be mother, a teacher the head of the family, and her education must be such as to fit her for these heavy fasks.''[3]

स्त्री मुक्ति के मार्ग में दूसरा सबसे बड़ा अवरोधक पारिवारिक व सामाजिक व्यवस्था है। पारिवारिक व सामाजिक व्यवस्था का मूल आधार वैवाहिक बंधन है और इसी अपरिहार्य व अनिवार्य बंधन के द्वारा पितृसत्तात्मक व्यवस्था, पुरुष प्रभुत्व को मान्यता मिलती है। वैवाहिक बंधन के कारण ही मुख्य रूप से स्त्री जाति पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ी है। विवाह की परंपरा के कारण ही पुरुष पति व पिता के पद को प्राप्त करता है, एक प्रकार की विशिष्टता अर्जित करता है और इस विशिष्टता को

अर्जित कर वह अपनी पत्नी और संतति हेतु नैतिक घेराबंदी कर पाने में सक्षम हो जाता है। स्त्री की दासता या अधीनता का जन्म यहीं से होता है। अतः कुछ विचारकों के द्वारा वैवाहिक संस्था के अस्तित्व पर समय–समय पर प्रश्नचिह्न खड़े किये जाते हैं, जो कि न ही पूर्ण रूप से सही है और न ही पूर्ण रूप से गलत। इस संदर्भ में प्रत्येक स्त्री को अपने बुद्धि और विवेक का इस्तेमाल करते हुये समय, देश, काल व परिस्थितियों के अनुसार निर्णय लेना चाहिये। वैवाहिक संस्था की उपादेयता को पूर्ण रूप से नकार देना, एक अतिवादी दृष्टिकोण ही माना जायेगा। स्त्री मुक्ति के नाम पर विवाह और परिवार नामक संस्था को पूर्ण रूप से अमान्य करार देना उच्छृंखलता की सीमा को लाँघने के बराबर है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि स्त्री जाति को विवाह व परिवार नामक संस्था की सीमाओं का आदर करते हुये स्वावलंबन को प्राप्त करना ही, स्त्री मुक्ति का परम आदर्श स्वरूप होगा। उक्त लक्ष्य की प्राप्ति में पुरुष जाति का सहयोग न्यायोचित और अपेक्षित है।

स्त्री जाति की स्थिति भारत में ही नहीं अपितु पूरे विश्व में आज भी बहुत अच्छी नहीं है। आज भी जब हम मंगल ग्रह पर पहुँच गये हैं तब भी स्त्री जाति की स्थिति में पूर्व से कोई ज्यादा अंतर नहीं दिखाई देता है। इस संदर्भ में अपवाद भले ही देखने को मिल जाये परन्तु नियमतः बहुत बदलाव नहीं हुआ है। अपवाद स्वरूप स्त्री जाति की कई महान विभूतियों का उल्लेख किया जा सकता है किन्तु यदि संपूर्ण स्त्री जाति के संदर्भ में बात की जाये तो स्थिति दयनीय और सोचनीय आज भी है। सीमोन के अनुसार– ''पश्चिम में भी औरत देवी है, शक्ति रूप है, लेकिन व्यवहार में औरत की क्या हस्ती है? वह तो पैर की जूती है, जूती क्या वह मानव ही नहीं, देह के अतिरिक्त उसकी कोई पूँजी नहीं है।''[4]

प्रत्येक जाति, धर्म, देश और संस्कृति में स्त्री को दबाया गया है, कुचला गया है। इसके लिये वह व्यवस्था दोषी जो पुरुषों द्वारा निर्मित है। पुरुष ने स्त्री को सदैव से गुलाम बनाकर रखा है। चित्रा मुद्गल इस संदर्भ में लिखती हैं– ''स्त्री ही क्या किसी भी व्यक्ति ाके आप एक कमरे में सालों–साल बन्द रखिये, मात्र उसे खाना–पीना देते रहिये। खुली हवा–पानी–प्रकृति से वंचित वह व्यक्ति एक सरोज निश्ति ही असंतुलित हो उठेगा..... उसकी संवेदना कुंद हो जायेगी, उसकी निर्णय क्षमता छिन जायेगी.... ... वह सिर्फ अपने बारे में सोचेगा। या उस कमरे में दाना–पानी पहुँचाने वाले के विषय में। उसकी पूरी दुनिया सिमटकर उस कमरे तक सीमित हो उठेगी। वही हाल स्त्री का हुआ है। उसे सदियों से एक कमरे में बंद रखा गया है। .....आप उससे कैसे उम्मीद कर सकते हैं कि वह अपनी दुनिया कमरे में हदें तोड़ वहाँ तक विस्तृत कर ले जहाँ तक पुरुषों के लिये वह उपलब्ध है।''[5] वर्तमान सामाजिक व्यवस्था और सोच ऐसी बन गई है, जिसमें स्त्री के बिना पुरुष की कल्पना तो की जा सकती है किन्तु पुरुष के बिना स्त्री की कदापि नहीं। जीवन और समाज में किसी भी तथ्य, वस्तु व विचार को स्पष्ट और स्वतंत्र रूप से देखना स्त्री का क्षेत्र नहीं है क्योंकि उसे प्रारंभ से ही पुरुषसत्ता के अधीन रखा गया है। स्त्री, जो कुछ भी है, जैसा कुछ भी है उसे समयानुसार सहज मानकर स्वीकार कर लेती है। ''त्याग और समर्पण स्त्री की चारित्रिक विशेषताएँ हैं। पोम्पेई के खण्डहरों में देखा गया है कि पुरुषों के मृत देहों के मुखों पर विद्रोह के भाव थे जबकि स्त्रियों के मुख पृथ्वी की ओर झुके हुये थे। पुरुष मानो अलौकिक शक्ति की भी अवहेलना करते प्रतीत होते थे या माँगने की चेष्टा में थे। स्त्री अपने को शक्तिहीन पाती है। ज्वालामुखी, पुलिस, पुरुष और संरक्षक सबके सम्मुख स्त्री लाचार होती है। उसका ख्याल रहता है कि वेदना सहने के लिये ही उसका जन्म होता है। पीड़ा उसका जीवन है।''[6] इस प्रकार के अनेक उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि स्त्री के प्रति पुरुष प्रधान संस्कारों की परस्पर विरोधी धारणाएँ उजागर होती हैं। स्त्री को देवी अथवा दासी, गृहिणी अथवा कुल्टा, सहचरी अथवा वेश्या इत्यादि रूप देकर पुरुष उसकी स्वतंत्रता का दमन करता रहा है। इस संदर्भ में अरविन्द जैन लिखते हैं– ''आदमी ने औरत की जिस एक चीज को मारा–कुचला या पालतू बनाया है वह है उसकी स्वतंत्रता। आदमी हमेशा से नारी की स्वतंत्र सत्ता से डरता रहा है और उसे ही बाकायदा अपने आक्रमण का केन्द्र बनाया है।''[7] वर्तमान समय की स्त्री जाति की स्थिति में पहले से बदलाव आया है। आज की स्त्री अपने अधिकारों की पहचान भी रही है और रूढ़िवादी परंपराओं से मुक्त भी हो रही है, किन्तु गंभीरता विचार किया जाये, देखा जाये तो ज्ञात होता है कि आज भी, अभी भी अधिकतर स्त्रियाँ अपने अधिकारों से बेखबर हैं। इस संदर्भ में आशारानी लि खते हैं– ''संविधान ने स्त्रियों को चाहे जितने ही अधिकार क्यों न दिये हों, वे इनका पूरा उपयोग नहीं कर पाती हैं। उनके वैधानिक अधिकारों और रूढ़िगत सामाजिक अधिकारों में जमीन–आसमान का अंतर है। घर–परिवार, रिश्तेदारी, धर्मपरंपरा के नाम पर स्त्रियों का दायरा सीमित किया जाता है, जिससे न तो वो अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर पाती हैं और न ही

समाज को अपना पूरा योगदान कर पाती हैं और इन सामाजिक बाधाओं को पार करने के लिये जो कानून हैं उनकी जानकारी तक अधिकांश स्त्रियों को नहीं है। यहाँ तक कि शहरी शिक्षित महिलाएँ भी प्रायः इनसे बेखबर हैं।''[8] रूढ़िवादी परंपराओं में जकड़ी हुई स्त्री को स्वयं आगे बढ़कर उसे तोड़ना होगा, और आज की स्त्री ऐसा कर भी रही है। वर्तमान समय में स्त्रियों का एक ऐसा वर्ग उभरकर सामने आ रहा है जो पुरुषों द्वारा अपने स्वार्थ में बनाये गये मूल्यों और आदर्शों को लाँघकर अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो रहा है। पुरुष और स्त्री की रचना प्रकृति ने एक–दूसरे के पूरक, सहायक, सहजीवी के रूप में भी है। अतः चाहे पुरुषवादी हों या स्त्रीवादी, इस तथ्य को सदैव याद रचना चाहिये।

नासिरा शर्मा वर्तमान दैर के हिन्दी साहित्य जगत की बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न एवं ज्वलंत हस्ताक्षर हैं। इन्होंने अपने अनुभव की लेखनी से ऐसी साहित्यिक रचनाओं का निर्माण किया है, जो हमें नई राह को दिखाती हैं। आपने हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओं में अपनी लेखनी का जादू बिखेरा है। आपकी लेखनी का आधार निडरता, इंसानियत, प्रेम, संवेदना और ईमानदारी का वह महान भाव है जो धरा को लाँघकर क्षितिज तक विस्तृत है। आपने अपनी लेखनी के माध्यम से एक ऐसे समाज की कल्पना की है, जिसमें मानवता, पूर्ण स्वतंत्रता आकांक्षा के साथ जी सके। आपका कथा साहित्य वर्तमान के गतिशील जीवन का लेखा–जोखा है। अपने समय और समाज के प्रति निरंतर विचारमान तथा उसके प्रति एक सजग रचनाकार के रूप में प्रतिक्रिया व्यक्त करने का बौद्धिक अंदाज नासिरा शर्मा के लेखन का केन्द्रीय पक्ष है। आपने अपनी रचनाओं में देखे हुये, भोगे हुये तथ्यों को, विचारों को और परंपराओं को व्यवस्थित करके उसे विविध घटनाओं, परिदृश्यों, जीवन स्थितियों तथा चरित्रों द्वारा प्रस्तुत किया है। इसी कारण आपके लेखन व रचनाओं की परिपाटी और स्वाद दूसरे अन्य साहित्यकारों से भिन्न व रचनाओं की परिपाटी और स्वाद दूसरे अन्य साहित्य से भिन्न और एक अलग पहचान रखता है। आपका कथा साहित्य स्व की आकाँक्षा और स्वतंत्र चुनाव का खतरा उठाकर समकालीन संदर्भों को बेनकाब करता हुआ सशक्त आईना है। नासिरा शर्मा एक महिला होने के कारण मात्र स्त्री मुक्ति या विमर्श की परिधि में नहीं बँधी हैं, अपितु संकीर्ण दायरों और सीमाओं का मर्दन करते हुये विश्वजनीन समस्याओं से निपटने का माद्दा रखती हैं। आपके कथा साहित्य में अतीत के गौरव के साथ–साथ वर्तमान का सही मार्गदर्शन और भविष्य को उज्ज्वल और सम्पन्न बनाने का प्रयास भी समाहित है। आपकी रचनाओं में आपका यह अदम्य और अटूट विश्वास भली–भाँति उद्घोषित होती है कि यदि मानव जाति मानवीय संवेदना को जीवित रखे, तो वह सभी प्रकार की परिस्थितियों में विजय प्राप्त कर सकता है। नासिरा शर्मा स्वयं स्त्री होने के कारण अपने कथा साहित्य के स्त्री पात्रों का मनोविश्लेषणात्मक विवेचन कर पाने में अधिक सफल रही हैं।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि एक अवधारणा के रूप में स्त्री मुक्ति या स्त्री विमर्श स्त्री जाति के विभिन्न पहलुओं को समझने की क्रिया में प्रयासरत एक गतिशील और निरंतर परिवर्तनशील आंदोलन है। स्त्री मुक्ति के समर्थक तमाम बातों में भिन्न मत रखते हुये भी, इस तथ्य पर एकमत हैं कि स्त्री–पुरुष के वर्तमान संबंधों को बदला जाना चाहिये और समाज में दोनों को एकसमान स्वतंत्रता और समानता का अधिकार मिलना चाहिये।

संदर्भ ग्रन्थ :

1. प्रभा खेतान, स्त्री उपेक्षिता, पृ0 21
2. The Ethics of Feminism, पृ0 58
3. वही, पृ0 61
4. प्रभा खेतान, स्त्री उपेक्षिता, पृ0 19
5. चित्रा मुद्गल, एक जमीन अपनी, पृ0 102
6. प्रभा खेतान, स्त्री उपेक्षिता, पृ0 277
7. अरविन्द जैन, औरत होने की सजा, पृ0 9
8. आशारानी व्होरा, भारतीय नारी दशा–दिशा, पृ0 126